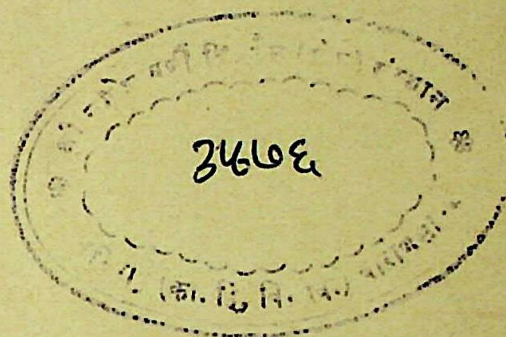
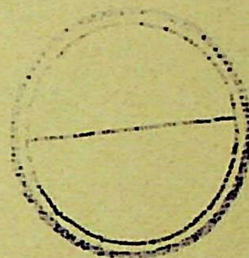


क (मुनि)
ागदशाओ

25/-





ॐ अर्हं

जिनागम ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक—३

[परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्रीजोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

पंचम गणधर भगवत्सुधर्म-स्वामि-प्रणीत सप्तम अंग

उपासकदशांग सूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]

सन्निधि ☐

उपप्रवर्त्तक शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज

संयोजक तथा प्रधान सम्पादक ☐

युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक—विवेचक—सम्पादक ☐

डॉ. छगनलाल शास्त्री, एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत जैनोलोजी)

पी-एच. डी. काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि,

प्रकाशक ☐

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्रीकन्हैयालालजी 'कमल'
श्रीदेवेन्द्र मुनि शास्त्री
श्रीरतन मुनि
पण्डित श्रीशोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्रीमहेन्द्र मुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वीर निर्वाणसंवत् २५०७, वि. सं. २०३७, ई. सन् १९८०

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति,
जैन स्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

☐ मुद्रक
वैदिक यन्त्रालय,
केसरगंज, अजमेर

☐ मूल्य २५) रु.

Published at the Holy Remembrance Occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

Fifth Ganadhara Sudharma Swami Compiled Seventh Anga

UPASAKADASANGA SUTRA

[Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendics etc.]

Proximity ☐
Up-Pravartaka Shasansevi Rev. Swami Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor ☐
Yuvacharya Shri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Editor & Annotator ☐
Dr. Chhaganlal Shastri, M. A. Ph. D.

Publishers ☐
Shri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj)

☐ **Jinagam Granthmala : Publication No. 3**

☐ **Board of Editors**

Anuyoga-Pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'

Shri Devendra Muni Shastri

Shri Ratan Muni

Pt. Shobhachandra Bharilla

☐ **Managing Editor**

Shrichand Surana 'Saras'

☐ **Promoter**

Munishri Vinayakumar 'Bhima'
Shri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ **Publishers**

Shri Agam Prakashan Samiti,
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305901

☐ **Printers**

Vedic Yantralaya,
Kesarganj, Ajmer

☐ Price 20 Rs.

समर्पण

जिनका हृदय अलौकिक माधुर्य से आप्लावित है, जिनकी वाणी में
अद्‌भुत ओज है, जिनकी कर्तृत्व-क्षमता अनूठी है,
उन्हीं
श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के आधारस्तम्भ
श्रमणसूर्य कविवर्य महास्थविर मरुधरकेसरी प्रवर्त्तकवर्य
मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज
के कर-कमलों में
सादर, सविनय और सभक्ति

☐ मधुकर मुनि



प्रकाशकीय

भगवान् श्री महावीर की २५ वीं निर्वाण-शताब्दी के पावन प्रसंग पर साहित्य प्रकाशन को एक नई उत्साहपूर्ण लहर उठी थी। उस समय जैनधर्म, जैनदर्शन और भगवान् महावीर के लोकोत्तर जीवन और उनकी कल्याणकारिणी शिक्षाओं से सम्बन्धित विपुल साहित्य का सृजन हुआ। मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन ब्यावर की ओर से भी 'तीर्थंकर महावीर' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया। इसी प्रसंग पर विद्वद्रत्न श्रद्धेय मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' के मन में एक उदात्त भावना जागृत हुई कि भगवान् महावीर से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन हो रहा है, यह तो ठीक है, किन्तु उनकी मूल एवं पवित्र वाणी जिन आगमों में सुरक्षित है, उन आगमों को सर्व साधारण को क्यों न सुलभ कराया जाय, जो सम्पूर्ण बत्तीसी के रूप में और कहीं उपलब्ध नहीं है। भगवान् महावीर की असली महिमा तो उस परम-पावन सुधामयी वाणी में ही निहित है। मुनिश्री की यह भावना वैसे तो चिरसंचित थी परन्तु उस वातावरण ने उसे अधिक प्रवल वना दिया।

मुनिश्री ने कुछ वरिष्ठ आगमप्रेमी श्रावकों तथा विद्वानों के समक्ष अपनी भावना प्रस्तुत की। धीरे-धीरे आगमबत्तीसी के सम्पादन प्रकाशन की चर्चा बल पकड़ती गई। भला कौन ऐसा विवेकशील व्यक्ति होगा, जो इस पवित्रतम कार्य की सराहना और अनुमोदना न करता? श्रमण भगवान् महावीर के साथ आज हमारा जो सम्पर्क है, वह उनकी जगत्-पावन वाणी के ही माध्यम से है। भगवान् की देशना के सम्बन्ध में कहा गया है :—**'सव्व-जग-जीव-रक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।'** अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियों की रक्षा और दया के लिए ही भगवान् की धर्मदेशना प्रस्फुटित हुई थी। अतएव भगवत्-वाणी का प्रचार और प्रसार करना प्राणिमात्र की रक्षा एवं दया का ही कार्य है। इससे अधिक श्रेष्ठ विश्वकल्याण का अन्य कोई कार्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार आगम प्रकाशन के विचार को सभी ओर से पर्याप्त समर्थन मिला। तब मुनिश्री के वि. सं. २०३५ के ब्यावर चातुर्मास में समाज के अग्रगण्य श्रावकों एवं विद्वानों की एक बैठक आयोजित की गई और प्रकाशन की रूप-रेखा पर विचार किया गया। सुदीर्घ चिन्तन-मनन के पश्चात् वैशाख शुक्ला १० को, जो भगवान् महावीर के केवलज्ञान-कल्याणक का शुभ दिन था, आगम बत्तीसी के प्रकाशन की घोषणा कर दी गई और शीघ्र ही कार्य प्रारम्भ कर दिया गया।

हमें प्रसन्नता है कि श्रद्धेय मुनिश्री की भावना और आगम प्रकाशन समिति के निश्चयानुसार हमारे मुख्य सहयोगी श्रीयुत श्रीचन्द्रजी सुराणा 'सरस' ने प्रबन्ध-सम्पादक का दायित्व स्वीकार किया और आचारांग के सम्पादन का कार्य प्रारंभ किया। साथ ही अन्य विद्वानों ने भी विभिन्न आगमों के सम्पादन का दायित्व स्वीकार किया और कार्य चालू है।

तब तक प्रसिद्ध विद्वान् एवं आगमों के गम्भीर अध्येता पंडित श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल भी बम्बई से ब्यावर आ गये और उनका मार्गदर्शन एवं सहयोग भी हमें प्राप्त हो गया। आपके बहुमूल्य सहयोग से हमारा कार्य अति सुगम हो गया और भार हल्का हो गया।

हमें अत्यधिक प्रसन्नता और सात्त्विक गौरव का अनुभव हो रहा है कि एक ही वर्ष के अल्प समय में हम अपनी इस ऐतिहासिक अष्टवर्षीय योजना को मूर्त्त रूप देने में सफल हो सके।

कुछ सज्जनों का सुझाव था कि सर्वप्रथम दशवैकालिक, नन्दीसूत्र आदि का प्रकाशन किया जाय किन्तु श्रद्धेय मुनिश्री मधुकरजी महाराज का विचार प्रथम अंग आचारांग से ही प्रारंभ करने का था क्योंकि आचारांग समस्त अंगों का सार है।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि आरम्भ में आचारांग आदि के क्रम से ही आगमों को प्रकाशित करने का विचार किया गया था, किन्तु अनुभव से इसमें एक बड़ी अड़चन जान पड़ी। वह यह कि भगवती जैसे विशाल आगमों के सम्पादन-प्रकाशन में बहुत समय लगेगा और तब तक अन्य आगमों के प्रकाशन को रोक रखने से सब आगमों के प्रकाशन में अत्यधिक समय लग जाएगा। हम चाहते हैं कि यथासम्भव शीघ्र यह शुभ कार्य सम्पन्न हो जाए तो अच्छा। अतः अब यही निर्णय रहा कि आचारांग के पश्चात् जो-जो आगम तैयार होते जाएँ उन्हें ही प्रकाशित कर दिया जाए।

नवम्बर, १९७९ में महामन्दिर (जोधपुर) में आगम समिति का तथा विद्वानों का सम्मिलित अधिवेशन हुआ था। उसमें सभी सदस्यों ने यह भावना व्यक्त की कि श्रद्धेय मुनिश्री मधुकर जी महाराज के युवाचार्यपद चादर प्रदान समारोह के शुभ अवसर पर आचारांग सूत्र का विमोचन भी हो सके तो अधिक उत्तम हो। तदनुसार समिति के पदाधिकारियों ने चादर-समर्पण-समारोह के प्रसंग पर आचारांग और उपासकदशांग सूत्र, जिनका सम्बन्ध क्रमशः साधु-आचार और श्रावकाचार के साथ है, प्रकाशित कर देने का प्रयास किया, किन्तु समय की कमी और विद्युत सम्बन्धी देशव्यापी संकट के कारण यह सम्भव न हो सका, फिर भी आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) किसी प्रकार छप सका, जिसका विमोचन राजस्थान के महामहिम राज्यपाल श्री रघुकुल तिलक ने किया।

उस समय तक उपासकदशांग का सम्पादन-अनुवाद-विवेचन हो चुका था और यह प्रेस में था। प्रसन्नता का विषय है कि अब यह आगम भी प्रकाश में आरहा है। इस आगम का सम्पादन-अनुवाद राजस्थान के विख्यात विद्वान् डॉ. छगनलाल जी शास्त्री, एम. ए. पी-एच. डी. ने किया है। शास्त्री जी पिछले तीस वर्षों से प्राकृत एवं जैनोलोजी के क्षेत्र में अनुशीलन, अनुसंधान में निरत हैं, लगभग बारह वर्ष वैशाली में प्राकृत जैन रिसर्च इंस्टीटच्यूट में अध्ययन, अनुसंधान तथा अध्यापन आदि के सन्दर्भ में रहे हैं। आपने अभी पातञ्जल योग तथा जैन योग पर तुलनात्मक दृष्टि से लगभग पांच सौ पृष्ठों का एक बृहत् ग्रंथ लिखा है।

आचारांग (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) का मुद्रण आगरा में प्रारम्भ हो चुका है।

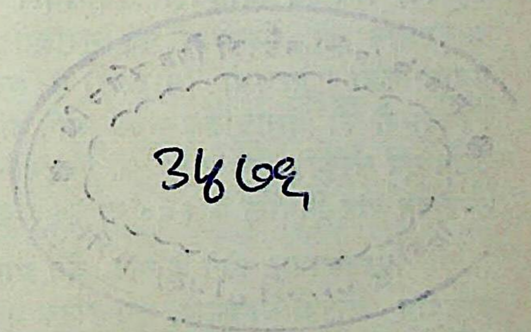
वर्त्तमान परिस्थिति के अनुसार समग्र बत्तीसी का लागत मूल्य लगभग १५००) रु. पड़ेगा, किन्तु अग्रिम ग्राहकों को १०००) रु. में तथा संस्थाओं को केवल ७००) रु. में ही देने का निर्णय किया गया है। आशा है आगमप्रेमी पाठक इसका पूर्ण लाभ उठाएँगे।

अन्त में सर्वप्रथम हम श्रमणसंघ के युवाचार्य, सर्वतोभद्र श्री मधुकर मुनिजी महाराज के प्रति अतीव आभारी हैं जिनकी शासनप्रभावना की उत्कट भावना, आगमों के प्रति उद्दाम भक्ति, धर्मज्ञान के प्रचार-प्रसार के प्रति तीव्र उत्कंठा और साहित्य के प्रति अप्रतिम अनुराग की बदौलत हमें भी वीतराग वाणी की किंचित् सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हो सका।

सेवा के इस सात्विक अनुष्ठान में अपने सहयोगियों के भी हम कृतज्ञ हैं। सागरवर गम्भीर श्रावकवर्य पद्मश्री सेठ मोहनमल जी सा. चोरड़िया ने समिति की अध्यक्षता स्वीकार कर और एक बड़ी धनराशि प्रदान कर हमें उत्साहित किया। अर्थसंग्रह में हमारे साथ श्री कंवरलाल जी बेताला, श्री मूलचन्द जी सुराणा ने परिभ्रमण किया। जोधपुर चातुर्मास में श्री दौलतराम जी पारख तथा जोधपुर श्रीसंघ ने अर्थसंग्रह में पूरा योगदान दिया। इन सब उत्साही सहयोगियों का हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। श्री रतनचन्द जी मोदी, कोषाध्यक्ष समिति तथा स्थानीय मंत्री श्री चांदमल जी विनायकिया से समिति के कार्यों में सदा सहयोग प्राप्त होता रहता है। समिति-कार्यालय की व्यवस्था श्री सुजानमल जी सेठिया आत्मीयता की भावना से कर रहे हैं। इन तथा अन्य सहयोगियों का भी हार्दिक आभार मानना हमारा कर्त्तव्य है।

पुखराज शोशोदिया
कार्यवाहक अध्यक्ष

जतनराज मेहता
महामंत्री



आमुख

जैन, धर्म, दर्शन व संस्कृति का मूल आधार वीतराग सर्वज्ञ की वाणी है। सर्वज्ञ-अर्थात् आत्मद्रष्टा। सम्पूर्ण रूप से आत्मदर्शन करने वाले ही विश्व का समग्र दर्शन कर सकते हैं। जो समग्र को जानते हैं, वे ही तत्वज्ञान का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं। परमहितकारी निःश्रेयस् का यथार्थ उपदेश कर सकते हैं।

सर्वज्ञों द्वारा कथित तत्वज्ञान, आत्मज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध-'आगम', शास्त्र या सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

तीर्थंकरों की वाणी मुक्त सुमनों की वृष्टि के समान होती है, महान् प्रज्ञावान् गणधर उसे सूत्र रूप में ग्रथित करके व्यवस्थित 'आगम' का रूप देते हैं।[1]

आज जिसे हम 'आगम' नाम से अभिहित करते हैं, प्राचीन समय में वे 'गणिपिटक' कहलाते थे। 'गणिपिटक' में समग्र द्वादशांगी का समावेश हो जाता है। पश्चाद्वर्ती काल में इसके अंग, उपांग आदि अनेक भेद किये गये।

जब लिखने की परम्परा नहीं थी, तब आगमों को स्मृति के आधार पर गुरु परम्परा से सुरक्षित रखा जाता था। भगवान् महावीर के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक 'आगम' स्मृति-परम्परा पर ही चले आये थे। स्मृति-दुर्बलता, गुरु-परम्परा का विच्छेद तथा अन्य अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान भी लुप्त होता गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र ही रह गया था। तब देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने श्रमणों का सम्मेलन बुलाकर, स्मृति-दोष से लुप्त होते आगमज्ञान को, जिनवाणी को सुरक्षित रखने के पवित्र-उद्देश्य से लिपिबद्ध करने का ऐतिहासिक प्रयास किया। वल्लभी (सौराष्ट्र) में आचार्य देवर्द्धिगणी ने तथा मथुरा में आचार्य नागार्जुन ने जिनवाणी को पुस्तकारूढ़ करके आने वाली पीढ़ी पर अवर्णनीय उपकार किया तथा जैन धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की धारा को प्रवहमान रखने का अद्भुत कार्य किया। आगमों का यह प्रथम सम्पादन वीर-निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् सम्पन्न हुआ।

पुस्तकारूढ़ होने के बाद जैन आगमों का स्वरूप मूल रूप में तो सुरक्षित हो गया, किन्तु कालदोष बाहरी आक्रमण, आन्तरिक मतभेद, विग्रह, स्मृति-दुर्बलता एवं प्रमाद आदि कारणों से आगम-ज्ञान की शुद्ध धारा, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा, धीरे-धीरे क्षीण होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्वपूर्ण सन्दर्भ, पद तथा गूढ़ अर्थ छिन्नविच्छिन्न होते चले गए। जो आगम लिखे जाते थे, वे भी पूर्ण शुद्ध नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही रहे। अन्य भी अनेक कारणों से आगम-ज्ञान की धारा संकुचित होती गयी।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लौंकाशाह ने एक क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थ-ज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद पुनः उसमें भी व्यवधान आ गए। साम्प्रदायिक द्वेष सैद्धान्तिक विग्रह तथा लिपिकारों का अज्ञान-आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध में बहुत बड़ा विघ्न बन गए।

१. 'अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो पाठकों को कुछ सुविधा हुयी। आगमों की प्राचीन टीकाएं, चूर्णि व निर्युक्ति जब प्रकाशित होकर तथा उनके आधार पर आगमों का सरल व स्पष्ट भावबोध मुद्रित होकर पाठकों को सुलभ हुआ तो आगम-ज्ञान का पठन-पाठन स्वभावतः बढ़ा, सैंकड़ों जिज्ञासुओं में आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति जगी व जैनेतर देशी-विदेशी विद्वान् भी आगमों का अनुशीलन करने लगे।

आगमों के प्रकाशन-सम्पादन-मुद्रण के कार्य में जिन विद्वानों तथा मनीषी श्रमणों ने ऐतिहासिक कार्य किया, पर्याप्त सामग्री के अभाव में आज उन सबका नामोल्लेख कर पाना कठिन है। फिर भी मैं स्थानकवासी परम्परा के महान् मुनियों का नाम-ग्रहण अवश्य ही करूंगा।

पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज स्थानकवासी परम्परा के वे महान् साहसी व दृढ़ संकल्पबली मुनि थे, जिन्होंने अल्प साधनों के बल पर भी पूरे बत्तीस सूत्रों को हिन्दी में अनूदित करके जन-जन को सुलभ बना दिया। पूरी बत्तीसी का सम्पादन-प्रकाशन एक ऐतिहासिक कार्य था, जिससे सम्पूर्ण स्थानकवासी-तेरापंथी समाज उपकृत हुआ।

गुरुदेव पूज्य स्वामी जी श्री जोरावरमलजी महाराज का एक संकल्प

मैं जब गुरुदेव स्व० स्वामी श्री जोरावरमल जी महाराज के तत्वावधान में आगमों का अध्ययन कर रहा था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर गुरुदेव मुझे अध्ययन कराते थे। उनको देखकर गुरुदेव को लगता था कि यह संस्करण यद्यपि काफी श्रमसाध्य है, एवं अब तक के उपलब्ध संस्करणों में काफी शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूल पाठ में व उसकी वृत्ति में कहीं-कहीं अन्तर भी है।

गुरुदेव स्वामी श्री जोरावरमल जी महाराज स्वयं जैन सूत्रों के प्रकांड पण्डित थे। उनकी मेधा बड़ी व्युत्पन्न व तर्कणाप्रधान थी। आगम-साहित्य की यह स्थिति देखकर उन्हें बहुत पीड़ा होती और कई बार उन्होंने व्यक्त भी किया कि आगमों का शुद्ध, सुन्दर व सर्वोपयोगी प्रकाशन हो तो बहुत लोगों का भला होगा। कुछ परिस्थितियों के कारण उनका संकल्प, मात्र भावना तक सीमित रहा।

इस बीच आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज आदि विद्वान् मुनियों ने आगमों की सुन्दर व्याख्याएं व टीकाएं लिखकर अथवा अपने तत्वावधान में लिखवाकर इस कमी को पूरा किया है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी ने भी यह भगीरथ प्रयत्न प्रारम्भ किया है और अच्छे स्तर से उनका आगम-कार्य चल रहा है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करने का मौलिक एवं महत्वपूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के विद्वान् श्रमण स्व. मुनि श्रीपुण्यविजयजी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत ही व्यवस्थित व उत्तम कोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। उनके स्वर्गवास के पश्चात् मुनि जम्बूविजयजी के तत्वावधान में यह सुन्दर प्रयत्न चल रहा है।

उक्त सभी कार्यों पर विहंगम अवलोकन करने के बाद मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज कहीं तो आगमों का मूल मात्र प्रकाशित हो रहा है और कहीं आगमों की विशाल व्याख्याएं की जा रही हैं। एक, पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। मध्यम मार्ग का अनुसरण कर आगम-वाणी का भावोद्घाटन करने वाला ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जो सुबोध भी हो, सरल भी हो, संक्षिप्त हो, पर सारपूर्ण व सुगम हो। गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। उसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ४-५ वर्ष पूर्व इस विषय में चिन्तन प्रारम्भ किया था। सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् गतवर्ष[1] दृढ़ निर्णय करके आगम-बत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ कर दिया और अब पाठकों के हाथों में आगम ग्रन्थ, क्रमशः पहुंच रहे हैं, इसकी मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है।

आगम-सम्पादन का यह ऐतिहासिक कार्य पूज्य गुरुदेव की पुण्य स्मृति में आयोजित किया गया है। आज उनका पुण्य स्मरण मेरे मन को उल्लसित कर रहा है। साथ ही मेरे वन्दनीय गुरु-भ्राता पूज्य स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज की प्रेरणाएं, उनकी आगम-भक्ति तथा आगम सम्बन्धी तलस्पर्शी ज्ञान मेरा सम्बल बना है। अतः मैं उन दोनों स्वर्गीय आत्माओं की पुण्य स्मृति में विभोर हूं।

शासनसेवी स्वामी जी श्री व्रजलाल जी महाराज का मार्गदर्शन, उत्साह-संवर्द्धन, सेवा-भावी शिष्य मुनि विनयकुमार व महेन्द्र मुनि का साहचर्य-बल, सेवा-सहयोग तथा विदुषी साध्वी श्री उमराव कुंवर जी 'अर्चना' की विनम्र प्रेरणाएं मुझे सदा प्रोत्साहित तथा कार्यनिष्ठ बनाए रखने में सहायक रही हैं।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि आगम-वाणी के सम्पादन का यह सुदीर्घ प्रयत्नसाध्य कार्य सम्पन्न करने में मुझे सभी सहयोगियों, श्रावकों, व विद्वानों का पूर्ण सहकार मिलता रहेगा और मैं अपने लक्ष्य तक पहुंचने में गतिशील बना रहूंगा।

इसी आशा के साथ—

—मुनि मिश्रीमल 'मधुकर'

---

१. वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला १० महावीर कैवल्यदिवस

श्रीमान् सेठ पुखराज जी शीशोदिया

(जीवन-रेखा)

सेठ पुखराजजी सा. शीशोदिया के व्यक्तित्व में अनूठापन है। उनकी दृष्टि इतनी पैनी और व्यापक है कि वे अपने आसपास के समाज के एक प्रकार से संचालक और परामर्शदाता होकर रहते हैं। संभवत: उन्हें जितनी चिन्ता अपने गार्हस्थिक कार्यों की रहती है उतनी ही दूसरे के कार्यों की भी। श्री शीशोदियाजी के जीवन को देखकर सहसा ही प्राचीन काल के उन श्रावकों की सार्वजनिकता का स्मरण हो आता है जिनसे समाज का हरव्यक्ति सलाह व संरक्षण पाता था।

शीशोदिया जी का जन्म स० १९६८ में मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के दिन ब्यावर में हुआ। पिताजी का नाम श्री हीरालालजी था। आपके पिताजी की आर्थिक स्थिति साधारण थी। शिक्षा भी वाणिज्य क्षेत्र तक सीमित थी। उन दिनों शिक्षा के आज की तरह प्रचुर साधन भी उपलब्ध नहीं थे। पिताजी आपके बाल्यकाल में ही स्वर्गवासी हो गये। इन सब कारणों से शीशोदिया जी को उच्चशिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सका। किन्तु शिक्षा का फल जिस योग्यता को प्राप्त करना है, और जिन शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियों का विकास करना है, वह योग्यता और वे शक्तियां उन्हें प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं। उनमें जन्मजात प्रतिभा है। उनकी प्रतिभा की परिधि बहुत विस्तृत है। व्यापारिक क्षेत्र में तथा अन्य सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में आपको जो सफलता प्राप्त हुई है उसमें आपके व्यक्तित्व की अन्यान्य विशिष्टताओं के साथ आपकी प्रतिभा का वैशिष्ट्य भी कारण है।

जिसकी आर्थिक स्थिति सामान्य हो और बाल्यावस्था में ही जो पिता के संरक्षण से वंचित हो जाय, उसकी स्थिति कितनी दयनीय हो सकती है, यह कल्पना करना कठिन नहीं है। किन्तु ऐसे विरल नरपुंगव भी देखे जाते हैं जो बिना किसी के सहारे, बिना किसी के सहयोग और बिना किसी की सहायता के केवल मात्र अपने ही व्यक्तित्व के बल पर अपने पुरुषार्थ और पराक्रम से और अपने ही बुद्धिकौशल से जीवन विकास के पथ में आने वाली समस्त बाधाओं को कुचलते हुए आगे से आगे ही बढ़ते जाते हैं और सफलता के शिखर पर जा पहुंचते हैं।

आपके पिताजी का स्वर्गवास संवत् १९८० में हुआ। उस वक्त आपके परिवार में दादीजी, माताजी व बहिन थी। पिताजी के स्वर्गवास के पश्चात् शीशोदियाजी के लिये सभी दिशाएं अन्धकार से व्याप्त हो गईं। मगर लाचारी, विवशता, दीनता, और हीनता की भावना उनके निकट भी नहीं फटक सकी। यही नहीं परिस्थितियों की प्रतिकूलता ने आपके साहस, संकल्प और मनोबल को अधिक सुदृढ़ किया और आप कर्मभूमि के क्षेत्र में उतर पड़े। मात्र बारह वर्ष की उम्र में आपने २००) दो सौ रुपया ऋण लेकर साधारण व्यवसाय प्रारंभ किया। स्वल्प-सी पूंजी और वह भी पराई, कितनी लगन और कितनी सावधानी उसे बढ़ाने के लिये बरतनी पड़ी होगी और कितना श्रम करना पड़ा होगा, यह अनुमान करना भी कठिन है। मगर प्रबल इच्छाशक्ति और पुरुषार्थ के सामने सारी प्रतिकूलताएं समाप्त हो जाती हैं और सफलता का सिंहद्वार खुल जाता है इस सत्य के प्रत्यक्ष उदाहरण शीशोदियाजी हैं।

आज शीशोदियाजी बड़े लक्षाधीश हैं और नगर के गण्यमान्य व्यक्तियों में है। ब्यावर नगर आपके व्यवसाय का मुख्य केन्द्र है। ब्यावर के अलग-अलग बजारों में तीन दुकानें हैं। एक दूकान अजमेर में है। किशनगढ़-मदनगंज, विजयनगर और सोजत रोड में भी आपकी दुकानें रह चुकी हैं। प्रमुख रूप से आप आढ़त का ही धंधा करते हैं। आपका व्यापारिक क्षेत्र अधिकांश भारतवर्ष है।

आपके चार पुत्र हैं—श्री भंवरलालजी, श्री जंवरीलालजी, श्री माणकचंदजी और श्री मोतीलालजी। इन चार पुत्रों में से एक अध्ययन कर रहा है और तीन व्यापार कार्य में हाथ बंटा रहे हैं।

शीशोदियाजी का व्यापारिक कार्य इतना सुव्यवस्थित और सुचारु रहता है कि आपकी दूकान पर काम करने वाले भागीदारों तथा मुनीमों की भी नगर में कीमत बढ़ जाती है। आपके यहां कार्य करना व्यक्ति की एक बड़ी योग्यता (qualification) समझी जाती है। आपकी फर्मों से जो भी पार्टनर या मुनीम अलग हुए हैं वे आज बड़ी शान व योग्यता से अपना अच्छा व्यवसाय चला रहे हैं। उनने भी व्यवसाय में नाम कमाया है। ऐसी स्थिति में आपके सुपुत्र भी यदि व्यापारनिष्णात हों तो यह स्वाभाविक ही है। उन्होंने आपका बहुत सा उत्तरदायित्व संभाल लिया है। इसी कारण आपको सार्वजनिक, धार्मिक, एवं सामाजिक कार्यों के लिये अवकाश मिल जाता है।

नगर की अनेक संस्थाओं से आप जुड़े हुए हैं। किसी के अध्यक्ष, किसी के कार्याध्यक्ष, किसी के उपाध्यक्ष, किसी के मंत्री, किसी के कोषाध्यक्ष, किसी के सलाहकार व सदस्य आदि पदों पर रह कर सेवा कर रहे हैं तथा अनेकों संस्थाओं की सेवा की है। मगर विशेषता यह है कि जिस संस्था का कार्यभार आप संभालते हैं उसे पूरी रुचि और लगन के साथ सम्पन्न करते हैं। श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति, मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, आगम प्रकाशन समिति, श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन वीर संघ के तो आप प्रमुख आधार हैं। नगर की अन्य, गौशाला, चेम्बर सर्राफान आदि २ संस्थाओं को भी पूरा योगदान दे रहे हैं।

इस प्रकार शीशोदियाजी पूर्णरूप से आत्मनिर्मित एवं आत्मप्रतिष्ठित सज्जन हैं। अपनी ही योग्यता और अध्यवसाय के बल पर आपने लाखों की सम्पत्ति उपार्जित की है। मगर सम्पत्ति उपार्जित करके ही आपने सन्तोष नहीं माना, वरन उसका सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में सदुपयोग भी कर रहे हैं। एक लाख रुपयों से आपने एक पारमार्थिक ट्रस्ट की स्थापना की है। इसके अतिरिक्त आपके पास से कभी कोई भी खाली हाथ नहीं जाता। कई संस्थाओं की अच्छी खासी सहायता की है। आगम प्रकाशन समिति के आप महास्तम्भ हैं और कार्यवाहक अध्यक्ष की हैसियत से आपही उसका संचालन कर रहे हैं।

प्रस्तुत 'उपासकदशांग' सूत्र के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्ययभार समिति के कार्यवाहक अध्यक्ष श्री शीशोदिया जी ने ही वहन करके महत्त्वपूर्ण योग दिया है। समिति इस उदार सहयोग के लिये आपकी ऋणी है।

जतनराज महता महामंत्री,
ज्ञानराज मूथा मंत्री,
चांदमल विनायकिया मंत्री,
आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

प्रस्तावना

धर्म का मुख्य आधार

किसी भी धर्म के चिर जीवन का मूल आधार उसका वाङ्मय है। वाङ्मय में वे सिद्धान्त सुरक्षित होते हैं, जिन पर धर्म का प्रासाद अवस्थित रहता है। शाखा-प्रशाखाओं की बात को छोड़ दें, भारतीय धर्मों में वैदिक, बौद्ध और जैन मुख्य हैं। वैदिक धर्म का मूल साहित्य वेद है, बौद्ध धर्म का पिटक हैं, उसी प्रकार जैन धर्म का मूल साहित्य आगमों के रूप में उपलब्ध है।

आगम

आगम विशिष्ट ज्ञान के सूचक हैं, जो प्रत्यक्ष या तत्सदृश बोध से जुड़ा है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है—आवरक हेतुओं या कर्मों के अपगम से जिनका ज्ञान सर्वथा निर्मल एवं शुद्ध हो गया, अविसंवादी हो गया, ऐसे आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का संकलन आगम हैं।[1]

आगमों के रूप में जो प्रमुख साहित्य हमें आज प्राप्त है, वह अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा भाषित और उनके प्रमुख शिष्यों—गणधरों द्वारा संग्रथित है।

आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है—"अर्हंत् अर्थ भाषित करते हैं। गणधर धर्मशासन या धर्मसंघ के हितार्थ निपुणतापूर्वक सूत्ररूप में उसका ग्रथन करते हैं। यों सूत्र का प्रवर्तन होता है।"[2]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् महावीर ने जो भाव अपनी देशना में व्यक्त किये, वे गणधरों द्वारा शब्दबद्ध किये गये।

आगमों की भाषा

वेदों की भाषा प्राचीन संस्कृत है, जिसे छन्दस् या वैदिकी कहा जाता है। बौद्धपिटक पालि में हैं, जो मागधी प्राकृत पर आधृत है। जैन आगमों की भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत है। अर्हंत् इसी में अपनी धर्मदेशना देते हैं।

समवायांग सूत्र में लिखा है:—

"भगवान् अर्द्धमागधी भाषा में धर्म का आख्यान करते हैं। भगवान् द्वारा भाषित अर्द्धमागधी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, सरीमृप—रेंगने वाले जीव आदि सभी की भाषा

---

१. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः।
उपचारादाप्तवचनं च ॥ —प्रमाणनयतत्त्वालोक ४. १, २।

२. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तेइ ॥ —आवश्यक निर्युक्ति ९२।

में परिणत हो जाती है; उनके लिए हितकर, कल्याणकर तथा सुखकर होती है।"[१]

आचारांगचूर्णि में भी इसी आशय का उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि स्त्री, बालक, वृद्ध, अनपढ़—सभी पर कृपा कर सब प्राणियों के प्रति समदर्शी महापुरुषों ने अर्द्धमागधी भाषा में सिद्धान्तों का उपदेश किया।

अर्द्धमागधी प्राकृत का एक भेद है। दशवैकालिक वृत्ति में भगवान् के उपदेश का प्राकृत में होने का उल्लेख करते हुए पूर्वोक्त जैसा ही भाव व्यक्त किया गया है :—

"चारित्र की कामना करने वाले बालक, स्त्री, वृद्ध, मूर्ख—अनपढ़—सभी लोगों पर अनुग्रह करने के लिए तत्त्वद्रष्टाओं ने सिद्धान्त की रचना प्राकृत में की।"[२]

अर्द्धमागधी

भगवान् महावीर का युग एक ऐसा समय था, जब धार्मिक जगत् में अनेक प्रकार के आग्रह बद्धमूल थे। उनमें भाषा का आग्रह भी एक था। संकृत धर्म-निरूपण की भाषा मानी जाती थी। संस्कृत का जन-साधारण में प्रचलन नहीं था। सामान्य जन उसे समझ नहीं सकते थे। साधारण जनता में उस समय बोलचाल में प्राकृतों का प्रचलन था। देश-भेद से उनके कई प्रकार थे, जिनमें मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची, तथा महाराष्ट्री प्रमुख थीं। पूर्व भारत में अर्द्धमागधी और मागधी तथा पश्चिम में शौरसेनी का प्रचलन था। उत्तर-पश्चिम पैशाची का क्षेत्र था। मध्य देश में महाराष्ट्री का प्रयोग होता था। शौरसेनी और मागधी के बीच के क्षेत्र में अर्द्धमागधी का प्रचलन था। यों अर्द्धमागधी मागधी और शौरसेनी के बीच की भाषा सिद्ध होती है। अर्थात् इसका कुछ रूप मागधी जैसा और कुछ शौरसेनी जैसा है, अर्द्धमागधी—आधी मागधी ऐसा नाम पड़ने में संभवतः यही कारण रहा हो।

मागधी के तीन मुख्य लक्षण हैं। वहाँ श, ष, स—तीनों के लिए केवल तालव्य श का प्रयोग होता है। र के स्थान पर ल आता है। अकारान्त संज्ञाओं में प्रथमा एक वचन में ए विभक्ति का उपयोग होता है। अर्द्धमागधी में इन तीन में लगभग आधे लक्षण मिलते हैं। तालव्य श का वहाँ बिलकुल प्रयोग नहीं होता। अकारान्त संज्ञाओं में प्रथमा एक वचन में ए का प्रयोग अधिकांश होता है। र के स्थान पर ल का प्रयोग कहीं-कहीं होता है।

अर्द्धमागधी की विभक्ति-रचना में एक विशेषता और है, वहां सप्तमी विभक्ति में ए और म्मि के साथ-साथ अंसि प्रत्यय का भी प्रयोग होता है, जैसे-नयरे नयरम्मि, नयरंसि।

नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि ने औपपातिक सूत्र में जहां भगवान् महावीर की देशना के वर्णन के प्रसंग में अर्द्धमागधी भाषा का उल्लेख हुआ है, वहाँ अर्द्धमागधी को ऐसी भाषा

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि-सरीसिवाणं अप्पणो हिय-सिव-सुहयभासत्ताए परिणमई।

—समवायांग सूत्र ३४. २२, २३।

२. बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥

—दशवैकालिक वृत्ति पृष्ठ २२३।

के रूप में व्याख्यात किया है, जिसमें मागधी में प्रयुक्त होने वाले ल और श का कहीं-कहीं प्रयोग तथा प्राकृत का अधिकांशतः प्रयोग होता था।[१]

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र की टीका में भी उन्होंने इसी प्रकार उल्लेख किया है कि अर्द्धमागधी में कुछ मागधी के तथा कुछ प्राकृत के लक्षण पाये जाते हैं।

आचार्य अभयदेव ने प्राकृत का यहां संभवतः शौरसेनी के लिए प्रयोग किया है। उनके समय में शौरसेनी प्राकृत का अधिक प्रचलन रहा हो।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृतव्याकरण में अर्द्धमागधी को आर्ष (ऋषियों की भाषा) कहा है। उन्होंने लिखा है कि आर्ष भाषा पर व्याकरण के सब नियम लागू नहीं होते क्योंकि उसमें बहुत से विकल्प हैं।[२]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि अर्द्धमागधी में दूसरी प्राकृतों का भी मिश्रण है।

एक दूसरे प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय ने अर्द्धमागधी के सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि वह शौरसेनी के बहुत निकट है अर्थात् उसमें शौरसेनी के बहुत लक्षण प्राप्त होते हैं। इसका भी यही आशय है कि बहुत से लक्षण शौरसेनी के तथा कुछ लक्षण मागधी के मिलने से यह अर्द्धमागधी कहलाई।

क्रमदीश्वर ने ऐसा उल्लेख किया है कि अर्द्धमागधी में मागधी और महाराष्ट्री का मिश्रण है। इसका भी ऐसा ही फलित निकलता है कि अर्द्धमागधी में मागधी के अतिरिक्त शौरसेनी का भी मिश्रण रहा है और महाराष्ट्री का भी रहा है। निशीथचूर्णि में अर्द्धमागधी के सम्बन्ध में उल्लेख है कि वह मगध के आधे भाग में बोली जाने वाली भाषा थी तथा उसमें अट्ठाईस देशी भाषाओं का मिश्रण था।

इन वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्द्धमागधी उस समय प्राकृत-क्षेत्र की संपर्क-भाषा (Lingua-Franca) के रूप में प्रयुक्त थी, जो बाद में भी कुछ शताब्दियों तक चलती रही। कुछ विद्वानों के अनुसार अशोक के अभिलेखों की मूल भाषा यही थी, जिसको स्थानीय रूपों में रूपान्तरित किया गया था।[३]

भगवान् महावीर ने अपने उपदेश का माध्यम ऐसी ही भाषा को लिया, जिस तक जन-साधारण की सीधी पहुँच हो। अर्द्धमागधी में यह बात थी। प्राकृतभाषी क्षेत्रों के बच्चे, बूढ़े, स्त्रियाँ, शिक्षित, अशिक्षित—सभी उसे समझ सकते थे।

---

१. अर्द्धमागहाए भासाए त्ति रसोर्लशौ मागध्यामित्यादि यन्मागधभाषालक्षणं तेनापरिपूर्णा प्राकृतभाषालक्षणबहुला अर्द्धमागधीत्युच्यते। —उववाई सूत्र सटीक पृष्ठ २२४-२५।
(श्रीयुक्त राय धनपतिसिंह बहादुर आगम संग्रह जैन बुक सोसायटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित)

२. आर्ष—ऋषीणामिदमार्षम्। आर्षं प्राकृतं बहुलं भवति।
तदपि यथास्थानं दर्शयिष्यामः। आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते॥ —सिद्धहेमशब्दानुशासन ८. १. ३।

३. भाषाविज्ञान : डॉ० भोलानाथ तिवारी पृष्ठ १७८।
(प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद. १९६१ ई०)

अंग-साहित्य

गणधरों द्वारा भगवान् का उपदेश निम्नांकित बारह अंगों के रूप में संग्रथित हुआ:—

१. आचार, २. सूत्रकृत, ३. स्थान, ४. समवाय, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृधर्मकथा, ७. उपासकदशा, ८. अन्तकृद्दशा, ९. अनुत्तरौपपातिकदशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाक, १२. दृष्टिवाद।

प्राचीनकाल में शास्त्र-ज्ञान को कण्ठस्थ रखने की परम्परा थी। वेद, पिटक और आगम—ये तीनों ही कण्ठस्थ-परम्परा से चलते रहे। उस समय लोगों की स्मरणशक्ति दैहिक संहनन, वल उत्कृष्ट था।

आगम-संकलन : प्रथम प्रयास

भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग ५६० वर्ष पश्चात् तक आगम-ज्ञान की परम्परा यथावत् रूप में गतिशील रही। उसके बाद एक विघ्न हुआ। मगध में बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा। यह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल की घटना है। जैन श्रमण इधर उधर बिखर गये। अनेक काल-कवलित हो गये। जैन संघ को आगम-ज्ञान की सुरक्षा की चिन्ता हुई। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर पाटलिपुत्र में आगमों को व्यवस्थित करने हेतु स्थूलभद्र के नेतृत्व में जैन साधुओं का एक सम्मेलन आयोजित हुआ। इसमें ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। बारहवां अंग दृष्टिवाद किसी को भी स्मरण नहीं था। दृष्टिवाद के ज्ञाता केवल भद्रबाहु थे। वे उस समय नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना में लगे हुए थे। उनसे वह ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया गया। दृष्टिवाद के चवदह पूर्वों में से दस पूर्व तक का अर्थ सहित ज्ञान स्थूलभद्र प्राप्त कर सके। चार पूर्वों का केवल पाठ उन्हें प्राप्त हुआ।

आगमों के संकलन का यह पहला प्रयास था। इसे आगमों की प्रथम वाचना या पाटलिपुत्र-वाचना कहा जाता है।

यों आगमों का संकलन तो कर लिया गया पर उन्हें सुरक्षित वनाये रखने का क्रम वही कण्ठाग्रता का ही रहा। यहां यह ज्ञातव्य है कि वेद जहाँ व्याकरणनिष्ठ संस्कृत में निबद्ध थे जैन आगम लोक-भाषा में निर्मित थे, जो व्याकरण के कठिन नियमों से नहीं बंधी थी, इसलिए आनेवाले समय के साथ साथ उनमें भाषा की दृष्टि से कुछ कुछ परिवर्तन भी स्थान पाने लगा। वेदों में ऐसा संभव नहीं हो सका। इसका एक कारण और था, वेदों की शब्द-रचना को यथावत् रूप में बनाये रखने के लिए उनमें पाठ के संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ तथा घनपाठ—में पाँच रूप रखे गये, जिनके कारण किसी भी मन्त्र का एक भी शब्द इधर से उधर नहीं हो सकता। आगमों के साथ ऐसी बात संभव नहीं थी।

द्वितीय प्रयास

भगवान् महावीर के निर्वाण के ८२७-८४० वर्ष के मध्य आगमों को सुव्यवस्थित करने का एक और प्रयत्न हुआ। उस समय भी पहले जैसा एक भयानक दुष्काल पड़ा था, जिसमें भिक्षा न मिलने के कारण अनेक जैन मुनि परलोकवासी हो गये। आगमों के अभ्यास का क्रम यथावत् रूप में चालू नहीं रहा। इसलिए वे विस्मृत होने लगे। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व

में मथुरा में साधुओं का सम्मेलन हुआ। जिन जिन को जैसा स्मरण था, संकलित कर आगम सुव्यवस्थित किये गये। इसे माथुरी वाचना कहा जाता है। आगम-संकलन का यह दूसरा प्रयास था।

इसी समय के आसपास सौराष्ट्र के अन्तर्गत वलभी में नागार्जुन सूरि के नेतृत्व में भी साधुओं का वैसा ही सम्मेलन हुआ, आगम जिसमें-संकलन का प्रयास हुआ। यह उपर्युक्त दूसरे प्रयत्न या वाचना के अन्तर्गत ही आता है। वैसे इसे वलभी की प्रथम वाचना भी कहा जाता है।

तृतीय प्रयास

अब तक वही कण्ठस्थ क्रम ही चलता रहा था। आगे, इसमें कुछ कठिनाई अनुभव होने लगी। लोगों की स्मृति पहले से दुर्बल हो गई, दैहिक संहनन भी वैसा नहीं रहा। अतः उतने विशाल ज्ञान को स्मृति में बनाये रखना कठिन प्रतीत होने लगा। आगम विस्मृत होने लगे। अतः पूर्वोक्त दूसरे प्रयत्न के पश्चात् भगवान् महावीर के निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष के बाद वलभी में देवर्धि गणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में पुनः श्रमणों का सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में उपस्थित श्रमणों के समक्ष पिछली दो वाचनाओं का सन्दर्भ विद्यमान था। उस परिपार्श्व में उन्होंने अपनी स्मृति के अनुसार आगमों का संकलन किया। मुख्य आधार के रूप में उन्होंने माथुरी वाचना को रखा। विभिन्न श्रमण-संघों में प्रवृत्त पाठान्तर, वाचना-भेद आदि का समन्वय किया। इस सम्मेलन में आगमों को लिपिबद्ध किया गया ताकि आगे उनका एक सुनिश्चित रूप सबको प्राप्त रहे। प्रयत्न के बावजूद जिन पाठों का समन्वय संभव नहीं हुआ, वहाँ वाचनान्तर का संकेत किया गया। बारहवां अंग दृष्टिवाद संकलित नहीं किया जा सका क्योंकि वह श्रमणों को उपस्थित नहीं था। इसलिए उसका विच्छेद घोषित कर दिया गया। जैन आगमों के संकलन के प्रयास में यह तीसरी या अन्तिम वाचना थी। इसे द्वितीय वलभी वाचना भी कहा जाता है। वर्तमान में उपलब्ध जैन आगम इसी वाचना में संकलित आगमों का रूप है।

उपलब्ध आगम जैनों की श्वेताम्बर-परम्परा द्वारा मान्य हैं। दिगम्बर परम्परा में इनकी प्रामाणिकता स्वीकृत नहीं है। वहाँ ऐसी मान्यता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् अंग-साहित्य का विलोप हो गया। महावीर-भाषित सिद्धान्तों के सीधे शब्द-समवाय के रूप में वे किसी ग्रन्थ को स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यतानुसार ईसा प्रारंभिक शती में धरसेन नामक आचार्य को दृष्टिवाद अंग के पूर्वगत ग्रन्थ का कुछ अंश उपस्थित था। वे गिरनार पर्वत की चन्द्रगुफा में रहते थे। उन्होंने वहाँ दो प्रज्ञाशील मुनि पुष्पदन्त और भूतबलि को अपना ज्ञान लिपिबद्ध करा दिया। यह षट्खण्डागम के नाम से प्रसिद्ध है। दिगम्बर-परम्परा में इनका आगमवत् आदर है। दोनों मुनियों ने लिपिबद्ध षट्खण्डागम ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी को संघ के समक्ष प्रस्तुत किये। उस दिन को श्रुत के प्रकाश में आने का महत्त्वपूर्ण दिन माना गया। उसकी श्रुत-पञ्चमी के नाम से प्रसिद्धि हो गई। श्रुत-पञ्चमी दिगम्बर-सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक पर्व है।

ऊपर जिन आगमों के सन्दर्भ में विवेचन किया गया है, श्वेताम्बर-परम्परा में उनकी संख्या के सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है। उनकी ८४, ४५, तथा ३२-यों तीन प्रकार की संख्याएं मानी जाती हैं।' श्वेताम्बर मन्दिर मार्गी सम्प्रदाय में ८४ और ४५ की संख्या की भिन्न-भिन्न रूप में मान्यता है। श्वेताम्बर स्थानकवासी तथा तेरापंथी, जो अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय हैं, में ३२ की संख्या स्वीकृत है, जो इस प्रकार है :—

११ अंग—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक।

१२ उपांग—औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रपज्ञप्ति, निरयावली, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा

४ छेद—व्यवहार, वृहत्कल्प, निशीथ, दशाश्रुतस्कन्ध

४ मूल—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, अनुयोगद्वार

१ आवश्यक

कुल ३२

यों ग्यारह अंग तथा इक्कीस अंगबाह्य कुल बत्तीस होते हैं।

चार अनुयोग

व्याख्याक्रम, विषयगत भेद आदि की दृष्टि से आर्यरक्षित सूरि ने आगमों को चार भागों में वर्गीकृत किया, जो अनुयोग कहलाते हैं। ये इस प्रकार हैं—

१. चरणकरणानुयोग—इसमें आत्मविकास के मूल गुण—आचार, व्रत, सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संयम, वैयावृत्य, ब्रह्मचर्य, तप, कषाय-निग्रह आदि तथा उत्तर गुण-पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रिय-निग्रह, प्रतिलेखन, गुप्ति तथा अभिग्रह आदि का विवेचन है।

२. धर्मकथानुयोग—इसमें दया, दान, शील, क्षमा, आर्जव, मार्दव आदि धर्म के अंगों का विवेचन है। इसके लिए विशेष रूप से आख्यानों या कथानकों का आधार लिया गया है।

३. गणितानुयोग—इसमें गणितसम्बन्धी या गणित पर आधृत वर्णन की मुख्यता है।

४. द्रव्यानुयोग—इसमें जीव, अजीव आदि छह द्रव्यों या नौ तत्त्वों का विस्तृत व सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण है।

पूर्वोक्त ३२ आगमों का इन ४ अनुयोगों ये इस प्रकार समावेश किया जा सकता है :—

चरणकरणानुयोग में आचारांग तथा प्रश्नव्याकरण ये दो अंगसूत्र, दशवैकालिक—यह एक मूल सूत्र, निशीथ, व्यवहार, वृहत्कल्प एवं दशाश्रुतस्कंध—ये चार छेदसूत्र तथा आवश्यक यों कुल आठ सूत्र आते हैं।

धर्मकथानुयोग में ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा तथा विपाक—ये पांच अंगसूत्र, औपपातिक, राजप्रश्नीय, निरयावली, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका व वृष्णिदशा ये सात उपांगसूत्र एवं उत्तराध्ययन—यह एक मूलसूत्र यों कुल तेरह सूत्र आते हैं।

गणितानुयोग में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति तथा सूर्यप्रज्ञप्ति—ये तीन उपांगसूत्र, आते हैं।

द्रव्यानुयोग में सूत्रकृत, स्थान, समवाय तथा व्याख्याप्रज्ञति—ये चार अंगसूत्र, जीवाभिगम, प्रज्ञापना—ये दो उपांगसूत्र एवं नन्दी व अनुयोगद्वार ये दो मूलसूत्र—यों कुल आठ सूत्र आते हैं।

उपासकदशा

प्रस्तुत विवेचन के परिपार्श्व में उपासकदशा धर्मकथानुयोग का भाग है। इसके नामसे प्रकट है, इसमें उपासकों या श्रावकों के कथानक हैं।

जैन धर्म में साधना की दृष्टि से श्रमण-धर्म तथा श्रमणोपासक-धर्म के रूप में दो प्रकार से विभाजन किया गया है। श्रमण शब्द साधु या सर्वत्यागी संयमी के अर्थ में प्रयुक्त है। एक श्रमण के लिए आत्मसाधना ही सर्वस्व है। दैहिक जीवन का निर्वाह होता है, यह एक बात है पर साधना की कीमत पर एक श्रमण वैसा नहीं कर सकता। शरीर चला जाए, यह उसे स्वीकार होता है पर साधना में जरा भी आंच आए, यह वह किसी भी दशा में स्वीकार नहीं करता। यही कारण है कि उसकी व्रताराधना संयमपालन में विकल्प का स्थान नहीं है। जिस दिन वह श्रमण-जीवन में आता है, "सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि" अर्थात् आज से सभी सावद्य-पापसहित योगों—मानसिक, वाचिक व कायिक प्रवृत्तियों का त्याग करता हूँ, इस संकल्प के साथ आता है। वह मन, वचन, काय-इन तीनों योगों तथा कृत, कारित, अनुमोदित—इन तीनों करणों द्वारा हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह से सर्वथा विरत हो जाता है। वह न कभी हिंसा करता है न करवाता है, न अनुमोदन करता है। ऐसा वह मन से सोचता नहीं, वचन से बोलता नहीं। सभी व्रतों पर यही क्रम लागू होता है। अपवाद या विकल्पशून्य होने से यहाँ व्रत महाव्रतों की संज्ञा ले लेते हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने भी उन यमों या व्रतों को जिनमें जाति, देश काल, समय आदि की सीमा नहीं होती, जो सार्वभौम-सब अवस्थाओं में पालन करने-योग्य होते हैं अर्थात् जहाँ किसी भी प्रकार का अपवाद स्वीकृत नहीं है, महाव्रत कहा है।[1]

गृही उपासक का साधनाक्रम

महाव्रतों की समग्र, परिपूर्ण या निरपवाद आराधना हर किसी के लिए शक्य नहीं है। कुछ ही दृढचेता, आत्मबली और संस्कारी पुरुष ऐसे होते हैं, जो इसे साध सकने में समर्थ हों।

महाव्रतों की साधना की अपेक्षा हलका, सुकर एक और मार्ग है, जिसमें साधक अपनी शक्ति के अनुसार ससीमरूप में व्रत स्वीकार करता है। ऐसे साधक के लिए जैन शास्त्रों में श्रमणोपासक शब्द का व्यवहार है। श्रमण और उपासक—ये दो शब्द इसमें हैं। उपासक का शाब्दिक अर्थ उप-समीप बैठने वाला[2] है। जो श्रमण की सन्निधि में बैठता है अर्थात् श्रमण से सद् ज्ञान तथा व्रत स्वीकार करता है, उसके महाव्रतमय जीवन से अनुप्राणित होकर स्वयं भी साधना या उपासना के पथ पर आरूढ होता है, वह श्रमणोपासक है। उपासना या आराधना के सधने का मार्ग यही है। केवल कुछ पढ़ लेने से, सुन लेने से जीवन बदल जाय, यह संभव नहीं होता। साधनामय, महाव्रतमय—उच्च साधनामय जीवन का सान्निध्य, दर्शन—व्यक्ति के मन में एक लगन और टीस पैदा करते हैं, उस ओर बढ़ने की। अतः गृही साधक के लिए जो श्रमणोपासक शब्द का प्रयोग हुआ, वह वास्तव में बड़ा अर्थपूर्ण है।

ऐसे ही सन्दर्भ में छान्दोग्योपनिषद् में बड़ी सुन्दर व्याख्या है। वहाँ लिखा है:—

---

१. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। —पातञ्जलयोगदर्शन साधनपाद ३१

२. उप—समीपे, आस्ते—इत्युपासकः।

"साधनोद्यत व्यक्ति में जब बल जागरित होता है, वह उठता है अर्थात् भीतरी तैयारी करता है। उठकर परिचरण करता है—आत्मबल संजोकर उस ओर गतिमान् होता है। फिर वह गुरु के समीप बैठता है, उनका जीवन देखता है, उनसे (धर्म-तत्त्व का) श्रवण करता है, सुने हुए पर मनन करता है, उद्‌बुद्ध होता है और जीवन में तदनुरूप आचरण करता है, ऐसा होने पर ज्ञात को आचरित कर वह विज्ञाता—विशिष्ट ज्ञाता कहा जाता है।"[1]

उपनिषद्‌कार ने साधना के फलित होने का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है। श्रमणोपासक की भी भूमिका लगभग ऐसी ही होती है। केवल श्रमण के पास बैठने से वह श्रमणोपासक नहीं वन जाता, न वह सुनने मात्र से ही वैसा हो जाता है, श्रमणोपासकत्व का तो यथार्थ क्रियान्वयन तब होता है, जब वह असत् से विरत होता है, सत् में अनुरत होता है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में वह सम्यक् ज्ञानपूर्वक सावद्य का प्रत्याख्यान करता है, व्रत स्वीकार करता है।

श्रमणोपासक के लिए एक दूसरा शब्द श्रावक है। यह शब्द 'श्रु' धातु से बना है। श्रावक का अर्थ सुननेवाला है। यहाँ श्रावक—सुननेवाला लाक्षणिक शब्द है। श्रमण का उपदेश सुन लेने से वह श्रोता तो होता है पर श्रावक नहीं होजाता। उसे श्रावक संज्ञा तभी प्राप्त होती है, जब वह व्रत अंगीकार करता है।

श्रावक के व्रत : एक मनोवैज्ञानिक क्रम

जैन धर्म में श्रमणोपासक या श्रावक के व्रत-स्वीकार का क्रम भी बड़ा वैज्ञानिक है। वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का स्वीकार तो करता है पर सीमित रूप में। अर्थात् अपने में जितना आत्मबल और सामर्थ्य संजो पाता है, तदनुरूप कुछ अपवादों के साथ वह इन व्रतों को ग्रहण करता है। यों श्रावक द्वारा स्वीकार किये जाने वाले व्रत श्रमण के व्रतों से परिपालन की दृष्टि से न्यून या छोटे होते हैं इसलिए उन्हें अणुव्रत कहाजाता है। व्रत अपने आपमें महत् या अणु नहीं होता। महत् या अणु विशेषण व्रत के साथ पालक की क्षमता या सामर्थ्य के कारण लगते हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, जहाँ साधक अपने आत्मबल में कमी या न्यूनता नहीं देखता, वह सम्पूर्ण रूप में, सर्वथा व्रत-पालन में उद्यत रहता है। यह महान् कार्य है। इसीलिए उसके व्रत महाव्रत की संज्ञा पा लेते हैं। सीमा और अपवादों के साथ जहाँ साधक व्रत का पालन करता है, वहाँ उस द्वारा व्रत का पालन—अनुसरण न्यून या छोटा है, उस कारण व्रत के साथ अणु जुड़ जाता है।

एक बहुत बड़ी विशेषता जैन धर्म की यह है कि श्रावकों के व्रतों में अपवादों का कोई इत्थंभूत एक रूप नहीं है। एक ही अहिंसाव्रत अनेक आराधकों द्वारा अनेक प्रकार के अपवादों के साथ स्वीकार किया जा सकता है। विभिन्न व्यक्तियों की क्षमताएं, सामर्थ्य विविध प्रकार का होता है। उत्साह, आत्मबल, पराक्रम एक जैसा नहीं होता। अनगिनत व्यक्तियों में वह अपने अपने क्षयोपशम के अनुरूप अनगिनत प्रकार का हो सकता है। अत एव अपवाद स्वीकार करने में व्यक्ति

१. स यदा वली भवति, अथ उत्थाता भवति, उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन् उपसत्ता भवति, उपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, वोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति।

—छान्दोग्योपनिषद् ७.८.१

का अपना स्वातन्त्र्य है। उसपर अपवाद बलात् आरोपित नहीं किये जा सकते। इससे कम, अधिक–सभी तरह की शक्ति वाले साधनोत्सुक व्यक्तियों को साधना में आने का अवसर मिल जाता है। फिर धीरे-धीरे साधक अपनी शक्ति को बढ़ाता हुआ आगे बढ़ता जाता है। अपवादों को कम करता जाता है। वैसा करते करते वह श्रमणोपासक की भूमिका में श्रमणभूत—श्रमणसदृश तक बन सकता है। यह गहरा मनोवैज्ञानिक तथ्य है। आगे बढ़ना, प्रगति करना जैसा अप्रतिबद्ध और निर्द्वन्द्व मानस से सधता है, वैसा प्रतिबद्ध और निगृहीत मानस से नहीं सध सकता। यह अतिशयोक्ति नहीं है कि गृही की साधना में जैन धर्म की यह पद्धति निःसन्देह बेजोड़ है। अतिचार-वर्जन आदि द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिकता और गहरी होजाती है, जिससे व्रती जीवन का एक सार्वजनीन पवित्र रूप निखार पाता है।

उपासकदशा : प्रेरक विषयवस्तु

उपासकदशा अंगसूत्रों में एकमात्र ऐसा सूत्र है, जिसमें सम्पूर्णतया श्रमणोपासक या श्रावक-जीवन की चर्चा है। भगवान् महावीर के समसामयिक आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकौलिक, सकडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता तथा शालिहीपिता—इन दस श्रमणोपासकों के जीवन का इसमें चित्रण है। भगवान् महावीर के ये प्रमुख श्रावक थे।

समृद्ध जीवन : ऐहिक भी : पारलौकिक भी

उपासकदशा के पहले अध्ययन में आनन्द नामक श्रावक के उपासनामय जीवन का लेखा-जोखा है। विविध प्रसंगों में आये वर्णन से स्पष्ट है कि तब भारत की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। आनन्द तथा प्रस्तुत सूत्र में वर्णित अन्य श्रावकों के वैभव के जो आँकड़े दिये हैं, वे सहसा कपोलकल्पित से लगते हैं पर वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। वास्तव में विशालभूमि, वृहत् पशुधन, अपेक्षाकृत कम जनसंख्या आदि के कारण 'कुछ एक' वैसे विशिष्ट धनी भी होते थे। धन की मूल्यवत्ता अक्सर स्वर्णमुद्राओं में आंकी जाती थी।

ऐसा लगता है, उस समय के समृद्धिशाली जनों का मानस उत्तरोत्तर सम्पत्ति बढ़ाते रहने की लालसा में अपनी निश्चिन्तता खोना नहीं चाहता था। ऐसी वृद्धि में उनका विश्वास नहीं था, जो कभी सब कुछ ही विलुप्त करदे। इसलिए यहाँ वर्णित दसों श्रमणोपासकों के सुरक्षित निधि (Reserve fund) के रूप में उनकी पूंजी का तृतीयांश पृथक् रखा रहता था। घर के परिवार के उपयोग हेतु दैनन्दिन सामान, साधन, सामग्री आदि में भी अपनी सम्पत्ति का तृतीयांश वे लगाये रहते थे। वहां उपयोगिता, सुविधा तथा शान या प्रतिष्ठा का भाव भी था। दान, भोग और नाश—धन की इन तीनों गतियों से वे अभिज्ञ थे, इसलिए समुचित भोग में भी उनकी रुचि थी। तृतीयांश व्यापार में लगा रहता था। व्यापार में कदाचित् हानि भी हो जाए, सारी पूंजी चली जाए तो भी उनका प्रशस्त एवं प्रतिष्ठापन्न व्यवस्थाक्रम टूटता नहीं था। इसलिए उनके जीवन में एक निश्चिन्तता और अनाकुलता का भाव था। तभी यह सम्भव हो सका कि उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन और सान्निध्य का लाभ प्राप्त कर अपना जीवन भोग से त्याग की ओर मोड़ दिया।

आत्मप्रेरणा से अनुप्राणित होकर व्यक्ति जब त्यागमय जीवन स्वीकार करता है तो उसे जैसे भोग में आनन्द आता था, त्याग में आनन्द आने लगता है और विशेषता यह है कि यह आनन्द

पवित्र, स्वस्थ एवं श्रेयस्कर होता है। सहसा आश्चर्य होता है, आनन्द तथा दूसरे श्रमणोपासकों के अत्यन्त समृद्धि और सुखसुविधामय जीवन को एक ओर देखते हैं, दूसरी ओर यह देखते हैं, जब वे त्याग के पथपर आगे बढ़ते हैं तो उधर इतने तन्मय होजाते हैं कि भोग स्वयं छूटते जाते हैं। देह अस्थि-कंकाल बनजाता है, पर वे परम परितुष्ट और प्रहृष्ट रहते हैं। त्याग के रस की अनुभूति के बिना यह कभी सम्भव नहीं हो पाता।

एक अद्भुत घटना : सत्य की गरिमा

आनन्द के जीवन की एक घटना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। तपश्चरण एवं साधना के फलस्वरूप अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से आनन्द अवधिज्ञानी होजाता है। भगवान् महावीर के प्रमुख अन्तेवासी गौतम से अवधिज्ञान की सीमा के सम्बन्ध में हुए वार्तालाप में एक विवादास्पद प्रसंग बनजाता है। भगवान् महावीर आनन्द के मन्तव्य को ठीक बतलाते हैं। गौतम आनन्द के पास आकर क्षमा-याचना करते हैं। बड़ा उद्‌बोधक प्रसंग यह है। आनन्द एक गृही साधक था। गौतम भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों में सबसे मुख्य थे। पर, कितनी ऋजुता और अहंकार-शून्यता का भाव उनमें था। वे प्रसन्नतापूर्वक अपने अनुयायी—अपने उपासक से क्षमा मांगते हैं। जैन दर्शन का कितना ऊंचा आदर्श यह है, व्यक्ति बड़ा नहीं, सत्य बड़ा है। सत्य के प्रति हर किसी को अभिनत होना ही चाहिए। इससे एक फलित और निकलता है, साधना के मार्ग में एक गृही भी बहुत आगे बढ़ सकता है क्योंकि साधना के उत्कर्ष का आधार आत्मपरिणामों की विशुद्धता है। उसे जो जितना साध ले, वह उतना ही ऊर्ध्वगमन कर सकता है।

साधना की कसौटी

श्रेयांसि बहुविघ्नानि—श्रेयस्कर कार्यों में अनेक विघ्न आते ही हैं, अक्सर यह देखते हैं, पढ़ते हैं।

प्रस्तुत आगम के दस उपासकों में छह के जीवन में उपसर्ग या विघ्न आये। उनमें से चार अन्ततः विघ्नों से विचलित हुए पर तत्काल सम्हल गये। दो सर्वथा अविचल और अडोल रहे। उपसर्ग अनुकूल-प्रतिकूल या मोहक-ध्वंसक—दोनों प्रकार के ही होते हैं।

दूसरे अध्ययन का प्रसंग है, श्रमणोपासक कामदेव पोषधशाला में साधनारत था। एक देव ने उसे विचलित करने के लिए उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। उसके पुत्रों की नृशंस हत्या कर डाली पर वह दृढ़चेता उपासक तिलमात्र भी विचलित नहीं हुआ। यद्यपि यह देव की विक्रियाजन्य माया थी पर कामदेव को तो यथार्थ भासित हो रही थी। मनुष्य किसी भी कार्य में तब तक सुदृढ रह सकता है, जब तक उसके सामने मौत का भय न आए। पर, कामदेव ने दैहिक विध्वंस की परवाह नहीं की। तब देव ने उसके हृदय के कोमलतम अंश का संस्पर्श किया। पिता को पुत्रों से बहुत प्यार होता है। जिनके पुत्र नहीं होता, वे उसके लिए तड़फते रहते हैं। कामदेव के सामने उसके देखते-देखते तीनों पुत्रों की हत्या करदी गई पर वह आत्मबली साधक निष्प्रकम्प रहा। तभी तो भगवान् महावीर ने साधु साध्वियों के समक्ष एक उदाहरण के रूप में उसे प्रस्तुत किया। जो भीषण विघ्न-बाधाओं के बावजूद धर्म में सुदृढ बना रहता है, वह निश्चय ही औरों के लिए आदर्श है।

तीसरे अध्ययन में चुलनीपिता का प्रसंग है। चुलनीपिता को भी ऐसे ही विघ्न का सामना करना पड़ा। पुत्रों की हत्या से तो वह अविचल रहा पर देव ने जब उसकी पूजनीया मां की हत्या की धमकी दी तो वह विचलित होगया। मां के प्रति रही अपनी ममता वह जीत नहीं सका। वह तो अध्यात्म की ऊँची साधना में था, जहाँ ऐसी ममता वाधा नहीं वननी चाहिए, पर वनी। चुलनीपिता भूल का प्रायश्चित्त कर शुद्ध हुआ।

चौथे अध्ययन में श्रमणोपासक सुरादेव का कथानक हैं। उसकी साधना में भी विघ्न आया। पुत्रों की हत्या से उपसर्गकारी देव ने जब उसे अप्रभावित देखा तो उसने उसके शरीर में भीषण सोलह रोग उत्पन्न कर देने की धमकी दी। मनुष्य मौत को स्वीकार कर सकता है, पर अत्यन्त भयानक रोगों से जर्जर देह उसके लिए मौत से कहीं अधिक भयावह बन जाती है, सुरादेव के साथ भी यही घटित हुआ। उसका व्रत भग्न होगया। उसने आत्म-परिष्कार किया।

पांचवें अध्ययन में चुल्लशतक सम्पत्ति-नाश की धमकी से व्रत-च्युत हुआ। कुछ लोगों के लिए धन पुत्र, माता, प्राण—इन सबसे प्यारा होता है। वे और सब सह लेते हैं पर धन के विनाश की आशंका उन्हें अत्यन्त आतुर तथा आकुल बना देती है। चुल्लशतक तीनों पुत्रों की हत्या तक चुप रहा पर आलभिका (नगरी) की गली-गली में उसकी सम्पत्ति विखेर देने की बात से वह कांप गया।

सातवें अध्ययन में सकडालपुत्र का कथानक है। वह भी पुत्रों की हत्या तक तो अविचल रहा पर उसकी पत्नी अग्निमित्रा, जो न केवल गृहस्वामिनी थी, उसके धार्मिक जीवन में अनन्य सहयोगिनी भी थी, की हत्या की धमकी जब सामने आई तो वह हिम्मत छोड़ बैठा।

यहाँ एक बात विशेष महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति अपने मन में रही किसी दुर्बलता के कारण एक वार स्थानच्युत होकर पुनः आत्मपरिष्कार कर, प्रायश्चित्त कर, शुद्ध होकर ध्येयनिष्ठ बन जाय तो वह भूल फिर नहीं रहती। भूल होना असंभव नहीं है पर भूल हो जाने पर उसे समझ लेना, उसके लिए अन्तर्-खेद अनुभव करना, फिर अपने स्वीकृत साधना-पथ पर गतिमान् होजाना—यह व्यक्तित्व की उच्चता का चिह्न है। छओं उपासकों के भूल के प्रसंग इसी प्रकार के हैं। जीवन में अवशिष्ट रही ममता, आसक्ति आदि के कारण उनमें विचलन तो आया पर वह टिक नहीं पाया।

आठवें अध्ययन में श्रमणोपासक महाशतक के सामने एक विचित्र अनुकूल विघ्न आता है। उसकी प्रमुख पत्नी रेवती, जो घोर मद्य-मांस-लोलुप और कामुक थी, पोषधशाला में पोषध और ध्यान में स्थित पति को विचलित करना चाहती है। एक ओर त्याग का तीव्र ज्योतिर्मय सूर्य था, दूसरी ओर पाप की कालिमामयी तमिस्रा। त्याग की ज्योति को ग्रसने के लिए कालिमा खूब झपटी पर वह सर्वथा अकृतकार्य रही। रेवती महाशतक को नहीं डिगा सकी। पर, एक छोटी सी भूल महाशतक से तब बनी। रेवती की दुश्चेष्टाओं से उसके मन में क्रोध का भाव पैदा हुआ। उसे अवधिज्ञान प्राप्त था। रेवती की सात दिन के भीतर भीषण रोग, पीडा एवं वेदना के साथ होने वाली मृत्यु की भविष्यवाणी उसने अपने अवधिज्ञान के सहारे कर दी। मृत्यु के भय से रेवती अत्यन्त मर्माहत और भयभीत हो गई। भविष्यवाणी यद्यपि सर्वथा सत्य थी पर सत्य भी सब स्थितियों में व्यक्त किया जाए, यह वांछनीय नहीं है। जो सत्य दूसरों के मन में भय और आतंक उत्पन्न कर दे, वक्ता को वहाँ बोलने में विशेष विचार तथा संकोच करना होता है। इसलिए भगवान् महावीर ने

अपने प्रमुख अन्तेवासी गौतम को भेजकर महाशतक को सावधान किया। महाशतक पुनः आत्मस्थ हुआ।

छठे अध्ययन का चरितनायक कुण्डकौलिक एक तत्त्वनिष्णात श्रावक के रूप में चित्रित किया गया है। एक देव और कुण्डकौलिक के बीच नियतिवाद तथा पुरुषार्थवाद पर चर्चा होती है। कुण्डकौलिक के न्यायपूर्ण और युक्तियुक्त प्रतिपादन से देव निरुत्तर हो जाता है। भगवान् महावीर विज्ञ कुण्डकौलिक का नाम श्रमण श्रमणियों के समक्ष एक उदाहरण के रूप में उपस्थित करते हैं। कुण्डकौलिक का जीवन श्रावक-श्राविकाओं के लिए तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ने हेतु एक प्रेरणास्पद उदाहरण है।

यथार्थ की ओर रुझान

उपासकदशा के दसों अध्ययनों के चरितनायकों का लौकिक जीवन अत्यन्त सुखमय था। उन्हें सभी भौतिक सुख-सुविधाएं प्रचुर और पर्याप्त रूप में प्राप्त थीं। यदि यही जीवन का प्राप्य होता तो उनके लिए और कुछ करणीय रह ही नहीं जाता। क्यों वे अपने प्राप्त सुखों को घटाते-घटाते बिलकुल मिटा देते? पर वे विवेकशील थे। भौतिक सुखों की नश्वरता को जानते थे। अतः जीवन का यथार्थ प्राप्य, जिसे पाए बिना और सब कुछ पा लेना अन्तर्विडम्बना के अतिरिक्त और कुछ होता नहीं, को प्राप्त करने की मानव में जो एक अव्यक्त उत्कण्ठा होती है, वह उन सबमें तत्क्षण जाग उठती है, ज्यों ही उन्हें भगवान् महावीर का सान्निध्य प्राप्त होता है। जागरित उत्कण्ठा जब क्रियान्विति के मार्ग पर आगे बढ़ी तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और उन साधकों के जीवन में एक ऐसा समय आया, जब वे देहसुख को मानो सर्वथा भूल गये। त्याग में, आत्मस्वरूप के अधिगम में अपने आपको उन्होंने इतना खो दिया कि अत्यन्त कृश और क्षीण होते जाते अपने शरीर की भी उन्हें चिन्ता नहीं रही। भोग का त्याग में यह सुखद पर्यवसान था। साधारणतया जीवन में ऐसा सध पाना बहुत कठिन लगता है। सुख, सुविधा और अनुकूलता के वातावरण में पला मानव उन्हें छोड़ने की बात सुनते ही घबरा उठता है। पर, यह दुर्बलचेता पुरुषों की बात है। उपनिषद् के ऋषि ने "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" यह जो कहा है, बड़ा मार्मिक है। बलहीन—अन्तर्बलरहित व्यक्ति आत्मा को उपलब्ध नहीं कर सकता। पर, बलशील—अन्तःपराक्रमशाली पुरुष वह सब सहज ही कर डालता है, जिससे दुर्बल जन काँप उठते हैं।

सामाजिक दायित्व से मुक्ति : अवकाश

मनुष्य जीवन भर अपने पारिवारिक, सामाजिक तथा लौकिक दायित्वों के निर्वाह में ही लगा रहे, भारतीय चिन्तनधारा में यह स्वीकृत नहीं है। वहाँ यह वाञ्छनीय है कि जब पुत्र घर का, परिवार का, सामाजिक सम्बन्धों का दायित्व निभाने योग्य हो जाएं, व्यक्ति अपने जीवन का अन्तिम भाग आत्मा के चिन्तन, मनन, अनुशीलन आदि में लगाए। वैदिक धर्म में इसके लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—यों चार आश्रमों का क्रम है। ब्रह्मचर्याश्रम विद्याध्ययन और योग्यता—संपादन का काल है। गृहस्थाश्रम सांसारिक उत्तरदायित्व-निर्वाह का समय है। वानप्रस्थाश्रम गृहस्थ और संन्यास के बीच का काल है, जहाँ व्यक्ति लौकिक आसक्ति से क्रमशः दूर होता हुआ संन्यास के निकट पहुँचने का प्रयास करता है। "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्", ऐसा वैदिक धर्म

में जो शास्त्र-वचन है, उसका आशय ब्रह्मचर्याश्रम द्वारा ऋषिऋण, गृहस्थाश्रम द्वारा पितृ-ऋण तथा वानप्रस्थाश्रम द्वारा देव-ऋण अपाकृत कर-चुकाकर मनुष्य अपना मन मोक्ष में लगाए। अर्थात् सांसारिक वाञ्छाओं से सर्वथा पृथक् होकर अपना जीवन मोक्ष की आराधना में लगा दे। जैन धर्म में ऐसी आश्रम-व्यवस्था तो नहीं है पर श्रावक-जीवन में क्रमशः मोक्ष की ओर आगे बढ़ने का सुव्यवस्थित मार्ग है। श्रावक-प्रतिमाएं इसका एक रूप है, जहाँ गृही साधक उत्तरोत्तर मोक्षोन्मुखता, तितिक्षा और संयत जीवन-चर्या, दिनचर्या में गतिमान् रहता है।

भगवान् महावीर के ये दसों श्रावक विवेकशील थे। भगवान् से उन्होंने जो पाया, उसे सुनने तक ही सीमित नहीं रखा, जो उन सब द्वारा तत्काल श्रावक-व्रत स्वीकार कर लेने से प्रकट है। उन्होंने मन ही मन यह भाव भी संजोए रखा कि यथासमय लौकिक दायित्वों, सम्बन्धों और आसक्तियों से मुक्त होकर वे अधिकांशतः धर्म की आराधना में अपने को जोड़ दें। आनन्द के वर्णन में उल्लेख है कि भगवान् महावीर से व्रत ग्रहण कर वह १४ वर्ष तक उस ओर उत्तरोत्तर प्रगति करता गया। १५ में वर्ष में एक रात उसके मन में विचार आया कि अब उसके पुत्र योग्य हो गये हैं। अब उसे पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों से अवकाश ले लेना चाहिए।

उस समय के लोग बड़े दृढ़निश्चयी थे। सद् विचार को क्रियान्वित करने में वे विलम्ब नहीं करते थे। आनन्द ने भी विलम्ब नहीं किया। दूसरे दिन उसने अपने पारिवारिकों, मित्रों तथा नागरिकों को दावत दी, अपने विचार से सब को अवगत कराया और उन सब के साक्ष्य में अपने बड़े पुत्र को पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्व सौंपा। बहुत से लोगों को दावत देने में प्रदर्शन की बात नहीं थी। उसके पीछे एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। समाज के मान्य तथा सम्भ्रान्त व्यक्तियों के बीच उत्तरदायित्व सौंपने का एक महत्त्व था। उन सबकी उपस्थिति में पुत्र द्वारा दायित्व स्वीकार करना भी महत्त्वपूर्ण था। यों विधिवत् दायित्व स्वीकार करने वाला उससे मुकरता नहीं। बहुत लोगों का लिहाज, उनके प्रति रही श्रद्धा, उनके साथ के सुखद सम्बन्ध उसे दायित्व-निर्वाह की प्रेरणा देते रहते हैं।

जैसा आनन्द ने किया, वैसा ही अन्य नौ श्रमणोपासकों ने किया। अर्थात् उन्होंने भी सामूहिक भोज के साथ अनेक सम्भ्रान्त जनों की उपस्थिति में अपने अपने पुत्रों को सामाजिक व पारिवारिक कार्यों के संवहन में अपने अपने स्थान पर नियुक्त किया। बहुत सुन्दर चिन्तन तथा तदनुरूप आचरण उनका था। इस दृष्टि से भारत का प्राचीन काल बहुत ही उत्तम और स्पृहणीय था। महाकवि कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश में भगवान् राम के पूर्वज सूर्यवंशी राजाओं का वर्णन करते हुए लिखा है:—

"सूर्यवंशी राजा बचपन में विद्याध्ययन करते थे, यौवन में सांसारिक सुख भोगते थे, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति—मोक्षमार्ग का अवलम्बन करते थे और अन्त में योग या समाधिपूर्वक देहत्याग करते थे।"[1]

---

१. शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

—रघुवंश सर्ग १

विवेक का तकाजा है, व्यक्ति एक पशु या साधारण जन की मौत क्यों मरे। उसे योग या समाधिपूर्वक मरना चाहिए। वह पशु नहीं है, मननशील मानव है। इन दसों उपासकों ने ऐसा ही किया। इन दसों की मृत्यु—समाधिमय मृत्यु पवित्र और उत्तम मृत्यु थी। वहाँ मरण शोक नहीं, महोत्सव बन जाता है। समाधिपूर्वक देह-त्याग निश्चय ही मरण-महोत्सव है। पर, इसके अधिकारी ही आत्मबली पुरुष होते हैं, जिनका जीवन विभाव से स्वभाव की ओर मुड़ जाता है।

सामाजिक स्थिति

दसों श्रमणोपासकों के पास गोधन का प्राचुर्य था। इससे प्रकट है कि गोपालन का उन दिनों भारत में काफ़ी प्रचलन था। इतनी गायें रखने वाले के पास कृषिभूमि भी उसी अनुपात में होनी चाहिए। आनन्द की कृषिभूमि ५०० हल परिमाण बतलाई गई है। गाय दूध, दही तथा घृत के उपयोग का पशु तो था ही, उसके बछड़े बैलों के रूप में खेती के, सामान ढोने के तथा रथ आदि सवारियों के वाहन खींचने के उपयोग में आते थे। उस समय के जन-जीवन में वास्तव में गाय और बैल का बड़ा महत्त्व था।

उन दिनों लोगों का जीवन बड़ा व्यवस्थित था। हर कार्य का अपना विधिक्रम और व्यवस्थाक्रम था। भगवान् महावीर के दर्शन हेतु शिवनन्दा आदि के जाने का जब प्रसंग आता है, वहाँ धार्मिक उत्तम यान का उल्लेख है, जो बैलों द्वारा खींचा जाता था। वह एक विशेष रथ था, जिसका धार्मिक कार्यों हेतु जाने में सवारी के लिए उपयोग होता था।

आनन्द ने श्रावक-व्रत ग्रहण करते समय खाद्य, पेय, परिधेय, भोग, उपभोग आदि का जो परिमाण किया, उससे उस समय के रहन-सहन पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। अभ्यंगन-विधि के परिमाण में शतपाक एवं सहस्रपाक तैलों का उल्लेख है। इससे यह प्रकट होता है कि तब आयुर्वेद काफ़ी विकसित था। औषधियों से बहुत प्रकार के गुणकारी, बहुमूल्य तैल तैयार किये जाते थे।

खानपान, रहन-सहन आदि बहुत परिमार्जित थे। आनन्द जहाँ दतौन के लिए हरी मुलैठी का परिमाण करता है; मस्तक, केश आदि धोने के लिए दूधिया आंबले का और उबटनों में गेहूं आदि के आटे के साथ सौगन्धिक पदार्थ मिलाकर तैयार की गई पीठी का परिमाण करता है, विशिष्ट लोग देह पर चन्दन, कुंकुम आदि का लेप भी करते थे।

लोगों में आभूषण धारण करने की भी रुचि थी। बड़े लोग संख्या में कम पर बहुमूल्य। आभूषण पहनते थे। पुरुषों में अंगूठी पहनने का विशेष रिवाज़ था। आनन्द ने अपनी नामाङ्कित अंगूठी के रूप में आभूषण-परिमाण किया था। रथ में जुतने वाले बैलों को भी बड़े लोग सोने, चांदी के गहने पहनाते थे। चांदी की घण्टियां गले में बांधते थे। उन्हें सुन्दर रूप में सजाते थे। सातवें अध्ययन में अग्निमित्रा के धार्मिक यान का जहां वर्णन आया है, उससे यह प्रकट होता है।

भोजन के बाद सुपारी, पान, पान के मसाले आदि सेवन करते की भी लोगों में प्रवृत्ति थी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित दस श्रावकों में से नौ के एक-एक पत्नी थी। महाशतक के तेरह पत्नियां थीं। उससे यह प्रकट होता है कि उस समय बहुपत्नीप्रथा का भी कहीं कहीं प्रचलन था। पितृगृह से कन्याओं को विवाह के अवसर पर सम्पन्न घरानों में उपहार के रूप में चल, अचल

सम्पत्ति देने का भी रिवाज था, जिस पर उन्हीं (पुत्रियों) का अधिकार रहता। महाशतक की सभी पत्नियों को वैसी सम्पत्ति प्राप्त थी। जहाँ अनेक पत्नियां होती, वहाँ सौतिया डाह भी होता, जो महाशतक की प्रमुख पत्नी रेवती के चरित्र से प्रकट है। उसने अपनी सभी सौतों की हत्या करवा डाली और उनके हिस्से की सम्पत्ति हड़प ली।

प्राय: प्रत्येक नगर के बाहर उद्यान होता जहाँ संत-महात्मा ठहरते। ऐसे उद्यान लोगों के सार्वजनिक उपयोग के लिए होते।

छठे और सातवें अध्ययन में सहस्राम्रवन उद्यान का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है, ऐसे उद्यान भी उन दिनों रहे हों, जहाँ आम के हजार पेड़ लगे हों। यह सम्भव भी है क्योंकि जिन प्रदेशों का प्रसंग है, वहाँ आम की बहुतायत से पैदावार होती थी, आज भी होती है।

ध्यान, चिन्तन, मनन तथा आराधना के लिए शान्त स्थान चाहिए। अत: श्रमणोपासक विशेष उपासना हेतु पोषधशालाओं का उपयोग करते। इसके अतिरिक्त ध्यान एवं उपासना के लिए वे वाटिकाओं के रूप में अपने व्यक्तिगत शान्त वातावरणमय स्थान भी रखते। छठे और सातवें अध्ययन में कुण्डकौलिक और सकडालपुत्र द्वारा अपनी अशोक वाटिकाओं में जाकर, धर्मोपासना करने का उल्लेख है।

श्रमणोपासक आनन्द के व्रतग्रहण के सन्दर्भ में उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत के अतिचारों के अन्तर्गत १५ कर्मादानों का वर्णन है, जो श्रावक के लिए अनाचरणीय हैं। वहाँ जिन कामों का निषेध है, उनसे उस समय प्रचलित व्यवसाय, व्यापार आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कर्मादानों में पाँचवाँ स्फोटन-कर्म है। इसमें खानें खोदना, पत्थर फोड़ना आदि का समावेश है। इससे प्रकट होता है कि खनिज व्यवसाय उन दिनों प्रचलित था। समृद्ध व्यापारी ऐसे कार्यों के ठेके लेते रहे हों, उन्हें करवाने की व्यवस्था करते रहे हों।

हाथी-दाँत, हड्डी, चमड़े आदि का व्यापार भी तब चलता था, जो दन्त-वाणिज्यसंज्ञक छठे कर्मादान से व्यक्त है।

दास-प्रथा का तब भारत में प्रचलन था। दसवां कर्मादान केश-वाणिज्य इसका सूचक है। केश-वाणिज्य में गाय, भैंस, बकरी, भेड़, ऊंट, घोड़े आदि जीवित प्राणियों की खरीद-विक्री के साथ-साथ दास-दासियों की खरीद-विक्री का धन्धा भी शामिल था। सम्पत्ति में चतुष्पद प्राणियों के साथ-साथ द्विपद प्राणियों की भी गिनती होती थी। द्विपदों में मुख्यत: दास-दासी आते थे। इस काम को कर्मादान के रूप में स्वीकार करने का यह आशय है कि एक श्रावक दास-प्रथा के कुत्सित काम से बचे, मनुष्यों का क्रय-विक्रय न करे। इससे यह भी ध्वनित होता है, जैन परम्परा दास-प्रथा के विरुद्ध थी।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जैन आगम न केवल जैन धर्म के सिद्धान्त, आचार, रीतिनीति आदि के ज्ञान हेतु ही पढ़ने आवश्यक हैं वरन् अब से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व के भारतीय समाज के व्यापक अध्ययन की दृष्टि से भी उनका अनुशीलन आवश्यक और उपयोगी है। वास्तव में प्राकृत जैन आगम तथा पालि त्रिपिटक ही उस काल से सम्बद्ध ऐसा साहित्य है, जिसमें जन-जीवन के सभी अंगों का वर्णन विवेचन हुआ है। यह ऐसा साहित्य नहीं है, जिसमें केवल राजन्यवर्ग या

आभिजात्यवर्ग का स्तवन या गुणकीर्णन हुआ हो। इसमें किसान, मजदूर, चरवाहे, व्यापारी, स्वामी, सेवक, राजा, मन्त्री, अधिकारी आदि समाज के सभी छोटे बड़े वर्गों का यथार्थ चित्रण हुआ है।

भाषा, शैली

जैसा ऊपर सूचित किया गया है, जैन आगम अर्द्धमागधी प्राकृत में हैं, जिस पर महाराष्ट्री का काफ़ी प्रभाव है। इस लिए डॉ. हर्मन जैकोबी ने तो जैन आगमों की भाषा को जैन महाराष्ट्री की संज्ञा भी देदी थी पर उसे मान्यता प्राप्त नहीं हुई। उपासकदशा में व्यवहृत अर्द्धमागधी में महाराष्ट्री की 'य' श्रुति का काफ़ी प्रयोग देखा जाता है। जैसे उदाहरणार्थ इसमें 'सावग' और 'सावय' यों दोनों प्रकार के रूप आये हैं। भाषा सरल, प्राञ्जल और प्रवाहमय है। वर्णन में सजीवता है। कई वर्णन तो बड़े ही मार्मिक और अन्तःस्पर्शी हैं। उदाहरणार्थ दूसरे अध्ययन में श्रमणोपासक कामदेव को विचलित करने के लिए उपसर्गकारी देव का वर्णन है। देव के पिशाच-रूप का जो वर्णन वहाँ हुआ है; वह आश्चर्य, भय और जुगुप्सा—तीनों का सजीव चित्र उपस्थित करता है। वहाँ उल्लेख है, उसके कानों में कुण्डलों के स्थान पर नेवले लटक रहे थे, वह गिरगिटों और चूहों की माला पहने था, उसने अपनी देह पर दुपट्टे की तरह सांपों को लपेट रखा था, उसका शरीर पाँच रंगों के बहुविध केशों से ढंका था। कितनी विचित्र कल्पना यह है। और भी विस्मयकर अनेक विशेषण वहाँ हैं।

जैसी कि आगमों की शैली है, एक ही बात कई बार पुनरावृत्त होती रहती है। जैसे किसीने किसीसे कुछ सुना, यदि उसे अन्यत्र इसे कहना हो तो वह सारी की सारी बात दुहरायेगा। प्रस्तुत आगम में भी अनेक स्थानों पर ऐसा हुआ है।

अनावश्यक अति विस्तार से बचने के लिए आगमों में सर्वसामान्य वर्णनों के लिए 'जाव' और 'वण्णओ' द्वारा संकेत कर दिया जाता है, जिसके अनुसार अन्य आगमों से वह वर्णन ले लिया जाता है। शताब्दियों तक कण्ठाग्र-विधि से आगमों को सुरक्षित रखने के लिए ऐसा करना आवश्यक प्रतीत हुआ। सामान्यतः राजा, श्रेष्ठी, सार्थवाह, नगर, उद्यान, चैत्य, सरोवर आदि का वर्णन प्रायः एक जैसा होता है। अतः इनके लिए वर्णन का एक विशेष स्वरूप (Standard) मान लिया गया, जिसे साधारणतया सभी राजाओं, श्रेष्ठियों, सार्थवाहों, नगरों, उद्यानों, चैत्यों, सरोवरों आदि के लिए उपयोग में लिया जाता रहा। प्रस्तुत आगम में भी ऐसा ही हुआ है।

हिन्दी अनुवाद सहित आगमप्रकाशन

भारत में कतिपय जैन आगमों का मूल रूप में तथा सटीक समय-समय पर प्रकाशन होता रहा है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद के साथ बत्तीसों आगमों का सबसे पहला प्रकाशन अब से लगभग छ दशक पूर्व दक्षिण हैदराबाद में हुआ। इनका संपादन तथा अनुवाद लब्धप्रतिष्ठ आगम-विद्वान् समादरणीय मुनि श्री अमोलक ऋषिजी महाराज ने किया। तब के समय और स्थिति को देखते हुए निश्चय ही यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। तबसे पूर्व हिन्दी भाषी जनों को आगम पढ़ने का अवसर ही प्राप्त नहीं था। इन आगमों का सभी जैन सम्प्रदायों के मुनियों और श्रावकों ने उपयोग किया। श्रुत-सेवा का वास्तव में यह एक श्लाघनीय कार्य था। आज वे आगम अप्राप्य (Out of Print) हैं।

बत्तीसों आगमों के संपादन, अनुवाद एवं प्रकाशन का दूसरा प्रयास लगभग, उसके दो दशक बाद जैन शास्त्राचार्य पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज द्वारा कराची से चालू हुआ। वर्षों के परिश्रम से वह अहमदाबाद में सम्पन्न हुआ। उन्होंने स्वरचित संस्कृत टीका तथा हिन्दी एवं गुजराती अनुवाद के साथ सम्पादन किया। वे भी आज सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है। फुटकर रूप में आगम-प्रकाशन कार्य सामान्यतः गतिशील रहा। वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के प्रथम आचार्य आगम-वाङ्मय के महान् अध्येता, प्रबुद्ध मनीषी पूज्य आत्माराम जी महाराज द्वारा कतिपय आगमों का संस्कृत-छाया हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या के साथ सम्पादन किया गया, जो वास्तव में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। आज वे सब आगम भी प्राप्त नहीं हैं। जैन श्वेताम्बर तेरापंथ की ओर से भी आगम प्रकाशन का कार्य चलरहा है। विस्तृत विवेचन, टिप्पण आदि के साथ कतिपय आगम प्रकाश में आये हैं। सभी प्रयास जो हुए हैं, हो रहे हैं, अभिनन्दनीय हैं।

आज की आवश्यकता

हिन्दी जगत् में वर्षों से आज की प्रांजल भाषा तथा अधुनातन शैली में हिन्दी अनुवाद के साथ आगमप्रकाशन की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। देश का हिन्दी-भाषी क्षेत्र बहुत विशाल है। हिन्दी भाषा में कोई साहित्य देने का अर्थ है कोटि कोटि मानवों तक उसे पहुंचाना।

जैन आगम केवल विद्वद्भोग्य नहीं हैं, जन जन के लिए उनकी महनीय उपयोगिता है। आज के समस्यासंकुल युग में, जब मानव को शान्ति का मार्ग चाहिए, वे और भी उपयोगी हैं।

जन-जन के लिए वे उपयोगी हो सकें, इस हेतु मूलग्राही भावबोधक अनुवाद और जहाँ अपेक्षित हो, सरल रूप में संक्षिप्त विवेचन के साथ आगमों का प्रकाशन हिन्दी-जगत् के लिए आज की अनुपेक्षणीय आवश्यकता है। जैन जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं लेखक, पण्डितरत्न, वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के युवाचार्य पूज्य श्री मधुकर मुनिजी महाराज के मन में बहुत समय से यह बात थी। उन्हीं की आध्यात्मिक प्रेरणा की यह फल-निष्पत्ति है कि ब्यावर (राजस्थान) में आगम प्रकाशन समिति का परिगठन हुआ, जिसने यह स्तुत्य कार्य सहर्ष, सोत्साह स्वीकार कर लिया। आगम-संपादन, अनुवाद त्वरापूर्वक गतिशील है।

सहभागित्व

पिछले कुछ वर्षों से श्रद्धेय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी महाराज से मेरा श्रद्धा एवं सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध है। उनके निश्छल, निर्मल, सरल व्यक्तित्व की मेरे मन पर एक छाप है। वे वरिष्ठ विद्वान् तो हैं ही, साथ ही साथ विद्वानों एवं गुणियों का बड़ा आदर करते हैं। मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूं कि मुझे उनका हार्दिक अनुग्रह एवं सात्त्विक स्नेह प्राप्त है। आगमों के संपादन एवं अनुवादकार्य में पूज्य युवाचार्य श्री ने मुझे भी स्मरण किया। पिछले तीस वर्षों से भारतीय विद्या (Indology) और विशेषतः प्राकृत तथा जैन विधा (Jainology) के क्षेत्र में अध्ययन, अनुसन्धान, लेखन, अध्यापन आदि के सन्दर्भ में कार्यरत रहा हूं। यह मेरी आन्तरिक अभिरुचि का विषय है, व्यवसाय नहीं। अतः मुझे प्रसन्नता का अनुभव हुआ। मेड़ता निवासी मेरे अनन्य मित्र युवा साधक एवं साहित्यसेवी श्रीमान् जतनराजजी मेहता, जो आगम प्रकाशन समिति के महामन्त्री मनोनीत

हुए, ने भी मुझे विशेष रूप से प्रेरित किया। श्रुत की सेवा का सुन्दर अवसर जान, मैंने उधर उत्साह दिखाया। सातवें अंग उपासकदशा तथा दसवें अंग प्रश्नव्याकरण का कार्य मेरे जिम्मे आया। मैंने पहले उपासकदशा का कार्य हाथ में लिया।

सम्पादन, अनुवाद, विवेचन

पहला कार्य पाठ-सम्पादन का था। मैंने उपासकदशा के निम्नाङ्कित संस्करण हस्तगत किये:—

१. उपासकदशासूत्रम्—सम्पादक, डॉ० एम० ए० रुडोल्फ हार्नले। प्रकाशक—बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता। प्रथम संस्करण : १८९० ई०।

२. श्रीमद् अभयदेवाचार्यविहितविवरणयुतं श्रीमद् उपासकदशांगम्। प्रकाशक—आगामोदय समिति, महेसाणा, प्रथम संस्करण १९२० ई०।

३. उपासकदशांगसूत्रम्—वृत्तिरचयिता—जैनशास्त्राचार्य पूज्य श्री घासीलालजी महाराज। प्रकाशक—श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संघ, कराची। प्रथम संस्करण : १९३६ ई०।

४. श्री उपासकदशांगसूत्र—अनुवादक—जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज। प्रकाशक—आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना। प्रथम संस्करण : १९६४ ई०।

५. उपासकदशांगसूत्रम्—अनुवादक—वी० घीसूलाल पितलिया। प्रकाशक—अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (मध्य प्रदेश) प्रथम संस्करण : १९७७ ई०।

६. उवासगदसाओ—श्रीमद् अभयदेव सूरि विरचित मूल अने टीकाना अनुवाद सहित (लिपि—देवनागरी, भाषा—गुजराती) अनुवादक अने प्रकाशक—पं० भगवानदास हर्षचन्द्र। प्रथम संस्करण : वि० सं० १९९२ ई०, जैनानन्द, पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत।

७. अंगसुत्ताणि—३. सम्पादक—मुनि नथमलजी। प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं। प्रथम संस्करण : सं० २०३१।

८. उपासकदशांग—अनुवादक, सम्पादक—डॉ० जीवराज घेला भाई दोशी, अहमदाबाद (देवनागरी लिपि, गुजराती भाषा)।

९. उपासकदशासूत्र—सम्पादक, अनुवादक—बाल-ब्रह्मचारी पं० मुनि श्री अमोलक ऋषिजी महाराज। प्रकाशक—हैदराबाद—सिकंदराबाद जैन संघ, हैदराबाद (दक्षिण)। वीराब्द २४४२-२४४६ ई०।

इन सब प्रतियों का मिलान कर, भिन्न भिन्न प्रतियों की उपयोगी पूरकता का उपयोग कर

त्रुटिरहित एवं प्रामाणिक पाठ ग्रहण करने का प्रयास किया गया है। संख्याक्रम, पैरेग्राफ, विरामचिह्न आदि के रूप में विभाजन, सुव्यवस्थित उपस्थापन का पूरा ध्यान रखा गया है।

प्राकृत अपने युग की जीवित भाषा थी। जीवित भाषा में विविध स्थानीय उच्चारण-भेद से एक ही शब्द के एकाधिक उच्चारण बोलचाल में रहने संभावित हैं, जैसे नगर के लिए नयर, णयर— दोनों ही रूप सम्भव हैं। प्राचीन प्रतियों में भी दोनों ही प्रकार के रूप मिलते हैं। यों जिन-जिन शब्दों के एकाधिक रूप हैं, उनको उपलब्ध प्रतियों की प्रामाणिकता के आधार पर उसी रूप में रखा गया है।

'जाव' से सूचित पाठों के सम्बन्ध में ऐसा क्रम रखा गया है:—

'जाव' से संकेतित पाठ को पहली बार तो सम्बद्ध पूरक आगम से लेकर यथावत् रूप में कोष्ठक में दे दिया गया है, आगे उसी पाठ का सूचक 'जाव' जहाँ-जहाँ आया है, वहाँ पाद-टिप्पण में उस पिछले सूत्र का संकेत कर दिया गया है, जहाँ वह पाठ उद्धृत है।

प्रायः प्रकाशित संस्करणों में 'जाव' से सूचित पाठ को कोष्ठक आदि में उद्धृत करने का क्रम नहीं रहा है। विस्तार से बचने के लिए संभवतः ऐसा किया गया हो। अधिक विस्तार न हो, यह तो वाञ्छित है पर यह भी आवश्यक है कि 'जाव' द्वारा अमुक विषय का जो वर्णन अभीप्सित है, उससे पाठक अवगत हों। उसे उपस्थित किये बिना पाठकों को पठनीय विषय का पूरा ज्ञान नहीं हो पाता। अतः 'जाव' से सूचित पाठ की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। हां, इतना अवश्य है, एक ही 'जाव' के पाठ को जितने स्थानों पर वह आया हो, सर्वत्र देना वाञ्छित नहीं है। इससे ग्रन्थ का अनावश्यक कलेवर बढ़ जाता है। 'जाव' से सूचित पाठ इतना अधिक हो जाता है कि पढ़ते समय पाठकों को मूल पाठ स्वायत्त करने में भी कठिनाई होती है।

हिन्दी अनुवाद में भाषा का क्रम ऐसा रखा गया है, जिससे पाठक मूल पाठ के बिना भी उसको स्वतन्त्र रूप से पढ़ें तो एक जैसा प्रवाह बना रहे।

प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ में उसका सार-संक्षेप दिया गया है, जिसमें अध्ययनगत विषय का संक्षिप्त विवरण है।

जिन सूत्रों में वर्णित विषयों की विशेष व्याख्या अपेक्षित हुई, उसे विवेचन में दिया गया है। यह ध्यान रखा गया है, विवेचन में अनावश्यक विस्तार न हो, आवश्यक बात छूटे नहीं।

प्रस्तुत आगम के सम्पादन, अनुवाद एवं विवेचन में अहर्निश आठ मास तक किये गये श्रम की यह फलनिष्पत्ति है। इस बीच परम श्रद्धेय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी महाराज तथा वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध मनीषी विद्वद्वर पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की ओर से मुझे सतत स्फूर्तिप्रद प्रेरणाएं प्राप्त होती रहीं, जिससे मेरा उत्साह सर्वथा वृद्धिगत होता रहा। मैं हृदय से आभारी हूँ।

इस कार्य में प्रारम्भ से ही मेरे साहित्यिक सहकर्मी प्रबुद्ध साहित्यसेवी श्री शंकरलालजी पारीक, लाडनूं कार्य के समापन पर्यन्त सहयोगी रहे हैं। प्रेस के लिए पाण्डुलिपियाँ तैयार करने में उनका पूरा साथ रहा।

आगम-वाङ्मय के अनुरागी, अध्यात्म व संयम में अभिरुचिशील, सहस्राब्दियों पूर्व के भारतीय जीवन के जिज्ञासु सुधी जन यदि प्रस्तुत ग्रन्थ से कुछ भी लाभान्वित हुए तो मैं अपना श्रम सार्थक मानूंगा।

कैवल्य धाम,
सरदार शहर (राजस्थान)
दिनांक ९-४-८०

—डॉ० छगनलाल शास्त्री
एम० ए० (हिन्दी संस्कृत, प्राकृत तथा जैनोलोजी) पी-एच० डी०,
काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि भू० पू० प्रवक्ता—इन्स्टीट्यूट ऑफ़ प्राकृत,
जैनोलोजी एण्ड अहिंसा, वैशाली (बिहार)

अनुक्रमणिका

पहला अध्ययन

दूसरा अध्ययन

तीसरा अध्ययन

चौथा अध्ययन

पांचवां अध्ययन

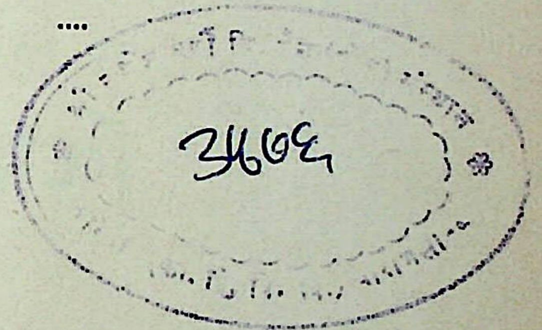
छठा अध्ययन

सातवां अध्ययन

आठवां अध्ययन

नौवां अध्ययन

दसवां अध्ययन



पंचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिविरइयं सत्तमं अंगं

उवासगदसाओ

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्म-स्वामि-विरचितं सप्तमम् अङ्गम्

उपासकदशा

उपासकदशांग सूत्र

प्रथम अध्ययन

सार-संक्षेप

घटना तब की है, जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, अपनी धर्म-देशना से जन-मानस में अध्यात्म का संचार कर रहे थे। उत्तर बिहार के एक भाग में, जहां लिच्छवियों का गणराज्य था, वाणिज्यग्राम नामक नगर था। वह लिच्छवियों की राजधानी वैशाली के पास ही था। बनिया—गांव नामक आज भी एक गांव उस भूमि में है। सम्भवतः वाणिज्यग्राम का ही वह अवशेष हो।

वाणिज्यग्राम में आनन्द नामक एक सद्गृहस्थ निवास करता था। वह बहुत सम्पन्न, समृद्ध और वैभवशाली था। ऐसे जनों के लिए जैन आगम-साहित्य में गाथापति शब्द का प्रयोग हुआ है। करोड़ों सुवर्ण-मुद्राओं में सम्पत्ति, धन, धान्य, भूमि, गोधन इत्यादि की जो प्रचुरता आनन्द के यहां थी, उसके आधार पर आज के मूल्यांकन में वह अरबपति की स्थिति में पहुंचता था। कृषि उसका मुख्य व्यवसाय था। उसके यहां दस-दस हजार गायों के चार गोकुल थे।

गाथापति आनन्द समृद्धिशाली होने के साथ-साथ समाज में बहुत प्रतिष्ठित था, सभी वर्ग के लोगों द्वारा सम्मानित था। बहुत बुद्धिमान् था, व्यवहार-कुशल था, मिलनसार था, इसलिए सभी लोग अपने कार्यों में उससे परामर्श लेते थे। सभी का उसमें अत्यधिक विश्वास था, इसलिए अपनी गोपनीय बात भी उसके सामने प्रकट करने में किसी को संकोच नहीं होता था। यों वह सुख, समृद्धि, सम्पन्नता और प्रतिष्ठा का जीवन जी रहा था।

उसकी धर्मपत्नी का नाम शिवनन्दा था। वह रूपवती, गुणवती एवं पति-परायणा थी। अपने पति के प्रति उसमें असीम अनुराग, श्रद्धा और समर्पण था। आनन्द के पारिवारिक जन भी सम्पन्न और सुखी थे। सब आनन्द को आदर और सम्मान देते थे।

आनन्द के जीवन में एक नया मोड़ आया। संयोगवश श्रमण भगवान् महावीर अपने पाद-विहार के बीच वाणिज्यग्राम पधारे। वहां का राजा - जितशत्रु अपने सामन्तों, अधिकारियों और पारिवारिकों के साथ भगवान् के दर्शन के लिए गया। अन्यान्य सम्भ्रान्त नागरिक और धर्मानुरागी जन भी पहुंचे। आनन्द को भी विदित हुआ। उसके मन में भी भगवान् के दर्शन की उत्सुकता जागी। वह कोल्लाक सन्निवेश-स्थित दूतीपलाश चैत्य में पहुंचा, जहां भगवान् विराजित थे। कोल्लाक सन्निवेश वाणिज्यग्राम का उपनगर था। आनन्द ने भक्तिपूर्वक भगवान् को वन्दन-नमन किया।

भगवान् ने धर्म-देशना दी। जीव, अजीव आदि तत्त्वों का बोध प्रदान किया, अनगार-श्रमण-धर्म तथा अगार—गृहि-धर्म या श्रावक-धर्म की व्याख्या की।

आनन्द प्रभावित हुआ। उसने भगवान् से पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत-यों श्रावक के बारह व्रत स्वीकार किए। अब तक जीवन हिंसा, भोग एवं परिग्रह आदि की दृष्टि से अमर्यादित था, उसने उसे मर्यादित एवं सीमित बनाया। असीम लालसा और तृष्णा को नियमित, नियन्त्रित

किया । फलतः उसका खान-पान, रहन-सहन, वस्त्र, भोगोपभोग सभी पहले की अपेक्षा बहुत सीमित, सादे हो गए । आनन्द एक विवेकशील और अध्यवसायी पुरुष था । वैसे सादे, सरल और संयमोन्मुख जीवन में वह सहज भाव से रम गया ।

आनन्द ने सोचा, मैंने जीवन में जो उद्‌बोध प्राप्त किया है, अपने आचार को तदनुरूप ढाला है, अच्छा हो, मेरी सहधर्मिणी शिवनन्दा भी वैसा करे । उसने घर आकर अपनी पत्नी से कहा—देवानुप्रिये ! तुम भी भगवान् के दर्शन करो, वन्दन करो, बहुत अच्छा हो, गृहि-धर्म स्वीकार करो ।

आनन्द व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल्य समझता था, इसलिए उसने अपनी पत्नी पर कोई दबाव नहीं डाला, अनुरोधमात्र किया ।

शिवनन्दा को अपने पति का अनुरोध अच्छा लगा । वह भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुई, धर्म सुना । उसने भी बड़ी श्रद्धा और उत्साह के साथ श्रावक-व्रत स्वीकार किए । भगवान् महावीर कुछ समय बाद वहां से विहार कर गये ।

आनंद का जीवन अब और भी सुखी था । वह धर्माराधनापूर्वक अपने कार्य में लगा रहा । चौदह वर्ष व्यतीत हो गए । एक बार की बात है, आनन्द सोया था, रात के अन्तिम पहर में उसकी नींद टूटी । धर्म-चिन्तन करते हुए वह सोचने लगा—जिस सामाजिक स्थिति में मैं हूं, अनेक विशिष्ट जनों से सम्बन्धित होने के कारण धर्माराधना में यथेष्ट समय दे नहीं पाता । अच्छा हो, अब मैं सामाजिक और लौकिक दायित्वों से मुक्ति ले लूं और अपना जीवन धर्म की आराधना में अधिक से अधिक लगाऊं । उसका विचार निश्चय में बदल गया । दूसरे दिन उसने एक भोज आयोजित किया । सभी पारिवारिक जनों को आमन्त्रित किया, भोजन कराया, सत्कार किया । अपना निश्चय सबके सामने प्रकट किया । अपने बड़े पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपा, सामाजिक दायित्व एवं सम्बन्धों को भली भांति निभाने की शिक्षा दी । उसने विशेष रूप से उस समय उपस्थित जनों से कहा कि अब वे उसे गृहस्थ-सम्बन्धी किसी भी काम में कुछ भी न पूछें । यों आनन्द ने सहर्ष कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन से अपने को पृथक् कर लिया । वह साधु जैसा जीवन बिताने को उद्यत हो गया ।

आनन्द कोल्लाक सन्निवेश में स्थित पोषधशाला में धर्मोपासना करने लगा । उसने क्रमशः श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की उत्तम एवं पवित्र भावपूर्वक आराधना की । उग्र तपोमय जीवन व्यतीत करने से उसका शरीर सूख गया, यहां तक कि शरीर की नाड़ियां दिखाई देने लगीं ।

एक बार की बात है, रात्रि के अन्तिम पहर में धर्म-चिन्तन करते हुए आनन्द के मन में विचार आया—यद्यपि अब भी मुझ में आत्म-बल, पराक्रम, श्रद्धा और संवेग की कोई कमी नहीं, पर शारीरिक दृष्टि से मैं कृश एवं निर्बल होगया हूं । मेरे लिए श्रेयस्कर है, मैं अभी भगवान् महावीर की विद्यमानता में अन्तिम मारणान्तिक संलेखना स्वीकार कर लूं । जीवन भर के लिए अन्न-जल का त्याग कर दूं, मृत्यु की कामना न करते हुए शान्त चित्त से अपना अन्तिम समय व्यतीत करूं ।

आनन्द एक दृढचेता पुरुष था । जो भी सोचता, उसमें विवेक होता, आत्मा की पुकार होती । फिर उसे कार्य-रूप में परिणत करने में वह विलम्ब नहीं करता । उसने जैसा सोचा, तदनुसार सबेरा होते ही आमरण अनशन स्वीकार कर लिया । ऐहिक जीवन की सब प्रकार की इच्छाओं और

आकर्षणों से वह सर्वथा ऊंचा उठ गया। जीवन और मरण दोनों की आकांक्षा से अतीत बन वह आत्म-चिन्तन में लीन हो गया।

धर्म के निगूढ चिन्तन और आराधन में संलग्न आनन्द के शुभ एवं उज्ज्वल परिणामों के कारण अवधि-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ, उसको अवधि ज्ञान उत्पन्न हो गया।

भगवान् महावीर विहार करते हुए पधारे, वाणिज्यग्राम के बाहर दूतीपलाश चैत्य में ठहरे। लोग धर्म-लाभ लेने लगे। भगवान् के प्रमुख शिष्य गौतम तब निरन्तर बेले-बेले का तप कर रहे थे। वे एक दिन भिक्षा के लिए वाणिज्यग्राम में गए। जब वे कोल्लाक सन्निवेश के पास पहुंचे, उन्होंने आनन्द के आमरण अनशन के सम्बन्ध में सुना। उन्होंने सोचा, अच्छा हो मैं भी उधर हो आऊं। वे पोषधशाला में आनन्द के पास आए। आनन्द का शरीर बहुत क्षीण हो चुका था। अपने स्थान से इधर-उधर होना उसके लिए शक्य नहीं था। उसने आर्य गौतम से अपने निकट पधारने की प्रार्थना की, जिससे वह यथाविधि उन्हें वन्दन कर सके। गौतम निकट आए। आनन्द ने सभक्ति वन्दन किया और एक प्रश्न भी किया—भन्ते ! क्या गृहस्थ को अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है ? गौतम ने कहा—आनन्द ! हो सकता है। तब आनन्द बोला—भगवन् ! मैं एक गृहि-श्रावक की भूमिका में हूं, मुझे भी अवधि-ज्ञान हुआ है। मैं उसके द्वारा पूर्व की ओर लवण समुद्र में पांच सौ योजन तक तथा अधोलोक में लोलुपाच्युत नरक तक जानता हूं, देखता हूं। इस पर गौतम बोले—आनन्द ! गृहस्थ को अवधि-ज्ञान हो तो सकता है, पर इतना विशाल नहीं। इसलिए तुम से जो यह असत्य भाषण हो गया है, उसकी आलोचना करो, प्रायश्चित्त करो।

आनन्द बोला—भगवन् ! क्या जिन-प्रवचन में सत्य और यथार्थ भावों के लिए भी आलोचना की जाती है ? गौतम ने कहा—आनन्द ! ऐसा नहीं होता। तब आनन्द बोला—भगवन् ! जिन-प्रवचन में यदि सत्य और यथार्थ भावों की आलोचना नहीं होती तो आप ही इस सम्बन्ध में आलोचना कीजिए। अर्थात् मैंने जो कहा है, वह असत्य नहीं है। गौतम विचार में पड़ गए। इस सम्बन्ध में भगवान् से पूछने का निश्चय किया। वे भगवान् के पास आए। उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाया और पूछा कि आलोचना और प्रायश्चित्त का भागी कौन है ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! तुम ही आलोचना करो और आनन्द से क्षमा-याचना भी। आनन्द ने ठीक कहा है।

गौतम पवित्र एवं सरलचेता साधक थे। उन्होंने भगवान् महावीर का कथन विनयपूर्वक स्वीकार किया और सरल भाव से अपने दोष की आलोचना की, आनन्द से क्षमा-याचना की।

आनन्द अपने उज्ज्वल आत्म-परिणामों में उत्तरोत्तर दृढ और दृढतर होता गया। एक मास की संलेखना के उपरान्त उसने समाधि-मरण प्राप्त किया। देह त्याग कर वह सौधर्म देवलोक के सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशान कोण में स्थित अरुण विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ।

प्रथम अध्ययन का यह संक्षिप्त सारांश है।



प्रथम अध्ययन

गाथापति आनन्द

जम्बू की जिज्ञासा : सुधर्मा का उत्तर

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं
चंपा नामं नयरी होत्था। वण्णओ।
पुण्णभद्दे चेइए। वण्णओ।

उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब आर्य सुधर्मा विद्यमान थे, चम्पा नामक नगरी थी, पूर्णभद्र नामक चैत्य था। दोनों का वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।

विवेचन

यहां काल और समय—ये दो शब्द आये हैं। साधारणतया ये पर्यायवाची हैं। जैन पारिभाषिक दृष्टि से इनमें अन्तर भी है। काल वर्तना-लक्षण सामान्य समय का वाचक है और समय काल के सूक्ष्मतम—सबसे छोटे भाग का सूचक है। पर, यहां इन दोनों का इस भेद-मूलक अर्थ के साथ प्रयोग नहीं हुआ है। जैन आगमों की वर्णन-शैली की यह विशेषता है, वहां एक ही बात प्रायः अनेक पर्यायवाची, समानार्थक या मिलते-जुलते अर्थ वाले शब्दों द्वारा कही जाती है। भाव को स्पष्ट रूप में प्रकट करने में इससे सहायता मिलती है। पाठकों के सामने किसी घटना, वृत्त या स्थिति का एक बहुत साफ शब्द-चित्र उपस्थित हो जाता है। यहां काल का अभिप्राय वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त से है तथा समय उस युग या काल का सूचक है, जब आर्य सुधर्मा विद्यमान थे।

यहां चम्पा नगरी तथा पूर्णभद्र चैत्य का उल्लेख हुआ है। दोनों के आगे 'वण्णओ' शब्द आया है। जैन आगमों में नगर, गांव, उद्यान आदि सामान्य विषयों के वर्णन का एक स्वीकृत रूप है। उदाहरणार्थ, नगरी के वर्णन का जो सामान्य क्रम है, वह सभी नगरियों के लिए काम में आ जाता है। औरों के साथ भी ऐसा ही है।

लिखे जाने से पूर्व जैन आगम मौखिक परम्परा से याद रखे जाते थे। याद रखने में सुविधा की दृष्टि से संभवतः यह शैली अपनाई गई हो। वैसे नगर, उद्यान आदि साधारणतया लगभग सदृश होते ही हैं।

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्ज-सुहम्मे समोसरिए, जाव जम्बू (समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्ज-सुहम्मे नामं थेरे जाति-संपण्णे, कुल-संपण्णे, बल-संपण्णे, रूव-संपण्णे, विणय-संपण्णे, नाण-संपण्णे, दंसण-संपण्णे, चरित्त-संपण्णे, लज्जा-संपण्णे, लाघव-संपण्णे, ओयंसी, तेयंसी, वच्चंसी, जसंसी, जिय-कोहे, जिय-माणे, जिय-माए, जिय-लोहे, जिय-णिद्दे, जिइंदिए, जिय-परीसहे, जीवियास-मरण-भय-विप्पमुक्के, तव-प्पहाणे, गुण-प्पहाणे, करण-प्पहाणे, चरण-प्पहाणे, निग्गह-प्पहाणे, निच्छय-प्पहाणे, अज्जव-प्पहाणे, मद्दव-प्पहाणे, लाघव-प्पहाणे, खंति-प्पहाणे, गुत्ति-प्पहाणे, मुत्ति-प्पहाणे, विज्ज-प्पहाणे, मंत-प्पहाणे, बंभ-प्पहाणे, वेय-प्पहाणे, नय-प्पहाणे, नियम-प्पहाणे, सच्च-प्पहाणे, सोय-प्पहाणे, नाण-प्पहाणे, दंसण-प्पहाणे, चरित्त-प्पहाणे, ओराले, घोरे, घोर-गुणे, घोर-तवस्सी, घोर-बंभचेरवासी, उच्छूढ-सरीरे संखित्त-विउल-तेउ-लेस्से, चउदस-पुव्वी,

चउनाणोवगए, पंचहिं अणगार-सएहिं सद्धिं संपरिवुडे, पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे, सुहं सुहेण विहरमाणे जेणेव चंपा नयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ।) चंपानयरीए बहिया पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हइ, ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्ज-सुहम्मस्स थेरस्स जेट्ठे अंतेवासी अज्ज-जंबू नामं अणगारे कासव-गोत्तेणं, सत्तुस्सेहे, सम-चउरंस-संठाण-संठिए, वइर-रिसह-णाराय-संघयणे. कणग-पुलग-निघस-पम्ह-गोरे, उग्ग-तवे, दित्त-तवे, तत्त-तवे, महा-तवे, ओराले, घोर, घोर-गुणे, घोर-तवस्सी, घोर-बंभचेरवासी, उच्छूढ-सरीरे, संखित्त-विउल-तेउ-लेस्से, अज्ज-सुहम्मस्स थेरस्स अदूरसामंते उड्ढं-जाणू, अहोसिरे, झाण-कोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तए णं से अज्ज-जंबू नामं अणगारे जाय-सड्ढे, जाय-संसए, जाय-कोऊहल्ले, उप्पण्ण-सड्ढे, उप्पण्ण-संसए, उप्पण्ण-कोऊहल्ले संजाय-सड्ढे, संजाय-संसए, संजाय-कोऊहल्ले, समुप्पण्ण-सड्ढे, समुप्पण्ण-संसए, समुप्पण्ण-कोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेत्ता जेणेव अज्ज-सुहम्मे थेरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अज्ज-सुहम्मं थेरं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे)।

पज्जुवासमाणे एवं वयासी—जइ णं भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव (आइगरेणं, तित्थगरेणं, सयंसंबुद्धेणं, पुरिसुत्तमेणं, पुरिससीहेणं, पुरिसवरपुंडरीएणं, पुरिसवरगंधहत्थिएणं, लोग-नाहेणं, लोग-पईवेणं, लोग-पज्जोयगरेणं, अभयदएणं, सरणदएणं, चक्खुदएणं, मग्गदएणं, जीवदएणं, बोहिदएणं धम्मदएणं, धम्म-देसएणं, धम्म-नायगेणं, धम्मसारहिणा, धम्म-वर-चाउरंत-चक्कवट्टिणा,* अप्पडिहय-वर-नाण-दंसणधरेणं वियट्टछउमेणं जिणेणं, जाणएणं, बुद्धेणं, बोहएणं, मुत्तेणं, मोयगेणं, तिण्णेणं, तारएणं, सिव-मयल-मरुय-मणंत-मक्खय-मव्वाबाहमपुणरावत्तयं सासयं ठाणमुवगएणं, सिद्धि-गइ-नामधेज्जं ठाणं) संपत्तेणं।

छट्ठस्स अंगस्स नायाधम्मकहाणं अयमट्ठे पण्णत्ते सत्तमस्स णं भंते! अंगस्स उवासगदसाणं समणेणं जाव[1] संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते?

एवं खलु जम्बू! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव[2] संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासग-दसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा—

आणंदे कामदेवे य, गाहावइ-चुलणीपिया।
सुरादेवे चुल्लसयए, गाहावइ-कुंडकोलिए।
सद्दालपुत्ते महासयए, नंदिणीपिया सालिहीपिया॥

जइ णं भंते! समणेणं जाव[3] संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, पढमस्स णं भंते! समणेणं जाव[4] संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते?

१-२-३-४ इसी सूत्र में पूर्व वर्णित के अनुरूप।

* इससे आगे किसी-किसी प्रति में 'दीवो ताणं सरणगई पइट्ठा' यह पाठ अधिक उपलब्ध होता है।

उस समय आर्य सुधर्मा (श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी, जाति-सम्पन्न—उत्तम निर्मल मातृपक्ष युक्त, कुल-सम्पन्न—उत्तम निर्मल पितृपक्षयुक्त, बल-सम्पन्न—उत्तम दैहिक शक्तियुक्त, रूप-सम्पन्न—रूपवान्—सर्वांग सुन्दर, विनय-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, लज्जा-सम्पन्न, लाघव-सम्पन्न—हलके—भौतिक पदार्थ और कषाय आदि के भार से रहित, ओजस्वी, तेजस्वी, वचस्वी—प्रशस्त भाषी अथवा वर्चस्वी-वर्चस् या प्रभाव युक्त, यशस्वी, कोधजयी, मानजयी, मायाजयी, लोभजयी, निद्राजयी, इन्द्रियजयी, परिषहजयी—कष्टविजेता, जीवन की इच्छा और मृत्यु के भय से रहित, तप-प्रधान, गुण-प्रधान—संयम आदि गुणों की विशेषता से युक्त, करण-प्रधान—आहार-विशुद्धि आदि विशेषता सहित, चारित्र-प्रधान—उत्तम चारित्र-सम्पन्न—दश विध यति-धर्मयुक्त, निग्रह-प्रधान—राग आदि शत्रुओं के निरोधक, निश्चय-प्रधान—सत्य तत्त्व के निश्चित विश्वासी या कर्म-फल की निश्चितता में आश्वस्त, आर्जव-प्रधान—सरलता युक्त, मार्दव-प्रधान—मृदुता युक्त, लाघव-प्रधान—आत्मलीनता के कारण किसी भी प्रकार के भार से रहित या स्फूर्ति-शील, क्षान्ति-प्रधान—क्षमाशील, गुप्ति-प्रधान—मानसिक, वाचिक तथा कायिक प्रवृत्तियों के गोपक—विवेकपूर्वक उनका उपयोग करनेवाले, मुक्ति-प्रधान—कामनाओं से छूटे हुए या मुक्तता की ओर अग्रसर, विद्या-प्रधान—ज्ञान की विविध शाखाओं के पारगामी, मंत्र-प्रधान—सत् मंत्र, चिन्तना या विचारणा युक्त, ब्रह्मचर्य-प्रधान, वेद-प्रधान—वेद आदि लौकिक, लोकोत्तर शास्त्रों के ज्ञाता, नय-प्रधान—नैगम आदि नयों के ज्ञाता, नियम-प्रधान—नियमों के पालक, सत्य-प्रधान, शौच-प्रधान—आत्मिक शुचिता या पवित्रतायुक्त, ज्ञान-प्रधान—ज्ञान के अनुशीलक, दर्शन-प्रधान—क्षायिक सम्यक्त्वरूप विशेषता से युक्त, चारित्र-प्रधान—चारित्र की परिपालना में निरत, उराल—प्रबल—साधना में सशक्त, घोर—अद्भुत शक्ति-सम्पन्न, घोरगुण—परम उत्तम, जिन्हें धारण करने में अद्भुत शक्ति चाहिए, ऐसे गुणों के धारक, घोर तपस्वी—उग्र तप करने वाले, घोर ब्रह्मचर्यवासी—कठोर ब्रह्मचर्य के पालक, उत्क्षिप्त-शरीर—दैहिक सार-संभाल या सजावट आदि से रहित, विशाल तेजोलेश्या अपने भीतर समेटे हुए, चतुर्दश पूर्वधर-चौदह पूर्व-ज्ञान के धारक, चार—मति, श्रुत, अवधि तथा मनः पर्याय ज्ञान से युक्त स्थविर आर्य सुधर्मा, पांच सौ श्रमणों से संपरिवृत—घिरे हुए पूर्वानुपूर्व—अनुक्रम से आगे बढ़ते हुए, एक गांव से दूसरे गांव होते हुए, सुखपूर्वक विहार करते हुए, जहां चम्पा नगरी थी, पूर्णभद्र चैत्य था, पधारे। पूर्णभद्र चैत्य चम्पा नगरी के बाहर था, वहां भगवान् यथाप्रतिरूप—समुचित—साधुचर्या के अनुरूप आवास-स्थान ग्रहण कर ठहरे, संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए रहे।

उसी समय की बात है, आर्य सुधर्मा के ज्येष्ठ अन्तेवासी आर्य जम्बू नामक अनगार, जो काश्यप गोत्र में उत्पन्न थे, जिनकी देह को ऊंचाई सात हाथ थी, जो समचतुरस्र संस्थान-संस्थित-देह के चारों अंशों की सुसंगत, अंगों के परस्पर समानुपाती, सन्तुलित और समन्वित रचना-युक्त शरीर के धारक थे, जो वज्र-ऋषभ नाराच-संहनन-सुदृढ़ अस्थिबंध युक्त विशिष्ट देह-रचना युक्त थे, कसौटी पर अंकित स्वर्ण-रेखा की आभा लिए हुए कमल के समान जो गौरवर्ण थे, जो उग्र तपस्वी थे, दीप्त तपस्वी-कर्मों को भस्मसात् करने में अग्नि के समान प्रदीप्त तप करने वाले थे, तप्त तपस्वी-जिनकी देह पर तपश्चर्या की तीव्र झलक थी, जो महातपस्वी- प्रबल, घोर, घोर-गुण घोर-तपस्वी, घोर ब्रह्मचारी, उत्क्षिप्त-शरीर एवं संक्षिप्त-विपुल-तेजोलेश्य थे, स्थविर आर्य सुधर्मा के न अधिक दूर,

न अधिक निकट संस्थित हो, घुटने ऊंचे किये, मस्तक नीचे किए, ध्यान की मुद्रा में, संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए अवस्थित थे।

तब आर्य जम्बू अनगार के मन में श्रद्धापूर्वक इच्छा पैदा हुई, संशय-अनिर्धारित अर्थ में शंका-जिज्ञासा एवं कुतूहल पैदा हुआ। पुनः उनके मन में श्रद्धा का भाव उमड़ा, संशय उभरा, कुतूहल समुत्पन्न हुआ। वे उठे, उठकर जहां स्थविर आर्य सुधर्मा थे, आए। आकर स्थविर आर्य सुधर्मा को तीन वार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, वंदना-नमस्कार किया। वैसा कर भगवान् के न अधिक समीप, न अधिक दूर शुश्रूषा-सुनने की इच्छा रखते हुए, प्रणाम करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोड़े हुए, उनकी पर्युपासना-अभ्यर्थना करते हुए बोले—भगवन्! श्रमण भगवान् महावीर ने (जो आदिकर-सर्वज्ञता प्राप्त होने पर पहले पहल श्रुत-धर्म का शुभारम्भ करने वाले, तीर्थंकर—श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्म-तीर्थ के संस्थापक, स्वयं संबुद्ध—किसी बाह्य निमित्त या सहायता के बिना स्वयं बोध प्राप्त, विशिष्ट अतिशयों से सम्पन्न होने के कारण पुरुषोत्तम, शूरता की अधिकता के कारण पुरुषसिंह, सर्व प्रकार की मलिनता से रहित होने से पुरुषवरपुंडरीक-पुरुषों में श्रेष्ठ श्वेत कमल के समान, पुरुषों में श्रेष्ठ गंधहस्ती के समान, लोक-नाथ-जगत् के प्रभु, लोक-प्रतीप—लोक-प्रवाह के प्रतिकूलगामी—अध्यात्म-पथ पर गतिशील, अथवा लोकप्रदीप अर्थात् जनसमूह को प्रकाश देने वाले, लोक-प्रद्योतकर—लोक में धर्म का उद्योत फैलाने-वाले, अभयप्रद, शरणप्रद, चक्षुःप्रद—अन्तर्-चक्षु खोलने वाले, मार्गप्रद, संयम-जीवन तथा बोधि प्रदान करने वाले, धर्मप्रद, धर्मोपदेशक, धर्मनायक, धर्म-सारथि, तीन ओर महासमुद्र तथा एक ओर हिमवान् की सीमा लिये विशाल भूमण्डल के स्वामी चक्रवर्ती की तरह उत्तम धर्म-साम्राज्य के सम्राट्, प्रतिघात विसंवाद या अवरोध रहित उत्तम ज्ञान व दर्शन के धारक, घाति कर्मों से रहित, जिन—राग-द्वेष-विजेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धों के ज्ञाता अथवा ज्ञापक—राग आदि को जीतने का पथ बताने वाले, बुद्ध—बोधयुक्त, बोधक—बोधप्रद, मुक्त—बाहरी तथा भीतरी ग्रन्थियों से छूटे हुए, मोचक—मुक्तता के प्रेरक, तीर्ण—संसार-सागर को तैर जाने वाले, तारक—संसार-सागर को तैर जाने की प्रेरणा देने वाले, शिव-मंगलमय, अचल—स्थिर, अरुज्—रोग या विघ्न रहित, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध—बाधा रहित, पुनरावर्तन रहित सिद्धि-गति नामक शाश्वत स्थान के समीप पहुंचे हुए हैं, उसे संप्राप्त करने वाले हैं,) छठे अंग नायाधम्मकहाओ का जो अर्थ बतलाया, वह मैं सुन चुका हूं। भगवान् ने सातवें अंग उपासकदशा का क्या अर्थ व्याख्यात किया?

आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें अंग उपासकदशा के दस अध्ययन प्रज्ञप्त किये—बतलाए, जो इस प्रकार हैं—

१. आनन्द, २. कामदेव, ३. गाथापति चुलनीपिता, ४. सुरादेव, ५. चुल्लशतक, ६. गाथापति कुंडकौलिक, ७. सद्दालपुत्र, ८. महाशतक, ९. नन्दिनीपिता, १०. शालिहीपिता।

जम्बू ने फिर पूछा—भगवन्! श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें अंग उपासकदशा के जो दस अध्ययन व्याख्यात किए, उनमें उन्होंने पहले अध्ययन का क्या अर्थ—तात्पर्य कहा?

विवेचन

सामान्य वर्णन के लिए जैन आगमों में 'वण्णओ' द्वारा सूचन किया जाता है, जिससे अन्यत्र

वर्णित अपेक्षित प्रसंग को प्रस्तुत स्थान पर ले लिया जाता है। उसी प्रकार विशेषणात्मक वर्णन, विस्तार आदि के लिए 'जाव' शब्द द्वारा संकेत करने का भी जैन आगमों में प्रचलन है। संबंधित वर्णन को दूसरे आगमों से जहां वह आया हो, गृहीत कर लिया जाता है। यहां भगवान् महावीर, आर्य सुधर्मा और जंबू के विशेषणात्मक वर्णन 'जाव' शब्द से सूचित हुए हैं। ज्ञातृधर्मकथा, औपपातिक तथा राजप्रश्नीय सूत्र से ये विशेषणमूलक वर्णन यहां आकलित किए गए हैं। जैसा पहले सूचित किया गया है, संभवत: जैन आगमों की कंठस्थ परंपरा की सुविधा के लिए यह शैली स्वीकार की गई हो।

आनन्द गाथापति

३. एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे नामं नयरे होत्था। वण्णओ। तस्स वाणियगामस्स बहिया उत्तर-पुरत्थिमे दिसी-भाए दूइपलासए नामं चेइए। तत्थ णं वाणियगामे नयरे जियसत्तू राया होत्था। वण्णओ। तत्थ णं वाणियगामे आणंदे नामं गाहावई परिवसइ—अड्ढे जाव (दित्ते, वित्ते, विच्छिण्ण-विउल-भवण-सयणासण-जाण-वाहणे, बहु-धण-जायरूव-रयए, आओग-पओग-संपउत्ते, विच्छड्डिय-पउर-भत्त-पाणे, बहु-दासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूए बहु-जणस्स) अपरिभूए।

आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर विद्यमान थे, वाणिज्यग्राम नामक नगर था। उस नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में—ईशान कोण में दूतीपलाश नामक चैत्य था। जितशत्रु नामक वहां का राजा था। वहां वाणिज्यग्राम में आनन्द नामक गाथापति—सम्पन्न गृहस्थ रहता था। आनन्द धनाढ्य, (दीप्त—दीप्तिमान्-प्रभावशाली, सम्पन्न, भवन, शयन—ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र, आसन—बैठने के उपकरण, यान-माल-असबाब ढोने की गाड़ियां एवं वाहन—सवारियां आदि विपुल साधन-सामग्री तथा सोना, चांदी, सिक्के आदि प्रचुर धन का स्वामी था। आयोग-प्रयोग-संप्रवृत्त—व्यावसायिक दृष्टि से धन के सम्यक् विनियोग और प्रयोग में निरत—नीतिपूर्वक द्रव्य के उपार्जन में संलग्न था। उसके यहां भोजन कर चुकने के बाद भी खाने पीने के बहुत पदार्थ बचते थे। उसके घर में बहुत से नौकर, नौकरानियां, गायें, भैंसें, बैल, पाड़े, भेड़ें, बकरियां आदि थीं।) लोगों द्वारा अपरिभूत—अतिरस्कृत था—इतना रौबीला था कि कोई उसका तिरस्कार या अपमान करने का साहस नहीं कर पाता था।

विवेचन

इस प्रसंग में गाहावई (गाथापति) शब्द विशेष रूप से विचारणीय है। यह विशेषत: जैन साहित्य में ही प्रयुक्त है। गाहा+वई इन दो शब्दों के मेल से यह बना है। प्राकृत में 'गाहा' आर्या छन्द के लिए भी आता है और घर के अर्थ में भी प्रयुक्त है। इसका एक अर्थ प्रशस्ति भी है। धन, धान्य, समृद्धि, वैभव आदि के कारण बड़ी प्रशस्ति का अधिकारी होने से भी एक संपन्न, समृद्ध गृहस्थ के लिए इस शब्द का प्रयोग टीकाकारों ने माना है। पर, गाहा का अधिक संगत अर्थ घर ही प्रतीत होता है।

इस प्रसंग से ऐसा प्रकट होता है कि खेती तथा गो-पालन का कार्य तब बहुत उत्तम माना जाता था। समृद्ध गृहस्थ इसे रुचिपूर्वक अपनाते थे।

वैभव

४. तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ वुड्ढि-पउत्ताओ; चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया, दसगोसा-हस्सिएणं वएणं होत्था।

आनन्द गाथापति का चार करोड़ स्वर्ण खजाने में रक्खा था, चार करोड़ स्वर्ण व्यापार में लगा था, चार करोड़ स्वर्ण घर के वैभव—धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि साधन सामग्री में लगा था। उसके चार व्रज—गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में दस हजार गायें थीं।

विवेचन

यहां प्रयुक्त हिरण्ण (हिरण्य)—स्वर्ण का अभिप्राय उन सोने के सिक्कों से है, जो उस समय प्रचलित रहे हों। सोने के सिक्कों का प्रचलन इस देश में बहुत पुराने समय से चला आ रहा है। भगवान् महावीर के समय के पश्चात् भी भारत में सोने के सिक्के चलते रहे। विदेशी शासकों ने भारत में जो सोने का सिक्का चलाया उसे दीनार कहा जाता था। संस्कृत भाषा में 'दीनार' शब्द ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। मुसलमान बादशाहों के शासन-काल में जो सोने का सिक्का चला, वह मोहर या अशरफी कहा जाता था। उसके बाद भारत में सोने के सिक्कों का प्रचलन बन्द हो गया।

सामाजिक प्रतिष्ठा

५. से णं आणंदे गाहावई बहूणं राईसर-जाव (तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ) सत्थवाहाणं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य मंतेसु य कुडुंबेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे सयस्स वि य णं कुडुंबस्स मेढी, पमाणं, आहारे, आलंबणं, चक्खू, मेढीभूए जाव (पमाणभूए, आहारभूए, आलंबणभूए, चक्खुभूए) सव्व-कज्ज-वड्ढावए यावि होत्था।

आनन्द गाथापति बहुत से राजा—मांडलिक नरपति, ईश्वर—ऐश्वर्यशाली एवं प्रभावशील पुरुष (तलवर—राज-सम्मानित विशिष्ट नागरिक, मांडविक या माडंबिक—जागीरदार भूस्वामी, कौटुम्बिक—बड़े परिवारों के प्रमुख, इभ्य—वैभवशाली, श्रेष्ठी—सम्पत्ति और सुव्यवहार से प्रतिष्ठा प्राप्त सेठ, सेनापति) तथा सार्थवाह—अनेक छोटे व्यापारियों को साथ लिए देशान्तर में व्यवसाय करने वाले समर्थ व्यापारी—इन सबके अनेक कार्यों में, कारणों में, मंत्रणाओं में, पारिवारिक समस्याओं में, गोपनीय बातों में, एकान्त में विचारणीय—सार्वजनिक रूप में अप्रकटनीय विषयों में, किए गए निर्णयों में तथा परस्पर के व्यवहारों में पूछने योग्य एवं सलाह लेने योग्य व्यक्ति था। वह सारे परिवार का मेढि—मुख्य-केन्द्र, प्रमाण—स्थिति-स्थापक—प्रतीक, आधार, आलंबन, चक्षु—मार्ग-दर्शक, मेढिभूत (प्रमाणभूत, आधारभूत, आलंबनभूत, चक्षुभूत) तथा सर्व-कार्य-वर्धापक—सब प्रकार के कार्यों को आगे बढ़ानेवाला था।

विवेचन

यहां प्रयुक्त 'तलवर' आदि शब्द उस समय के विशिष्ट जनों के रूप को प्रकट करते हैं। यह विशेषता विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित थी। आर्थिक, व्यापारिक, शासनिक, व्यावहारिक तथा लोक-संपर्कपरक उन सभी विशेषताओं का संकेत इन शब्दों में प्राप्त होता है, जिनका उस समय के समाज में महत्त्व और आदर था। आनन्द के व्यापक, प्रभावशाली और आदरणीय व्यक्तित्व का इस प्रसंग से स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। वह इतना उदार, गंभीर और ऊंचे विचारों का व्यक्ति था कि सभी प्रकार के विशिष्ट जन अपने कार्यों में उसे पूछना, उससे सलाह लेना उपयोगी मानते थे।

इस प्रसंग में एक दूसरी महत्त्व की बात यह है, जो आनन्द के पारिवारिक जीवन की एकता पारस्परिक निष्ठा और मेल पर प्रकाश डालती है। आनन्द सारे परिवार का केन्द्र-बिन्दु था तथा परिवार के विकास और संवर्धन में तत्पर रहता था। आनन्द के लिए मेढि की उपमा यहां काफी महत्त्वपूर्ण है। मेढि उस काष्ठ-दंड को कहा जाता है, जिसे खलिहान के बीचोबीच गाड़ कर, जिससे बांधकर बैलों को अनाज निकालने के लिए चारों ओर घुमाया जाता है। उसके सहारे बैल गतिशील रहते हैं। परिवार में यही स्थिति आनन्द की थी।

शिवनन्दा

६. तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स सिवनंदा नामं भारिया होत्था, अहीण-जाव (पडिपुण्ण-पंचिंदिय-सरीरा, लक्खण-वंजण-गुणोववेया, माणुम्माणप्पमाण-पडिपुण्ण-सुजाय-सव्वंग-सुंदरंगी, ससि-सोमाकार-कंत-पिय-दंसणा) सुरूवा। आणंदस्स गाहावइस्स इट्ठा, आणंदेणं गाहावइणा सद्धि अणुरत्ता, अविरत्ता, इट्ठे जाव (सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे) पंचविहे माणुस्सए काम-भोए पच्चणुभवमाणी विहरइ।

आनन्द गाथापति की शिवनन्दा नामक पत्नी थी, (उसके शरीर की पांचों इन्द्रियां अहीन-प्रतिपूर्ण—रचना की दृष्टि से अखंडित, सम्पूर्ण, अपने-अपने विषयों में सक्षम थीं, वह उत्तम लक्षण-सौभाग्यसूचक हाथ की रेखाएं आदि, व्यंजन—उत्कर्षसूचक तिल, मस आदि चिह्न तथा गुण—शील, सदाचार, पातिव्रत्य आदि से युक्त थी। दैहिक फैलाव, वजन, ऊंचाई, आदि की दृष्टि से वह परिपूर्ण, श्रेष्ठ तथा सर्वांगसुन्दरी थी। उसका आकार—स्वरूप चन्द्र के समान सौम्य तथा दर्शन कमनीय था)। ऐसी वह रूपवती थी। आनन्द गाथापति की वह इष्ट—प्रिय थी। वह आनन्द गाथापति के प्रति अनुरक्त—अनुरागयुक्त—अत्यन्त स्नेहशील थी। पति के प्रतिकूल होने पर भी वह कभी विरक्त—अनुरागशून्य—रुष्ट नहीं होती थी। वह अपने पति के साथ इष्ट—प्रिय (शब्द, स्पर्श, रस, रूप तथा गन्धमूलक) पांच प्रकार के सांसारिक काम भोग भोगती हुई रहती थी।

विवेचन

प्रस्तुत प्रसंग में नारी के उस प्रशस्त स्वरूप का संक्षेप में बड़ा सुन्दर चित्रण है, जिसमें सौन्दर्य और शील दोनों का समावेश है। इसी में नारी की परिपूर्णता है।

यहां प्रयुक्त 'अविरक्त' विशेषण पति के प्रति पत्नी के समर्पण-भाव तथा नारी के उदात्त व्यक्तित्व का सूचक है।

कोल्लाक सन्निवेश—

७. तस्स णं वाणियगामस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसी-भाए एत्थ णं कोल्लाए नामं सन्निवेसे होत्था। रिद्ध-त्थिमिय जाव (समिद्धे, पमुइय-जण-जाणवये, आइण्ण-जण-मणुस्से, हल-सय-सहस्स-संकिट्ठ-विकिट्ठ-लट्ठ-पण्णत्त-सेउसीमे, कुक्कुड-संडेय-गाम-पउरे, उच्छु-जव-सालि-कलिये, गो-महिस-गवेलग-प्पभूये, आयारवन्त-चेइय-जुवइ-विविह-सण्णिविट्ठ-बहुले, उक्कोडिय-गाय-गंठि-भेय-भड-तक्कर-खंडरक्खरहिये, खेमे, णिरुवद्दवे, सुभिक्खे, वीसत्थसुहावासे, अणेग-कोडि-कुडुंबियाइण्ण-णिव्वुय-सुहे, नड-नट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबय-कहग-पवग--लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-अणेग-तालायराणुचरिये, आरामुज्जाण-अगड-तलाग-दीहिय-वप्पिणि-गुणोववेये, नंदणवण-सन्निभ-प्पगासे, उव्विद्ध-विउल-गंभीर-खाय-फलिहे, चक्क-गय-भुसुंढि-ओरोह-सयग्घि-जमल-कवाड-घण-दुप्पवेसे, धणु-कुडिल-वंक-पागार-परिक्खित्ते, कविसीसय-वट्ट-रइय-संठिय-विरायमाणे, अट्टालय-चरिय-दार-गोपुर-तोरण-उण्णय-सुविभत्त-रायमग्गे, छेयायरिय-रइय-दढ-फलिह-इंदकीले, विवणि-वणिच्छेत्त-सिप्पियाइण्ण-निव्वुयसुहे, सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-पणियावण-विविह-वत्थु-परिमंडिये, सुरम्मे, नरवइ-पविइण्ण-महिवइ-पहे, अणेगवर-तुरग-मत्तकुंजर-रह-पहकर-सीय-संदमाणीयाइण्ण-जाण-जुग्गे, विमउल-णवणलिणिसोभियजले, पंडुरवरभवण-सण्णिमहिये, उत्ताणणयणपेच्छणिज्जे,) पासादीए, दरिसणिज्जे, अभिरूवे, पडिरूवे।

वाणिज्यग्राम के बाहर उत्तर-पूर्व दिशाभाग—ईशान कोण में कोल्लाकनामक सन्निवेश—उपनगर था। वह वैभवशाली, सुरक्षित एवं समृद्ध था। वहां के नागरिक और जनपद के अन्य भागों से आए व्यक्ति वहां आमोद-प्रमोद के प्रचुर साधन होने से प्रमुदित रहते थे, लोगों की वहां घनी आबादी थी, सैकड़ों, हज़ारों हलों से जुती उसकी समीपवर्ती भूमि सहजतया सुन्दर मार्ग-सीमा सी लगती थी, वहां मुर्गों और युवा सांड़ों के बहुत से समूह थे, उसके आसपास की भूमि ईख, जौ और धान के पौधों से लहलहाती थी, वहां गायों, भैंसों और भेड़ों की प्रचुरता थी, वहां सुन्दर शिल्पकला युक्त चैत्यों और युवतियों के विविध सन्निवेशों—पण्य तरुणियों के पाड़ों—टोलों का बाहुल्य था, वह रिश्वतखोरों गिरहकटों, बटमारों, चोरों, खंड-रक्षकों—चुंगी वसूल करनेवालों से रहित, सुख-शान्तिमय एवं उपद्रवशून्य था, वहां भिक्षुकों को भिक्षा सुखपूर्वक प्राप्त होती थी, इसलिए वहां निवास करने में सब सुख मानते थे, आश्वस्त थे। अनेक श्रेणी के कौटुम्बिक—पारिवारिक लोगों की घनी वस्ती होते हुए भी वह शान्तिमय था, नट—नाटक दिखाने वाले, नर्त्तक—नाचने वाले, जल्ल—कलावाज—रस्सी आदि पर चढ़कर कला दिखाने वाले, मल्ल—पहलवान, मौष्टिक—मुक्के बाज, विडंवक—विदूषक—मसखरे, कथक—कथा कहने वाले, प्लवक—उछलने या नदी आदि में तैरने का प्रदर्श करने वाले, लासक—वीर रस की गाथाएं या रास गाने वाले, आख्यायक—शुभ-अशुभ बताने वाले, लंख—बांस के सिरे पर खेल दिखाने वाले, मंख—चित्रपट दिखा कर आजीविका चलाने वाले, तूणइल्ल-तूण नामक तन्तु-वाद्य बजाकर आजीविका करने वाले, तुंब-वीणिक—तुंब-वीणा या पूंगी बजाने वाले, तालाचर—ताली बजाकर मनोविनोद करने वाले आदि अनेक जनों से वह सेवित था। आराम—क्रीडा-वाटिका, उद्यान—बगीचे, कुए, तालाब, बावड़ी, जल के छोटे-छोटे बांध—इनसे युक्त था, नन्दनवन सा लगता था, वह ऊंची, विस्तीर्ण और गहरी खाई से युक्त था, चक्र, गदा भुसुंडि—पत्थर फेंकने का एक विशेष शस्त्र—गोफिया, अवरोध—अन्तर्-प्राकार—

शत्रु-सेना को रोकने के लिए परकोटे जैसा भीतरी सुदृढ आवरक साधन, शतघ्नी—महायष्टि या महाशिला, जिसके गिराए जाने पर सैकड़ों व्यक्ति दब-कुचलकर मर जाएं, और द्वार के छिद्र रहित कपाटयुगल के कारण जहां प्रवेश कर पाना दुष्कर था, धनुष जैसे टेढ़े परकोटे से वह घिरा हुआ था, उस परकोटे पर गोल आकार के बने हुए कपिशीर्षकों से वह सुशोभित था, उसके राजमार्ग, अट्टालक—परकोटे के ऊपर निर्मित आश्रय-स्थानों—गुमटियों, चरिक—परकोटे के मध्य बने हुए आठ हाथ चौड़े मार्गों, परकोटे में बने हुए छोटे द्वारों—बारियों, गोपुरों—नगर-द्वारों, तोरण—द्वारों से सुशोभित और सुविभक्त थे, उसकी अर्गला और इन्द्रकील—गोपुर के किवाड़ों के आगे जड़े हुए नुकीले भाले जैसी कीलें, सुयोग्य शिल्पाचार्यों—निपुण शिल्पियों द्वारा निर्मित थीं, विपणि—हाट-मार्ग, वणिक्-क्षेत्र—व्यापार-क्षेत्र, बाजार आदि के कारण तथा बहुत से शिल्पियों, कारीगरों के आवासित होने के कारण वह सुख-सुविधापूर्ण था, तिकोने स्थानों, तिराहों, चौराहों चत्वरों—जहां चार से अधिक रास्ते मिलते हों, ऐसे स्थानों, वर्तन आदि की दूकानों तथा अनेक प्रकार की वस्तुओं से परिमंडित—सुशोभित और रमणीय था। राजा की सवारी निकलते रहने के कारण उसके राजमार्गों पर भीड़ लगी रहती थी, वहां अनेक उत्तम घोड़े, मदोन्मत्त हाथी, रथ—समूह, शिविका—पर्देदार पालखियां, स्यन्दमानिका—पुरुष-प्रमाण पालखियां, यान—गाड़ियां तथा युग्य—पुरातन कालीन गोल्ल देश में सुप्रसिद्ध दो हाथ लम्बे—चौड़े डोली जैसे यान—इनका जमघट लगा रहता था। वहां खिले हुए कमलों से शोभित जल—जलाशय थे, सफेदी किए हुए उत्तम भवनों से वह सुशोभित, अत्यधिक सुन्दरता के कारण निर्निमेष नेत्रों से प्रेक्षणीय,) चित्त को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, अभिरूप—मनोज्ञ—मन को अपने में रमा लेनेवाला तथा प्रतिरूप—मन में बस जाने वाला था।

८. तत्थ णं कोल्लाए सन्निवेसे आणंदस्स गाहावइस्स बहुए मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परिजणे परिवसइ, अड्ढे जाव[1] अपरिभूए।

वहां कोल्लाक सन्निवेश में आनन्द गाथापति के अनेक मित्र, ज्ञातिजन—समान आचार-विचार के स्वजातीय लोग, निजक—माता, पिता, पुत्र, पुत्री आदि, स्वजन-बन्धु-बान्धव आदि, सम्बन्धी—श्वशुर, मातुल आदि, परिजन—दास, दासी आदि निवास करते थे, जो समृद्ध एवं सुखी थे।

भगवान् महावीर का समवसरण

९. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव (आइगरे, तित्थगरे, सयंसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे, पुरिस-सीहे, पुरिस-वर-पुंडरीए, पुरिस-वर-गंधहत्थीए, अभयदए, चक्खुदए, मग्गदए, सरणदए, जीवदए, दीवोत्ताणं, सरण-गई-पइट्ठा, धम्म—वर—चाउरंत—चक्कवट्टी, अप्पडिहय—वर—नाण—दंसणधरे, विअट्ट-च्छउमे, जिणे, जाणए, तिण्णे, तारए, मुत्ते, मोयए, बुद्धे, बोहए, सव्वण्णू, सव्वदरिसी, सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तयं, सिद्धि—गइ—नामधेयं ठाणं संपाविउकामे, अरहा, जिणे, केवली, सत्तहत्थुस्सेहे, सम—चउरंस—संठाण—संठिए, वज्ज—रिसह—नाराय—संघयणे, अणुलोमवाउवेगे, कंक—ग्गहणे, कवोय—परिणामे, सउणि—पोस—पिट्ठंतरोरु—परिणए, पउमुप्पल—गंध—सरिस—निस्सास—सुरभि—वयणे, छवी, निरायंक—उत्तम—पसत्थ—

---

१. देखें सूत्र-संख्या ३

असेय-निरुवम-पले, जल्ल—मल्ल—कलंक—सेय-रय-दोस-वज्जिय-सरीरे, निरुवलेवे, छाया-उज्जोइयं-गमंगे, घण—निचिय—सुबद्ध—लक्खणुन्नय—कूडागार—निभ—पिंडियग्गसिरए, सामलि—बोंड—घण—निचिय—फोडिय—मिउ—विसय—पसत्थ—सुहुम—लक्खण— सुगंध—सुंदर— भुयमोयग—भिंग-नील—कज्जल—पहिट्ठ—ममर—गण—निद्ध— निकुरंब—निचिय—कुंचिय—पयाहिणावत्त—मुद्ध—सिरए, दाडिम—पुप्फ—पकास—तवणिज्ज—सरिस—निम्मल—सुणिद्ध—केसंत—केसभूमी, घण-निचिय-छत्तागारुत्तमंगदेसे, णिव्वण—सम—लट्ठ—मट्ठ—चंदद्ध—सम—णिडाले, उडुवइ—पडिपुण्ण—सोम-वदणे, अल्लीण—पमाणजुत्त—सवणे, सुस्सवणे, पीण—मंसल—कवोल—देसभाए, आणामिय— चाव—रुइल—किण्हब्भ-राइ—तणु-कसिण-णिद्ध-भमुहे, अवदालिय—पुंडरीय—णयणे, कोयासिय—धवल—पत्तलच्छे, गरुलायत-उज्जु—तुंग—णासे, उवचिय-सिलप्पवाल—बिंबफल—सण्णिभाधरोहे, पंडुर—ससि-सयल—विमल—निम्मल-संख-गोक्खीर—फेण—कुंद—दग—रय-मुणालिया-धवल—दंत—सेढी, अखंड—दंते, अप्फुडिय-दंते, अविरल—दंते, सुणिद्ध—दंते, सुजाय—दंते, एग-दंत—सेढीविव-अणेग—दंते, हुयवह-णिद्धंत—धोय—तत्त—तवणिज्ज—रत्ततल-तालु-जीहे, अवट्ठिय-सुविभत्त-चित्त-मंसू, मंसल-संठिय-पसत्थ—सद्दूल—विउल—हणुए, चउरंगुल—सुप्पमाण—कंबू— वर—सरिस-ग्गीवे, वर—महिस—वराह—सीह—सद्दूल—उसभ—नाग—वर—पडिपुण्ण—विउल—क्खंधे, जुग—सन्निभ—पीण—रइय-पीवर—पउट्ठ—संट्ठिय—सुसिलिट्ठ-विसिट्ठ- घण—थिर—सुबद्ध—संधि—पुर—वर-फलिह-वट्टिय—भुए, भुय-ईसर-विउल—भोग—आदान—फलिह-उच्छूढ-दीह—बाहू, रत्त—तलोवइय—मउय-मंसल-सुजाय- लक्खण—पसत्थ—अच्छिद्द-जाल-पाणी, पीवर-कोमल-वरंगुली, आयंबतंब-तलिण-सुइ-रुइल-णिद्ध-णक्खे, चंद-पाणि—लेहे, सूर—पाणि-लेहे, संख—पाणि—लेहे, चक्क—पाणि-लेहे, दिसा—सोत्थिय—पाणि—लेहे, चंद—सूर-संख—चक्क-दिसा—सोत्थिय-पाणि—लेहे, कणग—सिला—तलुज्जल—पसत्थ—समतल-उवचिय—विच्छिण्ण—पिहुल-वच्छे, सिरिवच्छ—कियवच्छे, अकरंडुय—कणग-रुइय—निम्मल—सुजाय—निरुवहय—देहधारी, अट्ठसहस्स—पडिपुण्ण—वरपुरिस—लक्खणधरे, सणय-पासे, संगय-पासे, सुंदर-पासे, सुजाय-पासे, मिय—माइय—पीण—रइय—पासे, उज्जुय-सम-सहिय-जच्च—तणु—कसिण-णिद्ध—आइज्ज-लडह—रमणिज्ज—रोम—राई, झसविहग—सुजाय—पीण—कुच्छी, झसोयरे, सुइ—करणे, पउम—वियड—णाभे, गंगावत्तक-पयाहिणावत्त—तरंग-भंगुर—रवि-किरण-तरुण—बोहिय—अकोसायंत—पउम—गंभीर—वियड-णाभे, साहय—सोणंद—मुसल—दप्पण-णिकरिय-वर-कणग-च्छरु-सरिस-वर-वइर-वलिअ—मज्झे पमुइय—वर—तुरय-सीह-वर-वट्टिय-कडी, वरतुरग-सुजाय-गुज्झ-देशे, आइणहउच्च—णिरुवलेवे, वर-वारण-तुल्ल—विक्कम—विलसिय-गई, गय-ससण-सुजाय-सन्निभोरू, समुग्ग-णिमग्ग-गूढ-जाणू, एणी—कुरुविंदावत्त—वट्टाणुपुव्व—जंघे, संठिय—सुसिलिट्ठ-गूढ-गुप्फे, सुपइट्ठिय—कुम्म—चारु—चलणे, अणुपुव्व-सुसंहयंगुलीए, उण्णय—तणु—तंब-णिद्ध-णक्खे, रत्तुप्पल-पत्त—मउअ—सुकुमाल कोमल-तले, अट्ठ-सहस्स-वर-पुरिस-लक्खणधरे, नग-नगर-मगर-सागर-चक्कंक—वरंक-मंगलंकय—चलणे, विसिट्ठ—रूवे, हुयवह—निद्धूम—जलिय—तडि-तडिय-तरुण-रवि-किरण-सरिस-तेए, अणासवे, अममे, अकिंचणे, छिन्न—सोए, निरुवलेवे, ववगय-पेम-राग-दोस-मोहे, निग्गंथस्स पवयणस्स देसए, सत्थ-नायगे, पइट्ठावए, समणग—पई, समण-विंद-परिअट्टए चउत्तीस—बुद्ध—वयणातिसेसपत्ते, पणतीस-सच्च-वयणातिसे-सपत्ते, आगास-गएणं चक्केणं, आगास-गएणं छत्तेणं, आगास-गयाहिं सेय-चामराहिं, आगास-फलिआ-गएणं, सपायपीढेणं, सीहासणेणं, धम्मज्झएणं पुरओ पकढिज्जमाणेणं, चउद्दसहिं समण—सहस्सीहिं,

छत्तीसाए अज्जिया-सहस्सीहिं सद्धि संपरिवुडे, पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे, सुहंसुहेणं विहरमाणे) समोसरिए।

परिसा निग्गया। कूणिए राया जहा, तहा जियसत्तू निग्गच्छइ। निग्गच्छित्ता जाव (जेणव दूइपलासए चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्ताईए तित्थयरातिसेसे पासइ, पासित्ता आभिसेक्कं हत्थि-रयणं ठवेइ, ठवित्ता आभिसेक्काओ हत्थि-रयणाओ पच्चोरुहइ, आभिसेक्काओ हत्थि-रयणाओ पच्चोरुहित्ता अवहट्टु पंच-राय-ककुहाइं, तं जहा—खग्गं, छत्तं उप्फेसं, वाहणाओ, बालवीयणं, जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव, उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ, तं जहा—सच्चित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, एगसाडियं उत्तरासंगं करणेणं, चक्खुफासे अंजलि-पग्गहेणं, मणसो एगत्त-भाव-करणेणं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ, तं जहा—काइआए, वाइआए, माणसिआए। काइआए ताव संकुइयग्गहत्थ-पाए, सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइ, वाइआए—जं जं भगवं वागरेइ, तं तं एवमेयं भंते! तहमेयं भंते! अवितहमेयं भंते! असंदिद्धमेयं भंते! इच्छियमेयं भंते! पडिच्छियमेयं भंते! इच्छिय-पडिच्छियमेयं भंते! से जहेयं तुब्भे वदह, अपडिकूलमाणे पज्जुवासइ, माणसियाए महया संवेगं जणइत्ता तिव्व-धम्माणुराग-रत्ते) पज्जुवासइ।

उस समय श्रमण—घोर तप या साधना रूप श्रम में निरत, भगवान्—आध्यात्मिक ऐश्वर्य सम्पन्न, महावीर—उपद्रवों तथा विघ्नों के बीच साधना-पथ पर वीरतापूर्वक अविचल भाव से गतिमान् (आदिकर—अपने युग में धर्म के आद्य प्रवर्तक, तीर्थंकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्म-तीर्थ-धर्मसंघ के प्रतिष्ठापक, स्वयं संबुद्ध—स्वयं बिना किसी अन्य निमित्त के बोध-प्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम, पुरुष सिंह-आत्म-शौर्य में पुरुषों में सिंह-सदृश, पुरुषवर-पुंडरीक-मनुष्यों में रहते हुए कमल की तरह निर्लेप—आसक्तिशून्य, पुरुषवर-गंधहस्ती—पुरुषों में उत्तम गन्धहस्ती के सदृश-जिस प्रकार गन्धहस्ती के पहुंचते ही सामान्य हाथी भाग जाते हैं, उसी प्रकार किसी क्षेत्र में जिनके प्रवेश करते ही दुर्भिक्ष, महामारी आदि अनिष्ट दूर हो जाते थे, अर्थात् अतिशय तथा प्रभावपूर्ण उत्तम व्यक्तित्व के धनी, अभयप्रदायक—सभी प्राणियों के लिए अभय-प्रद-संपूर्णत: अहिंसक होने के कारण किसी के लिए भय उत्पन्न नहीं करने वाले, चक्षु-प्रदायक-आन्तरिक नेत्र—सद् ज्ञान देने वाले, मार्ग-प्रदायक सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप साधना-पथ के उद्बोधक, शरणप्रद—जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनों के लिए आश्रयभूत, जीवनप्रद—आध्यात्मिक जीवन के संबल, दीपक सदृश समस्त वस्तुओं के प्रकाशक अथवा संसार-सागर में भटकते जनों के लिए द्वीप के समान आश्रयस्थान, प्राणियों के लिए आध्यात्मिक उद्बोधन के नाते शरण, गति एवं आधारभूत, चार अन्त-सीमा युक्त पृथ्वी के अधिपति के समान धार्मिक जगत् के चक्रवर्ती, प्रतिघात—बाधा या आवरण रहित उत्तम ज्ञान, दर्शन आदि के धारक, व्यावृत्तछद्मा—अज्ञान आदि आवरण रूप छद्म से अतीत, जिन—राग आदि के जेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धों के ज्ञाता अथवा ज्ञापक-राग आदि को जीतने का पथ बताने वाले, तीर्ण—संसार-सागर को पार कर जानेवाले, तारक—संसार-सागर से पार उतारने वाले, मुक्त—बाहरी और भीतरी ग्रंथियों से

छूटे हुए, मोचक—दूसरों को छुड़ाने वाले, बुद्ध—बोद्धव्य—जानने योग्य का बोध प्राप्त किये हुए, बोधक—औरों के लिए बोधप्रद, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव—कल्याणमय, अचल—स्थिर, निरुपद्रव, अन्तरहित, क्षयरहित, बाधारहित, अपुनरावर्तन—जहाँ से फिर जन्म-मरण रूप संसार में आगमन नहीं होता, ऐसी सिद्धि-गति—सिद्धावस्थानामक स्थिति पाने के लिए संप्रवृत्त, अर्हंत्—पूजनीय, रागादिविजेता, जिन, केवली—केवलज्ञान युक्त, सात हाथ की दैहिक ऊंचाई से युक्त, समचौरस संस्थान-संस्थित, वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन—अस्थि बन्ध युक्त, देह के अन्तर्वर्ती पवन के उचित वेग-गतिशीलता से युक्त, कंक पक्षी की तरह निर्दोष गुदाशय युक्त, कबूतर की तरह पाचनशक्ति युक्त, उनका अपान-स्थान उसी तरह निर्लेप था जैसे पक्षीका, पीठ और पेट के बीच के दोनों पार्श्व तथा जंघाएं सुपरिणत-सुन्दर-सुगठित थीं, उनका मुख पद्म-कमल अथवा पद्मनामक सुगन्धित द्रव्य तथा उत्पल—नील कमल या उत्पलकुष्ट नामक सुगन्धित द्रव्य जैसी सुरभिमय निःश्वास से युक्त था, छवि-उत्तम छविमान्-उत्तम त्वचा युक्त, नीरोग. उत्तम, प्रशस्त, अत्यन्त श्वेत मांस युक्त, जल्ल—कठिनाई से छूटने वाला मैल, मल्ल—आसानी से छूटनेवाला मैल, कलंक—दाग, धब्बे, स्वेद—पसीना तथा रज-दोष—मिट्टी लगने से विकृति-वर्जित शरीर युक्त, अत एव निरुपलेप—अत्यन्त स्वच्छ, दीप्ति से उद्योतित प्रत्येक अंगयुक्त, अत्यधिक सघन, सुबद्ध स्नायुबंध सहित उत्तम लक्षणमय पर्वत के शिखर के समान उन्नत उनका मस्तक था, बारीक रेशों से भरे सेमल के फल के फटने से निकलते हुए रेशों जैसी कोमल, विशद, प्रशस्त, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण—मुलायम, सुरभित, सुन्दर, भुजमोचक, नीलम, भिंग नील, कज्जल प्रहृष्ट—सुपुष्ट भ्रमरवृन्द जैसे चमकीले काले, घने, घुंघराले, छल्लेदार केश उनके मस्तक पर थे, जिस त्वचा पर उनके बाल उगे हुए थे, वह अनार के फूल तथा सोने के समान दीप्तिमय, लाल, निर्मल और चिकनी थी, उनका उत्तमांग—मस्तक का ऊपरी भाग सघन, भरा हुआ और छत्राकार था, उनका ललाट निर्व्रण-फोड़े—फुन्सी आदि के घाव—चिह्न से रहित, समतल तथा सुन्दर एवं शुद्ध अर्द्ध चन्द्र के सदृश भव्य था, उनका मुख पूर्ण चन्द्र के समान सौम्य था, उनके कान मुख के साथ सुन्दर रूप में संयुक्त और प्रमाणोपेत—समुचित आकृति के थे, इसलिए वे बड़े सुन्दर लगते थे, उनके कपोल मांसल और परिपुष्ट थे, उनकी भौंहें कुछ खींचे हुए धनुष के समान सुन्दर-टेढ़ी, काले बादल की रेखा के समान कृश—पतली, काली एवं स्निग्ध थीं, उनके नयन खिले हुए पुंडरीक-सफेद कमल के समान थे, उनकी आंखें पद्म—कमल की तरह विकसित धवल तथा पत्रल—बरौनी युक्त थीं, उनकी नासिका गरुड़ की तरह—गरुड़ की चोंच की तरह लम्बी, सीधी और उन्नत थी, संस्कारित या सुघटित मूंगे की पट्टी-जैसे या बिम्ब फल के सदृश उनके होठ थे, उनके दांतों की श्रेणी निष्कलंक चन्द्रमा के टुकड़े, निर्मल से भी निर्मल शंख, गाय के दूध, फेन, कुंद के फूल, जलकण और कमलनाल के समान सफेद थी, दांत अखंड, परिपूर्ण, अस्फुटित—सुदृढ, टूट फूट रहित, अविरल—परस्पर सटे हुए, सुस्निग्ध—चिकने—आभामय सुजात—सुन्दराकार थे, अनेक दांत एक दन्त-श्रेणी की तरह प्रतीत होते थे, जिह्वा और तालु अग्नि में तपाये हुए और जल से धोये हुए स्वर्ण के समान लाल थे, उनकी दाढ़ी-मूंछ अवस्थित-कभी नहीं बढ़ने वाली, सुविभक्त बहुत हलकी-सी तथा अद्भुत सुन्दरता लिए हुए थी, ठुड्डी मांसल—सुपुष्ट, सुगठित, प्रशस्त तथा चीते की तरह विपुल—विस्तीर्ण थी, ग्रीवा—गर्दन चार अंगुल प्रमाण—चार अंगुल चौड़ी तथा उत्तम शंख के समान त्रिबलियुक्त एवं उन्नत थी, उनके कन्धे प्रबल भैंसे, सूअर, सिंह, चीते, सांड के तथा उत्तम हाथी के कन्धों जैसे परिपूर्ण एवं विस्तीर्ण थे, उनकी भुजाएं युग-गाड़ी के जुए अथवा यूप—यज्ञ

स्तम्भ—खूंटे की तरह गोल और लम्बे, सुदृढ़, देखने में आनन्द प्रद, सुपुष्ट कलाइयों से युक्त, सुश्लिष्ट—सुसंगत, विशिष्ट, घन—ठोस, स्थिर, स्नायुओं से यथावत् रूप में सुवद्ध तथा नगर की अर्गला—आगल के समान गोलाई लिए हुए थीं, इच्छित वस्तु प्राप्त करने के लिए नागराज के फैले हुए विशाल शरीर की तरह उनके दीर्घ बाहु थे, उनके पाणि—कलाई से नीचे के हाथ के भाग उन्नत, कोमल, मांसल तथा सुगठित थे, शुभ लक्षणों से युक्त थे, अंगुलियाँ मिलाने पर उनमें छिद्र दिखाई नहीं देते थे, उनके तल—हथेलियाँ ललाई लिए हुए थीं, हाथों की अंगुलियाँ पुष्ट और सुकोमल थीं, उनके नख तांबे की तरह कुछ-कुछ ललाई लिए हुए, पतले, उजले, रुचिर—देखने में रुचिकर, स्निग्ध, सुकोमल थे, उनकी हथेली में चन्द्र, सूर्य, शंख, चक्र, दक्षिणावर्त स्वस्तिक की शुभ रेखाएं थीं, उनका वक्षस्थल—सीना स्वर्ण-शिला के तल के समान उज्ज्वल, प्रशस्त, समतल, उपचित—मांसल, विस्तीर्ण—चौड़ा, पृथुल—[विशाल] था, उस पर श्रीवत्स—स्वस्तिक का चिह्न था, देह की मांसलता या परिपुष्टता के कारण रीढ़ की हड्डी नहीं दिखाई देती थी, उनका शरीर स्वर्ण के समान कान्तिमान्, निर्मल, सुन्दर, निरुपहत—रोग-दोष-वर्जित था, उसमें उत्तम पुरुष के १००८ लक्षण पूर्णतया विद्यमान थे, उनकी देह के पार्श्व भाग—पसवाड़े नीचे की ओर क्रमशः संकड़े, देह के प्रमाण के अनुरूप, सुन्दर, सुनिष्पन्न, अत्यन्त समुचित परिमाण में मांसलता लिए हुए मनोहर थे, उनके वक्ष और उदर पर सीधे, समान, संहित—एक दूसरे से मिले हुए, उत्कृष्ट कोटि के, सूक्ष्म—हलके, काले, चिकने, उपादेय—उत्तम, लावण्यमय, रमणीय बालों की पंक्ति थी, उनके कुक्षि-प्रदेश—उदर के नीचे के दोनों पार्श्व मत्स्य और पक्षी के समान सुजात—सुनिष्पन्न—सुन्दर रूप में रचित तथा पीन—परिपुष्ट थे, उनका उदर मत्स्य का जैसा था, उनके उदर का करण—आन्त्र-समूह शुचि-स्वच्छ-निर्मल था, उनकी नाभि कमल की तरह विकट—गूढ़, गंगा के भंवर की तरह गोल, दाहिनी ओर चक्कर काटती हुई तरंगों की तरह घुमावदार, सुन्दर, चमकते हुए सूर्य की किरणों से विकसित होते कमल के समान खिली हुई थी तथा उनकी देह का मध्यभाग त्रिकाष्ठिका, मूसल व दर्पण के हत्थे के मध्य-भाग के समान, तलवार की मूठ के समान तथा उत्तम वज्र के समान गोल और पतला था, प्रमुदित—रोग, शोकादि रहित—स्वस्थ, उत्तम घोड़े तथा उत्तम सिंह की कमर के समान उनकी कमर गोल घेराव लिए थी, उत्तम घोड़े के सुनिष्पन्न गुप्तांग की तरह उनका गुह्य भाग था, उत्तम जाति के अश्व की तरह उनका शरीर 'मलमूत्र' विसर्जन की अपेक्षा से निर्लेप था, श्रेष्ठ हाथी के तुल्य पराक्रम और गम्भीरता लिए उनकी चाल थी, हाथी की सूंड की तरह उनकी दोनों जंघाएं सुगठित थीं, उनके घुटने डिब्बे के ढक्कन की तरह निगूढ़ थे—मांसलता के कारण अनुन्नत—बाहर नहीं निकले हुए थे, उनकी पिण्डलियाँ हरिणी की पिण्डलियों, कुरुविन्द घास तथा कते हुए सूत की गेंढी की तरह क्रमशः उतार सहित गोल थी, उनके टखने सुन्दर, सुगठित और निगूढ थे, उनके चरण—पैर सुप्रतिष्ठित—सुन्दर रचनायुक्त तथा कछुवे की तरह उठे हुए होने से मनोज्ञ प्रतीत होते थे, उनके पैरों की अंगुलियाँ क्रमशः आनुपातिक रूप में छोटी-बड़ी एवं सुसंहत—सुन्दर रूप में एक दूसरे से सटी हुई थीं, पैरों के नख उन्नत, पतले, तांबे की तरह लाल, स्निग्ध—चिकने थे, उनकी पगथलियाँ लाल कमल के पत्ते के समान मृदुल, सुकुमार तथा कोमल थीं, उनके शरीर में उत्तम पुरुषों के १००८ लक्षण प्रकट थे, उनके चरण पर्वत, नगर, मगर, सागर तथा चक्र रूप उत्तम चिह्नों और स्वस्तिक आदि मंगल—चिह्नों से अंकित थे, उनका रूप विशिष्ट—असाधारण था, उनका तेज अग्नि की निर्धूम ज्वाला, विस्तीर्ण विद्युत तथा अभिनव सूर्य की किरणों के समान था, वे प्राणातिपात आदि आस्रव-रहित, ममता-

रहित थे, अकिंचन थे, भव-प्रवाह को उच्छिन्न कर चुके थे—जन्म-मरण से अतीत हो चुके थे, निरुपलेप—द्रव्य-दृष्टि से निर्मल देहधारी तथा भाव-दृष्टि से कर्म बन्ध के हेतु रूप उपलेप से रहित थे, प्रेम, राग, द्वेष और मोह का नाश कर चुके थे, निर्ग्रन्थ—प्रवचन के उपदेष्टा, धर्म-शासन के नायक—शास्ता, प्रतिष्ठापक तथा श्रमण-पति थे, श्रमण-वृन्द से घिरे हुए थे, जिनेश्वरों के चौंतीस बुद्ध-अतिशयों से तथा पैंतीस सत्य-वचनातिशयों से युक्त थे, आकाशगत चक्र, छत्र (तीन), आकाशगत चंवर, आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक से बने पादपीठ सहित सिंहासन, धर्मध्वज—ये उनके आगे चल रहे थे, चौदह हजार साधु तथा छत्तीस हजार साध्वियों से संपरिवृत—घिरे हुए थे, आगे से आगे चलते हुए, एक गांव से दूसरे गांव होते हुए सुखपूर्वक विहार करते हुए, भगवान् **वाणिज्यग्राम नगर में दूतीपलाश चैत्य में पधारे। ठहरने के लिए यथोचित स्थान ग्रहण किया, संयम व तप से आत्मा को अनुभावित करते हुए विराजमान हुए-टिके**, परिषद् जुड़ी, राजा जितशत्रु राजा कूणिक की तरह भगवान् के दर्शन, वन्दन के लिए निकला, (दूतीपलाश चैत्य में आया।) आकर भगवान् के न अधिक दूर न अधिक निकट—समुचित स्थान पर रुका। तीर्थंकरों के छत्र आदि अतिशयों को देख देख कर अपनी सवारी के प्रमुख उत्तम हाथी को ठहराया, हाथी से नीचे उतरा, उतर कर तलवार, छत्र, मुकुट, चंवर—इन राज-चिह्नों को अलग किया, जूते उतारे। भगवान् महावीर जहां थे वहां आया। आकर, सचित्त—पदार्थों का व्युत्सर्जन—अलग करना, अचित्त—अजीव पदार्थों का अव्युत्सर्जन—अलग न करना अखण्ड—अनसिले वस्त्र—का उत्तरासंग—उत्तरीय की तरह कन्धे पर डाल कर धारण करना, धर्म-नायक की दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़ना, मन को एकाग्र करना—इन पांच नियमों के अनुपालनपूर्वक राजा जितशत्रु भगवान् के सम्मुख गया। भगवान् को तीन बार आदक्षिण—प्रदक्षिणा कर वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना, नमस्कार कर कायिक, वाचिक, मानसिक रूप से पर्युपासना की। कायिक पर्युपासना के रूप में हाथ—पैरों को संकुचित किए हुए—सिकोड़े हुए, शुश्रूषा—सुनने की इच्छा करते हुए, नमन करते हुए भगवान् की ओर मुंह किये, विनय से हाथजोड़े हुए स्थित रहा। वाचिक पर्युपासना के रूप में—जो-जो भगवान् बोलते थे, उसके लिए यह ऐसा ही है भन्ते! यही तथ्य है भगवन्! यही सत्य है प्रभो! यही सन्देह-रहित है स्वामी! यही इच्छित है भन्ते! यही प्रतीच्छित—स्वीकृत है, प्रभो! यही इच्छित—प्रतीच्छित है भन्ते! जैसा आप कह रहे हैं! इस प्रकार अनुकूल वचन बोलता रहा। मानसिक पर्युपासना के रूप में अपने में अत्यन्त संवेग—मुमुक्षु भाव उत्पन्न करता हुआ तीव्र धर्मानुराग से अनुरक्त रहा।

आनन्द द्वारा वन्दन

१०. तए णं से आणंदे गाहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—एवं खलु समणे जाव (भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे इहमागए, इह संपत्ते, इह समोसढे, इहेव वाणियगामस्स नयरस्स बहिया दूइपलासए चेइए अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे) विहरइ, तं महप्फलं जाव (खलु भो! देवाणुप्पिया! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णाम-गोयस्स वि सवणयाए, किमंग पुण अभिगमण-वंदण-णमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासण-याए! एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए? तं गच्छामि णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि)—

एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए, सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवर-परिहिए, अप्पमहग्घाभरणालंकिय-सरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता सकोरेण्ट-मल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं मणुस्स-वग्गुरा-परिक्खित्ते पाय-विहारचारेणं वाणियग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणामेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ नमंसइ जाव[1] पज्जुवासइ।

तब आनन्द गाथापति को इस वार्ता से-प्रसंग से नगर के प्रमुख जनों को भगवान् की वन्दना के लिए जाते देखकर ज्ञात हुआ, श्रमण भगवान् महावीर (यथाक्रम आगे से आगे विहार करते हुए, ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए—एक गांव से दूसरे गांव का स्पर्श करते हुए यहां आए हैं, संप्राप्त हुए हैं, समवसृत हुए हैं—पधारे हैं। यहीं वाणिज्यग्राम नगर के बाहर दूतीपलाश चैत्य में यथोचित स्थान में टिके हैं,) संयम और तपपूर्वक आत्म-रमण में लीन हैं। इसलिए मैं उनके दर्शन का महान् फल प्राप्त करूं। (ऐसे अर्हत् भगवान् के नाम, गोत्र का सुनना भी बहुत बड़ी बात है, फिर अभिगमन—सम्मुख जाना, वन्दना, नमन, प्रतिपृच्छा—जिज्ञासा करना—उनसे पूछना, पर्युपासना करना—इनका तो कहना ही क्या? सद्गुण-निष्पन्न, सद्धर्ममय एक सुवचन का श्रवण भी बहुत बड़ी बात है; फिर विपुल—विस्तृत अर्थ के ग्रहण की तो बात ही क्या? इसलिए अच्छा हो, मैं जाऊं और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करूं, नमन करूं, सत्कार करूं तथा सम्मान करूं। भगवान् कल्याण हैं, मंगल हैं, देव हैं, तीर्थ-स्वरूप हैं, इनकी पर्युपासना करूं।)

आनन्द के मन में यों विचार आया। उसने स्नान किया, शुद्ध तथा सभा-योग्य मांगलिक वस्त्र अच्छी तरह पहने। थोड़े से किन्तु बहुमूल्य आभरणों से शरीर को अलंकृत किया, अपने घर से निकला, निकल कर कुरंट-पुष्पों की माला से युक्त छत्र धारण किये हुए पुरुषों से घिरा हुआ, पैदल चलता हुआ, वाणिज्यग्राम नगर के बीच में से गुजरा, जहां दूतीपलाश चैत्य था, भगवान् महावीर थे, वहां पहुंचा। पहुंच कर तीन बार आदक्षिण—प्रदक्षिणा की, वन्दन किया नमस्कार किया, पर्युपासना की।

धर्म-देशना

११. तए णं समणे भगवं महावीरे आणंदस्स गाहावइस्स तीसे य महइ-महालियाए परिसाए जाव धम्म-कहा (इसि-परिसाए, मुणि-परिसाए, जइ-परिसाए, देव-परिसाए, अणेग-सयाए, अणेग-सय-वंदाए, अणेग-सय-वंद-परिवाराए, ओहबले, अइबले, महब्बले, अपरिमिय-बल—वीरिय—तेय—माहप्प—कंतिजुत्ते, सारद-नवत्थणिय-महुर-गंभीर-कोंच-णिग्घोस-दुंदुभिस्सरे, उरे वित्थडाए, कंठेऽवट्ठियाए, सिरे समाइण्णाए, अगर-लाए, अमम्मणाए, सव्वक्खरसण्णिवाइयाए, पुण्णरत्ताए, सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए, जोयणणीहारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासाए भासति, अरिहा धम्मं परिकहेइ तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ। सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणमइ। तं जहा—अत्थि लोए, अत्थि अलोए, एवं जीवा, अजीवा, बंधे, मोक्खे, पुण्णे, पावे, आसवे, संवरे, वेयणा, णिज्जरा, अरिहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, नरगा, नेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, माया, पिया, रिसयो, देवा, देवलोया, सिद्धी, सिद्धा, परिणिव्वाणं, परिणिव्वुया, अत्थि पाणाइवाए, मुसावाए, अदिण्णादाणे,

१. देखें सूत्र-संख्या २

मेहुणे, परिग्गहे। अत्थि कोहे, माणे, माया, लोभे जाव (पेज्जे, दोसे, कलहे, अब्भक्खाणे, पेसुन्ने, परपरिवाए अरइरई, मायामोसे,) मिच्छा-दंसण-सल्ले, अत्थि पाणाइवाय-वेरमणे, मुसावाय-वेरमणे, अदिण्णादाण-वेरमणे, मेहुण-वेरमणे, परिग्गह-वेरमणे जाव मिच्छा-दंसण-सल्ल-विवेगे। सव्वं अत्थिभावं अत्थित्ति वयति, सव्वं णत्थि-भावं णत्थित्ति वयति, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्ण-फला भवंति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवंति, फुसइ पुण्ण-पावे, पच्चायंति जीवा, सफले कल्लाण-पावए।

धम्ममाइक्खइ—इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, केवलिए, संसुद्धे, पडिपुण्णे, णेयाउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे णिज्जाणमग्गे, णिव्वाणमग्गे, अवितहमविसंधि सव्वदुक्ख-प्पहीण-मग्गे। इहट्ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति। एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्व-कम्मावसेसेण अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, महिड्ढिएसु जाव महासुक्खेसु दूरंगइएसु चिरट्ठिइएसु। तेणं तत्थ देवा भवंति महिड्ढिया जाव चिरट्ठिइया हार-विराइयवच्छा जाव पभासेमाणा, कप्पोवगा गतिकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसि भद्दा जाव पडिरूवा तमाइक्खइ।

एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति, णरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति, तं जहा—महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, पंचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं। एवं एएणं अभिलावेणं तिरिक्ख-जोणिएसु माइल्लयाए, णियडिल्लयाए, अलिय-वयणेणं, उक्कंचणयाए, वंचणयाए। मणुस्सेसु पगइभद्दयाए, पगइविणीययाए, साणुक्कोसयाए अमच्छरियाए। देवेसु सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, अकामणिज्जराए, बालतवो-कम्मेणं। तमाइक्खइ—

जह णरगा गम्मंति, जे णरगा जाय-वेयणा णरए।
सारीर-माणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए॥
माणुस्सं च अणिच्चं, वाहि-जरा-मरण-वेयणा-पउरं।
देवे य देवलोए, देविड्ढि देव-सोक्खाइं॥
णरगं तिरिक्खजोणिं, माणुसभावं च देवलोगं च।
सिद्धे य सिद्ध-वसहिं, छज्जीवणियं परिकहेइ॥
जह जीवा बज्झंति, मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति।
जह दुक्खाणं अंतं, करेंति केई य अपडिबद्धा॥
अट्ट-दुहट्टिय-चित्ता, जह जीवा दुक्ख-सागरमुवेंति।
जह वेरग्गमुवगया, कम्म-समुग्गं विहाडेंति॥
जह रागेण कडाणं, कम्माणं पावओ फल-विवागो।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति॥

तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ, तं जहा—अगार-धम्मं अणगार-धम्मं च। अणगार-धम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयइ, सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसा-वायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वाओ राइ-भोयणाओ वेरमणं। अयमाउसो! अणगार-सामइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवइ।

अगारधम्मं दुवासलविहं आइक्खइ, तं जहा—पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं। पंच अणुव्वयाइं, तं जहा—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणे। तिण्णि गुणव्वयाइं तं जहा—अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उवभोग-परिभोगपरिमाणं। चत्तारि सिक्खावयाइं, तं जहा—सामाइयं, देसावगासियं, पोसहोववासे, अतिहि-संविभागे, अपच्छिमा-मारणंतिया-संलेहणा-झूसणा-राहणा, अयमाउसो! अगार-सामइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणे आणाए आराहए भवइ।

तए णं सा महइमहालिया मणूसपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठ-तुट्ठा चित्तमाणंदिया, पोइमणा, परमसोमणस्सिया, हरिसवस-विसप्पमाण-हियया उट्ठाए, उट्ठेइ उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता अत्थेगइआ मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए। अत्थेगइया पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवण्णा। अवसेसा णं परिसा समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—सुयक्खाए ते भंते! णिग्गंथे पावयणे, एवं सुपण्णत्ते, सुभासिए, सुविणीए, सुभाविए, अणुत्तरे ते भंते! णिग्गंथे पावयणे। धम्मं णं आइक्खमाणा तुब्भं उवसमं आइक्खह। उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह। विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह। वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह। णत्थि णं अण्णे केइ समणे वा माहणे वा जे एरिसं धम्ममाइक्खित्तए। किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं! एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूआ तामेव दिसं पडिगया) राया य गओ।

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने आनन्द गाथापति तथा महती परिषद् को धर्मोपदेश किया। (भगवान् महावीर की धर्मदेशना सुनने को उपस्थित परिषद् में ऋषि—द्रष्टा—अतिशय ज्ञानी साधु, मुनि—मौनी या वाक् संयमी साधु, यति—चारित्र के प्रति अति यत्नशील श्रमण, देवगण तथा सैकड़ों-सैकड़ों श्रोताओं के समूह उपस्थित थे।)

ओघ बली (अव्यवच्छिन्न या एक समान रहने वाले बल के धारक, अतिबली—अत्यधिक बल—सम्पन्न, महाबली,—प्रशस्त बलयुक्त, अपरिमित—असीम वीर्य—आत्मशक्तिजनित बल, तेज, महत्ता तथा कांतियुक्त, शरत् काल के नूतन मेघ के गर्जन, क्रौंच पक्षी के निर्घोष तथा नगाड़े की ध्वनि के समान मधुर गम्भीर स्वर युक्त भगवान् महावीर ने हृदय में विस्तृत, होती हुई, कंठ में अवस्थित होती हुई तथा मूर्धा में परिव्याप्त होती हुई सुविभक्त अक्षरों को लिए हुए—पृथक्-पृथक् स्व-स्व स्थानीय उच्चारणयुक्त अक्षरों सहित, अस्पष्ट उच्चारण वर्जित या हकलाहट से रहित, सुव्यक्त अक्षर-सन्निपात—वर्ण-संयोग—वर्णों की व्यवस्थित शृंखला लिए हुए, पूर्णता तथा स्वर—माधुरीयुक्त, श्रोताओं की सभी भाषाओं में परिणत होने वाली वाणी द्वारा एक योजन तक पहुंचने वाले स्वर में, अर्द्धमागधी भाषा में धर्म का परिकथन किया। उपस्थित सभी आर्य-अनार्य जनों को अग्लान भाव से—बिना परिश्रान्त हुए धर्म का आख्यान किया। भगवान् द्वारा उद्गीर्ण अर्द्धमागधी भाषा उन सभी आर्यों और अनार्यों की भाषाओं में परिणत हो गई।

भगवान् ने जो धर्मदेशना दी, वह इस प्रकार है:—

लोक का अस्तित्व है, अलोक का अस्तित्व है। इसी प्रकार जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरक, नैरयिक, तिर्यंच् योनि, तिर्यंच् योनिक जीव, माता, पिता, ऋषि, देव, देवलोक, सिद्धि, सिद्ध, परिनिर्वाण—कर्मजनित आवरण के क्षीण होने से आत्मिक स्वस्थता—परम शान्ति, परिनिर्वृ त्त—परिनिर्वाण युक्त व्यक्ति—इनका अस्तित्व है। प्राणातिपात—हिंसा, मृषावाद—असत्य, अदत्तादान—चोरी, मैथुन और परिग्रह हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, (प्रे म—अप्रकट माया व लोभजनित प्रिय या रोचक भाव, द्वे ष—अव्यक्त मान व क्रोध जनित अप्रिय या अप्रीति रूप भाव, कलह—लड़ाई-झगड़ा, अभ्याख्यान—मिथ्या दोषारोपण, पैशुन्य—चुगली अथवा पीठ पीछे किसी के होते-अनहोते दोषों का प्रकटीकरण, पर-परिवाद—निन्दा, रति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप असंयम में सुख मानना, रुचि दिखाना, अरति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप संयम में अरुचि रखना, मायामृषा—माया या छलपूर्वक झूठ बोलना,) यावत् मिथ्यादर्शन शल्य है।

प्राणातिपात—विरमण—हिंसा से विरत होना, मृषावादविरमण, असत्य से विरत होना, अदत्तादानविरमण—चोरी से विरत होना, मैथुनविरमण—मैथुन से विरत होना, परिग्रहविरमण—परिग्रह से विरत होना, यावत् मिथ्यादर्शनशल्यविवेक—मिथ्या विश्वास रूप कांटे का यथार्थ ज्ञान होना, और त्यागना, यह सब है—

सभी अस्तिभाव—अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से अस्तित्व लिए हुए हैं। सभी नास्तिभाव—पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नहीं हैं—किन्तु वे भी अपने स्वरूप से हैं। सुचीर्ण—सुन्दर रूप में—प्रशस्त रूप में संपादित दान, शील तप आदि कर्म सुचीर्ण—उत्तम फल देने वाले हैं तथा दुश्चीर्ण—अप्रशस्त—पापमय कर्म अशुभ—दुःखमय फल देने वाले हैं। जीव पुण्य तथा पाप का स्पर्श करता है, बन्ध करता है। जीव उत्पन्न होते हैं—संसारी जीवों का जन्म-मरण है। कल्याण—शुभ कर्म, पाप—अशुभ कर्म फल युक्त हैं, निष्फल नहीं होते।

प्रकारान्तर से भगवान धर्म का आख्यान—प्रतिपादन करते हैं—यह निर्ग्रन्थप्रवचन, जिनशासन अथवा प्राणी की अन्तर्वर्ती ग्रन्थियों को छुड़ाने वाला आत्मानुशासनमय उपदेश सत्य है, अनुत्तर—सर्वोत्तम है, केवल—अद्वितीय है अथवा केवली—सर्वज्ञ द्वारा भाषित है, संशुद्ध—अत्यन्त शुद्ध, सर्वथा निर्दोष है, प्रतिपूर्ण—प्रवचन-गुणों में सर्वथा परिपूर्ण है, नैयायिक—न्याय-संगत है—प्रमाण से अबाधित है, तथा शल्य-कर्तन—माया आदि शल्य—कांटों का निवारक है, यह सिद्धि-कृतार्थता या सिद्धावस्था प्राप्त करने का मार्ग—उपाय है, मुक्ति—कर्म रहित अवस्था या निर्लोभता का मार्ग—हेतु है, निर्याण—पुनः नहीं लौटाने वाले जन्म-मरण के चक्र में नहीं गिराने वाले गमन का मार्ग है, निर्वाण—सकल संताप-रहित अवस्था प्राप्त करने का पथ है, अवितथ—सद्भूतार्थ—वास्तविक, अविसन्धि—विच्छेदरहित तथा सब दुःखों को प्रहीण—सर्वथा क्षीण करने का मार्ग है। इसमें स्थित जीव सिद्धि—सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं अथवा अणिमा आदि महती सिद्धियों को प्राप्त करते हैं, बुद्ध—ज्ञानी—केवल—ज्ञानी होते हैं, मुक्त—भवोपग्राही—जन्म-मरण में लाने वाले कर्मांश से रहित हो जाते हैं, परिनिर्वृ त होते हैं—कर्मकृत संताप से रहित—परम शान्तिमय हो जाते हैं तथा सभी दुःखों का अन्त कर देते हैं। एकार्च्चा—जिनके एक ही मनुष्य-भव धारण करना बाकी रहा है, ऐसे भदन्त—कल्याणान्वित अथवा निर्ग्रन्थ प्रवचन के भक्त पूर्व कर्मों के बाकी रहने से किन्हीं देवलोकों में देव के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे देवलोक महर्द्धिक—

विपुल ऋद्धियों से परिपूर्ण, अत्यन्त सुखमय दूरंगतिक—दूर गति से युक्त एवं चिरस्थितिक—लम्बी स्थिति वाले होते हैं। वहां देव रूप में उत्पन्न वे जीव अत्यन्त ऋद्धि-संपन्न तथा चिर स्थिति—दीर्घ आयुष्य युक्त होते हैं। उनके वक्षस्थल हारों से सुशोभित होते हैं, वे अपनी दिव्य प्रभा से दसों दिशाओं को प्रभासित—उद्योतित करते हैं। वे कल्पोपग देवलोक में देव-शय्या से युवा के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे वर्तमान में उत्तम देवगति के धारक तथा भविष्य में भद्र—कल्याण—निर्वाण रूप अवस्था को प्राप्त करने वाले होते हैं, असाधारण रूपवान् होते हैं।

भगवान् ने आगे कहा—जीव चार स्थानों—कारणों से—नैरयिक—नरक योनि का आयुष्य बन्ध करते हैं, फलतः वे विभिन्न नरकों में उत्पन्न होते हैं।

वे स्थान या कारण इस प्रकार हैं—१. महाआरंभ—घोर हिंसा के भाव व कर्म, २. महापरिग्रह—अत्यधिक संग्रह के भाव व वैसा आचरण, ३. पंचेन्द्रिय-वध—मनुष्य, तिर्यंच—पशु पक्षी आदि पांच इंद्रियों वाले प्राणियों का हनन तथा ४. मांस-भक्षण।

इन कारणों से जीव तिर्यंच् योनि में उत्पन्न होते हैं—१. मायापूर्ण निकृति—छलपूर्ण जालसाजी, २. अलीक वचन—असत्य भाषण, ३. उत्कंचनता—झूठी प्रशंसा या खुशामद अथवा किसी मूर्ख व्यक्ति को ठगने वाले धूर्त का समीपवर्ती विचक्षण पुरुष के संकोच से कुछ देर के लिए निश्चेष्ट रहना या अपनी धूर्तता को छिपाए रखना, ४. वंचनता-प्रतारणा या ठगी।

इन कारणों से जीव मनुष्य—योनि में उत्पन्न होते हैं :—

१. प्रकृति-भद्रता—स्वाभाविक भद्रता—भलापन, जिससे किसी को भीति या हानि की आशंका न हो, २. प्रकृति-विनीतता—स्वाभाविक विनम्रता, ३. सानुक्रोशता—सदयता, करुणाशीलता तथा ४. अमत्सरता—ईर्ष्या का अभाव।

इन कारणों से जीव देव योनि में उत्पन्न होते हैं :—

१. सरागसंयम—राग या आसक्तियुक्त चारित्र, २. संयमासंयम—देश विरति—श्रावक-धर्म, ३. अकाम-निर्जरा—मोक्ष की अभिलाषा के बिना या विवशतावश कष्ट सहना, ४. बाल-तप—मिथ्यात्वी या अज्ञानयुक्त अवस्था में तपस्या।

तत्पश्चात् भगवान् ने बतलाया—जो नरक में जाते हैं, वे वहां नैरयिकों जैसी वेदना पाते हैं। तिर्यंच् योनि में गये हुए वहां होने वाले शारीरिक और मानसिक दुःख प्राप्त करते हैं। मनुष्य-जीवन अनित्य है, उसमें व्याधि, वृद्धावस्था, मृत्यु और वेदना आदि प्रचुर कष्ट हैं। देवलोक में देव दैवी ऋद्धि और दैवी सुख प्राप्त करते हैं।

भगवान् ने सिद्ध, सिद्धावस्था, एवं छह जीवनिकाय का विवेचन किया। जिस प्रकार जीव बंधते हैं—कर्म-बन्ध करते हैं, मुक्त होते हैं, परिक्लेश पाते हैं, कई अप्रतिबद्ध—अनासक्त व्यक्ति दुःखों का अन्त करते हैं, पीडा, वेदना व आकुलतापूर्ण चित्तयुक्त जीव दुःख-सागर को प्राप्त करते हैं, वैराग्य-प्राप्त जीव कर्म-दल को ध्वस्त करते हैं, रागपूर्वक किये गए कर्मों का फलविपाक पापपूर्ण होता है, कर्मों से सर्वथा रहित होकर जीव सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं—यह सब (भगवान् ने) आख्यात किया।

आगे भगवान् ने बतलाया—धर्म दो प्रकार का है—अगार-धर्म और अनगार-धर्म। अनगार-धर्म में साधक सर्वतः सर्वात्मना—संपूर्ण रूप में, सर्वात्मभाव से सावद्य कार्यों का परित्याग

करता हुआ मुंडित होकर, गृहवास से अनगार दशा—मुनि-अवस्था में प्रव्रजित होता है। वह संपूर्णतः प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरत होता है।

भगवान् ने कहा—आयुष्मन् ! यह अनगारों के लिए समाचरणीय धर्म कहा गया है। इस धर्म की शिक्षा—अभ्यास या आचरण में उपस्थित—प्रयत्नशील रहते हुए निर्ग्रन्थ—साधु या निर्ग्रन्थी—साध्वी आज्ञा (अर्हत्-देशना) के आराधक होते हैं।

भगवान् ने अगारधर्म १२ प्रकार का बतलाया—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत तथा ४ शिक्षाव्रत। ५ अणुव्रत इस प्रकार हैं—१. स्थूल—मोटे तौर पर, अपवाद रखते हुए प्राणातिपात से निवृत्त होना, २. स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना, ३. स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होना ४. स्वदारसंतोष—अपनी परिणीता पत्नी तक मैथुन की सीमा, ५. इच्छा—परिग्रह की इच्छा का परिमाण या सीमाकरण।

३ गुणव्रत इस प्रकार हैं—१. अनर्थदंड-विरमण—आत्मा के लिए अहितकर या आत्मगुण-घातक निरर्थक प्रवृत्ति का त्याग, २. दिग्व्रत—विभिन्न दिशाओं में जाने के संबंध में मर्यादा या सीमाकरण, ३. उपभोग-परिभोग-परिमाण—उपभोग—जिन्हें अनेक बार भोगा जा सके, ऐसी वस्तुएं—जैसे वस्त्र आदि तथा परिभोग जिन्हें एक ही बार भोगा जा सके—जैसे भोजन आदि—इनका परिमाण—सीमाकरण। ४ शिक्षा-व्रत इस प्रकार हैं—१, सामायिक—समता या समत्वभाव की साधना के लिए एक नियत समय (न्यूनतम एक मुहूर्त—४८ मिनट) में किया जाने वाला अभ्यास, २, देशावकासिक— नित्य प्रति अपनी प्रवृत्तियों में निवृत्ति-भाव की वृद्धि का अभ्यास ३. पोषधोप-वास—अध्यात्म-साधना में अग्रसर होने के हेतु यथाविधि आहार, अब्रह्मचर्य आदि का त्याग तथा ४. अतिथि-संविभाग—जिनके आने की कोई तिथि नहीं, ऐसे अनिमंत्रित संयमी साधक या साधर्मिक बन्धुओं को संयमोपयोगी एवं जीवनोपयोगी अपनी अधिकृत सामग्री का एक भाग आदरपूर्वक देना, सदा मन में ऐसी भावना बनाए रखना कि ऐसा अवसर प्राप्त हो।

तितिक्षापूर्वक अन्तिम मरण रूप संलेखणा-तपश्चरण, आमरण अनशन की आराधनापूर्वक देहत्याग श्रावक की इस जीवन की साधना का पर्यवसान है, जिसकी एक गृही साधक भावना लिए रहता है।

भगवान् ने कहा—आयुष्मन् ! यह गृही साधकों का आचरणीय धर्म है। इस धर्म के अनु-सरण में प्रयत्नशील होते हुए श्रमणोपासक-श्रावक या श्रमणोपासिका—श्राविका आज्ञा के आराधक होते हैं।

तब वह विशाल मनुष्य-परिषद् श्रमण भगवान् महावीर से धर्म सुनकर, हृदय में धारण कर, हृष्ट-तुष्ट—अत्यन्त प्रसन्न हुई, चित्त में आनन्द एवं प्रीति का अनुभव किया, अत्यन्त सौम्य मानसिक भावों से युक्त तथा हर्षातिरेक से विकसित-हृदय होकर उठी, उठकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा, वंदन-नमस्कार किया, वंदन-नमस्कार कर उसमें से कई गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर मुंडित होकर, अनगार या श्रमण के रूप में प्रव्रजित—दीक्षित हुए। कइयों ने पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहि-धर्म—श्रावक-धर्म स्वीकार किया। शेष परिषद् ने श्रमण भगवान् महावीर को वंदन किया, नमस्कार किया, वंदन-नमस्कार कर कहा—भगवन् ! आप द्वारा सुआख्यात—सुन्दर रूप में कहा गया, सुप्रज्ञप्त—उत्तम रीति से समझाया गया, सुभाषित—हृदयस्पर्शी भाषा में प्रतिपादित किया गया, सुविनीत—शिष्यों में सुष्ठु रूप में विनियोजित

—अन्तेवासियों द्वारा सहज रूप में अंगीकृत, सुभावित—प्रशस्त भावों से युक्त निर्ग्रन्थ-प्रवचन—धर्मोपदेश, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ है। आपने धर्म की व्याख्या करते हुए उपशम-क्रोध आदि के निरोध का विश्लेषण किया। उपशम की व्याख्या करते हुए विवेक—बाह्य ग्रन्थियों के त्याग का स्वरूप समझाया। विवेक की व्याख्या करते हुए आपने विरमण—विरति या निवृत्ति का निरूपण किया। विरमण की व्याख्या करते हुए आपने पाप-कर्म न करने की विवेचना की। दूसरा कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है, जो ऐसे धर्म का उपदेश कर सके। इससे श्रेष्ठ धर्म के उपदेश की तो बात ही कहां? यों कहकर वह परिषद् जिस दिशा से आई थी, उसी ओर वापस लौट गई।) राजा भी लौट गया।

आनन्द की प्रतिक्रिया

१२. तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव (चित्तमाणंदिए पीइ-मणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता) एवं वयासी—सद्दहामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं, भंते! निग्गंथं पावयणं, रोएमि णं, भंते! निग्गंथं पावयणं, एवमेयं, भन्ते! तहमेयं, भन्ते! अवितहमेयं, भंते! इच्छियमेयं, भंते! पडिच्छियमेयं, भन्ते! इच्छिय-पडिच्छियमेयं, भंते! से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु, जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुबिय-सेट्ठि-सेणावई-सत्थवाहप्पभिइओ मुण्डा भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइया, नो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे जाव (भवित्ता आगाराओ अणगारियं) पव्वइत्तए। अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त-सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहि-धम्मं पडिवज्जिस्सामि। अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।

तब आनन्द गाथापति श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का श्रवण कर हर्षित व परितुष्ट होता हुआ (चित्त में आनन्द एवं प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ, अत्यन्त सौम्य मानसिक भावों से युक्त तथा हर्षातिरेक से विकसितहृदय होकर उठा। उठकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की, वंदन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार कर) यों बोला—भगवन्! मुझे निर्ग्रन्थ-प्रवचन में श्रद्धा है, विश्वास है। निर्ग्रन्थ-प्रवचन मुझे रुचिकर है। वह ऐसा ही है, तथ्य है, सत्य है, इच्छित है, प्रतीच्छित (स्वीकृत) है, इच्छित-प्रतीच्छित है। यह वैसा ही है, जैसा आपने कहा। देवानुप्रिय! जिस प्रकार आपके पास अनेक राजा, ऐश्वर्यशाली, तलवर, माडंबिक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठी, सेनापति एवं सार्थवाह आदि मुंडित होकर, गृह-वास का परित्याग कर अनगार के रूप में प्रव्रजित हुए, मैं उस प्रकार मुंडित होकर (गृहस्थ जीवन का परित्याग कर अनगारधर्म में) प्रव्रजित होने में असमर्थ हूं, इसलिए आपके पास पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत मूलक बारह प्रकार का गृहीधर्म—श्रावक-धर्म ग्रहण करना चाहता हूं।

आनन्द के यों कहने पर भगवान् ने कहा—देवानुप्रिय! जिससे तुमको सुख हो, वैसा ही करो, पर विलम्ब मत करो।

व्रत-ग्रहण

अहिंसा व्रत

१३. तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं

पाणाइवायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा।

तब आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के पास प्रथम या मुख्य स्थूल प्राणातिपात —स्थूल हिंसा का प्रत्याख्यान—परित्याग किया, इन शब्दों में—

मैं जीवन पर्यन्त दो करण—कृत व कारित अर्थात् करना, कराना तथा तीन योग-मन, वचन एवं काया से स्थूल हिंसा का परित्याग करता हूं, अर्थात् मैं मन से, वचन से तथा शरीर से स्थूल हिंसा न करूंगा और न कराऊंगा।

सत्य व्रत

१४. तयाणंतरं च णं थूलगं मुसावायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा।

तदनन्तर उसने स्थूल मृषावाद—असत्य का परित्याग किया, इन शब्दों में—

मैं जीवन भर के लिए दो करण और तीन योग से स्थूल मृषावाद का परित्याग करता हूं अर्थात् मैं मन से, वचन से, तथा शरीर से न स्थूल असत्य का प्रयोग करूंगा और न कराऊंगा।

अस्तेय व्रत

१५. तयाणंतरं च णं थूलगं अदिण्णादाणं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा।

उसके बाद उसने स्थूल अदत्तादान-चोरी का परित्याग किया। इन शब्दों में—

मैं जीवन भर के लिए दो करण और तीन योग से स्थूल चोरी का परित्याग करता हूं अर्थात् मैं मन से, वचन से तथा शरीर से न स्थूल चोरी करूंगा और न कराऊंगा।

स्वदार-सन्तोष

१६. तयाणंतरं च णं सदार-संतोसिए परिमाणं करेइ, नन्नत्थ एक्काए सिवनंदाए भारियाए, अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि।

फिर उसने स्वदारसंतोष व्रत के अन्तर्गत मैथुन का परिमाण किया। इन शब्दों में—

अपनी एकमात्र पत्नी शिवनंदा के अतिरिक्त अवशेष समग्र मैथुनविधि का परित्याग करता हूं।

इच्छा-परिमाण

१७, तयाणंतरं च णं इच्छा-विहि-परिमाणं करेमाणे हिरण्णसुवण्णविहिपरिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं हिरण्णकोडीहिं निहाणपउत्ताहिं, चउहिं वुड्ढिपउत्ताहिं चउहिं पवित्थर-पउत्ताहिं, अवसेसं सव्वं हिरण्णसुवण्णविहिं पच्चक्खामि।

तब उसने इच्छाविधि—परिग्रह का परिमाण करते हुए स्वर्ण-मुद्राओं के विषय में इस प्रकार सीमाकरण किया :—

निधान-निहित चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं, व्यापार-प्रयुक्त चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं तथा घर व घर के उपकरणों में प्रयुक्त चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं के अतिरिक्त मैं समस्त स्वर्ण-मुद्राओं का परित्याग करता हूं।

१८. तयाणंतरं च णं चउप्पयविहिपरिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं वएहिं दस गोसाहस्सिएणं वएणं, अवसेसं सव्वं चउप्पयविहिं पच्चक्खामि।

फिर उसने चतुष्पद-विधि-चौपाए पशुरूप संपत्ति के संबंध में परिमाण किया :—

दस-दस हजार के चार गोकुलों के अतिरिक्त मैं वाकी सभी चौपाए पशुओं के परिग्रह का परित्याग करता हूं।

१९. तयाणंतरं च णं खेत्तवत्थुविहिपरिमाणं करेइ, नन्नत्थ पंचहिं हलसएहिं नियत्तण-सइएणं हलेणं अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थुविहिं पच्चक्खामि।

फिर उसने क्षेत्र—वास्तु-विधि का परिमाण किया—सौ निवर्तन(भूमि के एक विशेष माप) के एक हल के हिसाब से पांच सौ हलों के अतिरिक्त मैं समस्त क्षेत्र—वास्तुविधि का परित्याग करता हूं।

विवेचन

खेत्त (क्षेत्र) का अर्थ खेत या खेती करने की भूमि अर्थात् खुली-उघाड़ी भूमि है। प्राकृत का 'वत्थु' शब्द संस्कृत में 'वस्तु' भी हो सकता है, 'वास्तु' भी। वस्तु का अर्थ चीज अर्थात् बर्तन, खाट, टेबल, कुर्सी, कपड़े आदि रोजाना काम में आनेवाले उपकरण हैं। वास्तु का अर्थ भूमि, वसने की जगह, मकान या आवास है। यहां 'वत्थु' का तात्पर्य गाथापति आनन्द की मकान आदि संबंधी भूमि से है।

आनन्द की खेती की जमीन के परिमाण के सन्दर्भ में यहां 'नियत्तण-सइएणं' (निवर्तन-शतिकेन) पद का प्रयोग करते हुए सौ निवर्तनों की एक इकाई को एक हल की जमीन कहा गया है, जिसे आज की भाषा में बीघा कहा जा सकता है।

प्राचीन काल में 'निवर्तन' भूमि के एक विशेष माप के अर्थ में प्रयुक्त रहा है। बीस बांस या दो सौ हाथ लम्बी-चौड़ी (२०० × २०० = ४००० वर्ग हाथ) भूमि को निवर्तन कहा जाता था।[1]

२०. तयाणंतरं च णं सगडविहिपरिमाणं करेइ, नन्नत्थ पंचहिं सगडसएहिं दिसायत्तिएहिं, पञ्चहिं सगड-सएहिं संवाहणिएहिं, अवसेसं सव्वं सगडविहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने शकटविधि—गाड़ियों के परिग्रह का परिमाण किया :—

पांच सौ गाड़ियां दिग्—यात्रिक—बाहर यात्रा में, व्यापार आदि में प्रयुक्त तथा पांच सौ

---

१. संस्कृत—इंगलिश डिक्शनेरी : सर मोनियर विलियम्स, पृष्ठ ५६०

गाड़ियां घर संबंधी माल-असबाव ढोने आदि में प्रयुक्त—के सिवाय मैं सब गाड़ियों के परिग्रह का परित्याग करता हूं।

२१. तयाणंतरं च णं वाहणविहिपरिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं वाहणेहिं दिसायत्तिएहिं, चउहिं वाहणेहिं संवाहणिएहिं, अवसेसं सव्वं वाहणविहिं पच्चक्खामि।

फिर उसने वाहनविधि—सवारी रूप परिग्रह का परिमाण किया :—

पांच सौ वाहन दिग्-यात्रिक तथा पांच सौ गृह-उपकरण के सन्दर्भ में प्रयुक्त—के सिवाय मैं सब प्रकार के वाहन रूप परिग्रह का परित्याग करता हूं।

उपभोग-परिभोग-परिमाण

२२, तयाणंतरं च णं उवभोगपरिभोगविहिं पच्चक्खाएमाणे, उल्लणियाविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगाए गंध-कासाईए, अवसेसं सव्वं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि।

फिर उसने उपभोग-परिभोग-विधि का प्रत्याख्यान करते हुए भीगे हुए शरीर को पोंछने में प्रयुक्त होने वाले अंगोछे—तौलिए आदि का परिमाण किया :—

मैं सुगन्धित और लाल-एक प्रकार के अंगोछे के अतिरिक्त बाकी सभी अंगोछे रूप परिग्रह का परित्याग करता हूं।

२३. तयाणंतरं च णं दंतवणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं अल्ल-लट्ठी महुएणं, अवसेसं दंतवणविहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने दतौन के संबंध में परिमाण किया :—

हरि मुलहठी के अतिरिक्त मैं सब प्रकार के दतौनों का परित्याग करता हूं।

२४. तयाणंतरं च णं फलविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं खीरामलएणं, अवसेसं फलविहिं पच्चक्खामि।

तदनन्तर उसने फलविधि का परिमाण किया :—

मैं क्षीर आमलक—दूधिया आंवले के सिवाय अवशेष फल-विधि का परित्याग करता हूं।

विवेचन

यहां फल-विधि का प्रयोग खाने के फलों के सन्दर्भ में नहीं है, प्रत्युत नेत्र, मस्तक आदि के शोधन-प्रक्षालन के काम में आने वाले शुद्धिकारक फलों से है। आंवले की इस कार्य में विशेष उपयोगिता है। क्षीर आमलक या दूधिया आंवले का तात्पर्य उस कच्चे मुलायम आंवले से है, जिसमें गुठली नहीं पड़ी हो और जो दूध की तरह मीठा हो।

यहां फलविधि का प्रयोग बाल, मस्तक आदि के शोधन—प्रक्षालन के काम में आनेवाले

शुद्धिकारक फलों के उपयोग के अर्थ में है। आंवले की इस कार्य में विशेष उपादेयता है। बालों के लिए तो वह बहुत ही लाभप्रद है, एक टॉनिक है। आंवले में लोहा विशेष मात्रा में होता है। अतः बालों की जड़ को मजबूत बनाए रखना, उन्हें काला रखना उसका विशेष गुण है। बालों में लगाने के लिए बनाए जाने वाले तैलों में आंवले का तैल मुख्य है।

यहां आंवले में क्षीर आमलक या दूधिया आंवले का जो उल्लेख आया है, उसका भी अपना विशेष आशय है। क्षीर आमलक का तात्पर्य उस मुलायम, कच्चे आंवले से है, जिसमें गुठली नहीं पड़ी हो, जो विशेष खट्टा नहीं हो, जो दूध जैसा मिठास लिए हो। अधिक खट्टे आंवले के प्रयोग से चमड़ी में कुछ रूखापन आ सकता है। जिनकी चमड़ी अधिक कोमल होती है, विशेष खट्टे पदार्थ के संस्पर्श से वह फट सकती है। क्षीर आमलक के प्रयोग में यह आशंकित नहीं है।

यहां फल शब्द खाने के रूप में काम में आनेवाले फलों की दृष्टि से नहीं है, प्रत्युत वृक्ष, पौधे आदि पर फलने वाले पदार्थ की दृष्टि से है। वृक्ष पर लगता है, इसलिए आंवला फल है, परन्तु वह फल के रूप में नहीं खाया जाता। उसका उपयोग विशेषतः औषधि, मुरब्बा, चटनी, अचार आदि में होता है।

आयुर्वेद की काष्ठादिक औषधियों में आंवले का मुख्य स्थान है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसे फल-वर्ग में न लेकर काष्ठादिक औषधि-वर्ग में लिया गया है। भावप्रकाश में हरीतक्यादि वर्ग में आंवले का वर्णन आया है। वहां लिखा है:—

"आमलक, धात्री, त्रिष्वफला और अमृता—में आंवले के नाम हैं। आंवले के रस, गुण एवं विपाक आदि हरीतकी—हरड़ के समान होते हैं। आंवला विशेषतः रक्त-पित्त और प्रमेह का नाशक, शुक्रवर्धक एवं रसायन है। रस के खट्टेपन के कारण यह वातनाशक है, मधुरता और शीलता के कारण यह पित्त को शान्त करता है, रूक्षता और कसैलेपन के कारण यह कफ को मिटाता है।"[1]

चरकसंहिता चिकित्सास्थान के अभयामलकीय रसायनपाद में आंवले का वर्णन है। वहां लिखा है—

"जो गुण हरीतकी के हैं, आंवले के भी लगभग वैसे ही हैं। किन्तु आंवले का वीर्य हरीतकी से भिन्न है। अर्थात् हरीतकी उष्णवीर्य है, आँवला शीतवीर्य। हरीतकी के जो गुण बताए गए हैं, उन्हें देखते, हरीतकी तथा तत्सदृश गुणयुक्त आंवला अमृत कहे गए हैं।"[2]

---

१. त्रिष्वामलकमाख्यातं धात्री त्रिष्वफलाऽमृता।
हरीतकीसमं धात्री-फलं किन्तु विशेषतः॥
रक्तपित्तप्रमेहघ्नं परं वृष्यं रसायनम्।
हन्ति वातं तदम्लत्वात् पित्तं माधुर्यशैत्यतः॥
कफं रूक्षकषायत्वात् फलं धात्र्यास्त्रिदोषजित्। —भावप्रकाश हरीतक्यादि वर्ग ३७-३९॥

२. तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकेष्वपि।
यान्युक्तानि हरीतक्या वीर्यस्य तु विपर्ययः॥
अतश्चामृतकल्पानि विद्यात्कर्मभिरीदृशैः।
हरीतकीनां शस्यानि भिषगामलकस्य च॥ —चरकसंहिता चिकित्सास्थान १। ३५-३६॥

चरकसंहिता में वातातपिक एवं कुटीप्रावेशिक के रूप में काय-कल्प चिकित्सा का उल्लेख है। कुटीप्रावेशिक को अधिक प्रभावशाली बतलाते हुए वहां विस्तार से वर्णन है।[१]

इस चिकित्सा में शोधन के लिए हरीतकी तथा पोषण के लिए आंवले का विशेष रूप से उपयोग होता है। इन्हें रसायन कहा गया है। आचार्य चरक ने रसायन के सेवन से दीर्घ आयु, स्मृति, बुद्धि, तारुण्य—जवानी, कान्ति, वर्ण—ओजमय दैहिक आभा, प्रशस्त स्वर, शरीर-बल, इन्द्रिय-बल आदि प्राप्त होने का उल्लेख किया है।[२]

आंवले से च्यवनप्राश, ब्राह्मरसायन, आमलकरसायन आदि पौष्टिक औषधियों के रूप में अनेक अवलेह तैयार किए जाते हैं। अस्तु।

आनन्द यदि फलों के सन्दर्भ में अपवाद रखता तो वह बिहार का निवासी था, बहुत सम्भव है, फलों में आम का अपवाद रखता, जैसे खाद्यान्नों में वासमती चावलों में उत्तम कलम जाति के चावल रखे। आम तो फलों का राजा माना जाता है, और बिहार में सर्वोत्तम कोटि का तथा अनेक जातियों का होता है। अथवा उस प्रदेश में तो और भी उत्तम प्रकार के फल होते हैं, उनमें से और कोई रखता। वस्तुतः जैसा ऊपर कहा गया है, आनन्द ने आंवले का खाने के फल की दृष्टि से अपवाद नहीं रखा, मस्तक, नेत्र, बाल आदि की शुद्धि के लिए ही इसे स्वीकार किया। यह वर्णन भी ऐसे ही सन्दर्भ में है। इससे पहले के तेईसवें सूत्र में आनन्द ने हरी मुलैठी के अतिरिक्त सब प्रकार के दतौनों का परित्याग किया, इसके आगे पच्चीसवें सूत्र में शतपाक तथा सहस्रपाक तैलों के अतिरिक्त मालिश के सभी तैलों का सेवन न करने का नियम किया। उसके बाद छब्बीसवें सूत्र में सुगन्धित गन्धाटक के सिवाय सभी उबटनों का परित्याग किया। यहां खाने के फल का प्रसंग ही संगत नहीं है। यह तो सारा सन्दर्भ दतौन, स्नान, मालिश, उबटन आदि देह-शुद्धि से सम्बद्ध कार्यों से जुड़ा है।

अब एक प्रश्न उठता है, क्या आनन्द ने खाने के किसी भी फल का अपवाद नहीं रखा? हो सकता है, उसने अपवाद नहीं रखा हो। सामान्यतः सचित्त रूप में सभी फलों को अस्वीकार्य माना हो। इस सम्बन्ध में डा. रुडोल्फ हार्नले ने भी चर्चा की है। उन्होंने भी इसी तरह का संकेत दिया है।[३]

२५ तयाणंतरं च णं अब्भंगणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अवसेसं अब्भंगणविहिं पच्चक्खामि।

उसके बाद उसने अभ्यंगन-विधि का परिमाण किया:—

---

१. चरकसंहिता-चिकित्सास्थान १। १६-२७॥

२. दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्।

२. लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्॥
चरकसंहिता-चिकित्सास्थान १। ७-८॥

३. Uvasagadasao, Lecture I Pages 15, 16

शतपाक तथा सहस्रपाक तैलों के अतिरिक्त मैं और सभी अभ्यंगनविधि—मालिश के तैलों का परित्याग करता हूं।

विवेचन

शतपाक या सहस्रपाक तैल कोई विशिष्ट मूल्यवान् तैल रहे होंगे, जिनमें बहुमूल्य औषधियां पड़ी हों। आचार्य अभयदेव सूरि द्वारा वृत्ति में इस संबंध में किए गए संकेत के अनुसार शतपाक तैल रहा हो, जिसमें १०० प्रकार के द्रव्य पड़े हों, जो सौ दफा पकाया गया हो अथवा जिसका मूल्य सौ कार्षापण रहा हो। कार्षापण प्राचीन भारत में प्रयुक्त एक सिक्का था। वह सोना, चांदी व तांवा-इनका अलग अलग तीन प्रकार का होता था। प्रयुक्त धातु के अनुसार वह स्वर्ण-कार्षापण रजत-कार्षापण या ताम्र-कार्षापण कहा जाता रहा था। स्वर्ण-कार्षापण का वजन १६ मासे, रजत-कार्षापण का वजन १६ पण (तोल विशेष) और ताम्र-कार्षापण का वजन ८० रत्ती होता था।[1]

सौ के स्थान पर जहां यह क्रम सहस्र में आ जाता है, वहां वह तैल सहस्रपाक कहा जाता है।

२६. तयाणंतरं च णं उव्वट्टणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एकेणं सुरहिणा गंधट्टएणं, अवसेसं उव्वट्टणविहिं पच्चक्खामि।

इसके बाद उसने उबटन-विधि का परिमाण किया:—

एक मात्र सुगन्धित गंधाटक—गेहूं आदि के आटे के साथ कतिपय सौगन्धिक पदार्थों को मिला कर तैयार की गई पीठी के अतिरिक्त अन्य सभी उबटनों का मैं परित्याग करता हूं।

२७. तयाणंतरं च णं मज्जणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ अट्ठहिं उट्टिएहिं उदगस्स घडेहिं अवसेसं मज्जणविहिं पच्चक्खामि।

उसके बाद उसने स्नान-विधि का परिमाण किया:—

– पानी के आठ औष्ट्रिक—ऊंट के आकार के घड़े, जिनका मुंह ऊंट की तरह संकड़ा, गर्दन लम्बी और आकार बड़ा हो, के अतिरिक्त स्नानार्थ जल का परित्याग करता हूं।

२८. तयाणंतरं च णं वत्थविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं खोम-जुयलेणं, अवसेसं वत्थविहिं पच्चक्खामि।

तब उसने वस्त्रविधि का परिमाण किया :—

सूती दो वस्त्रों के सिवाय मैं अन्य वस्त्रों का परित्याग करता हूं।

२९. तयाणंतरं च णं विलेवणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ अगरु-कुंकुम-चंदणमादिएहिं अवसेसं विलेवणविहिं पच्चक्खामि।

तब उसने विलेपन-विधि का परिमाण किया :—

१. संस्कृत-इंगलिश डिक्शनेरी—सर मोनियर विलियम्स, पृ. १७६

अगर, कुंकुम तथा चन्दन के अतिरिक्त मैं सभी विलेपन-द्रव्यों का परित्याग करता हूं।

३०. तयाणंतरं च णं पुप्फविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं सुद्ध-पउमेणं, मालइ-कुसुम-दामेणं वा, अवसेसं पुप्फविहिं पच्चक्खामि।

इसके पश्चात् उसने पुष्प-विधि का परिमाण किया :—

मैं श्वेत कमल तथा मालती के फूलों की माला के सिवाय सभी प्रकार के फूलों के धारण करने का परित्याग करता हूं।

३१. तयाणंतरं च णं आभरणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ मट्ठ-कण्णेज्जएहिं नाममुद्दाए य, अवसेसं आभरणविहिं पच्चक्खामि।

तब उसने आभरण-विधि का परिमाण किया :—

मैं शुद्ध सोने के अचित्रित—सादे कुंडल और नामांकित मुद्रिका—अंगूठी के सिवाय सब प्रकार के गहनों का परित्याग करता हूं।

३२. तयाणंतरं च णं धूवणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ अगरुतुरुक्कधूवमादिएहिं, अवसेसं धूवणविहिं पच्चक्खामि।

तदनन्तर उसने धूपनविधि का परिमाण किया:—

अगर, लोबान तथा धूप के सिवाय मैं सभी धूपनीय वस्तुओं का परित्याग करता हूं।

३३. तयाणंतरं च णं भोयणविहिपरिमाणं करेमाणे, पेज्जविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं पेज्ज-विहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने भोजन-विधि के परिमाण के अन्तर्गत पेय-विधि का परिमाण किया :—

मैं एक मात्र काष्ठ पेय-मूंग का रसा अथवा घी में तले हुए चावलों से बने एक विशेष पेय के अतिरिक्त अवशिष्ट सभी पेय पदार्थों का परित्याग करता हूं।

३४. तयाणंतरं च णं भक्खविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेहिं घयपुण्णेहिं खण्ड-खज्जएहिं वा, अवसेसं भक्खविहिं पच्चक्खामि।

उसके अनन्तर उसने भक्ष्य-विधि का परिमाण किया :-—

मैं घयपुण्ण (घृतपूर्ण)—घेवर, खंडखज्ज (खण्डखाद्य)—खाजे, इन के सिवाय और सभी पकवानों का परित्याग करता हूं।

३५. तयाणंतरं च णं ओदणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ कलमसालि-ओदणेणं, अवसेसं ओदण-विहिं पच्चक्खामि।

तब उसने ओदनविधि का परिमाण किया :—

कलम जाति के धान के चावलों के सिवाय मैं और सभी प्रकार के चावलों का परित्याग करता हूं।

विवेचन

उत्तम जाति के वासमती चावलों का संभवतः कलम एक विशेष प्रकार है। आनन्द विदेह—उत्तर विहार का निवासी था। आज की तरह तब भी संभवतः वहां चावल ही मुख्य भोजन था। यही कारण है कि खाने के अनाजों के परिमाण के सन्दर्भ में केवल ओदनविधि का ही उल्लेख आया है, जिसका आशय है विभिन्न चावलों में एक विशेष जाति के चावल का अपवाद रखते हुए अन्यों का परित्याग करना। इससे यह अनुमान होता है कि तब वहां गेहूं आदि का खाने में प्रचलन नहीं था या बहुत ही कम था।

३६. तयाणंतरं च णं सूवविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ कलायसूवेण वा, मुग्ग-माससूवेण वा, अवसेसं सूवविहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने सूपविधि का परिमाण—दाल के प्रयोग का सीमाकरण किया :—

मटर, मूंग और उरद की दाल के सिवाय मैं सभी दालों का परित्याग करता हूं।

३७. तयाणंतरं च णं घयविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सारइएणं गोघयमंडेणं, अवसेसं घयविहिं पच्चक्खामि।

उसके बाद उसने घृतविधि का परिमाण किया :—

शरद् ऋतु के उत्तम गो-घृत के सिवाय मैं सभी प्रकार के घृत का परित्याग करता हूं।

विवेचन

आनन्द ने खाद्य, पेय, भोग्य, उपभोग्य तथा सेव्य—जिन-जिन वस्तुओं का अपवाद रखा, अर्थात् अपने उपयोग के लिए जिन वस्तुओं को स्वीकार किया, उन-उन वर्णनों को देखने से प्रतीत होता है कि उपादेयता, उत्तमता, प्रियता आदि की दृष्टि से उसने बहुत विज्ञता से काम लिया। अत्यन्त उपयोगी, स्वास्थ्य-वर्द्धक, हितावह एवं रुचि-परिष्कारक पदार्थ उसने भोगोपभोग में रखे।

प्रस्तुत सूत्र के अनुसार आनन्द ने घृतों में केवल शरद् ऋतु के गो-घृत सेवन का अपवाद रखा। इस सन्दर्भ में एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या आनन्द वर्ष भर शरद्-ऋतु के ही गो-घृत का सेवन करता था? उसने ताजे घी का अपवाद क्यों नहीं रखा?

वास्तव में बात यह है, रस-पोषण की दृष्टि से शरद् ऋतु का छहों ऋतुओं में असाधारण महत्त्व है। आयुर्वेद के अनुसार शरद् ऋतु में चन्द्रमा की किरणों से अमृत (जीवनरस) टपकता है। इसमें अतिरंजन नहीं है। शरद् ऋतु वह समय है, जो वर्षा और शीत का मध्यवर्ती है। इस ऋतु में वनौषधियों (जड़ी-बूटियों) में, वनस्पतियों में, वृक्षों में, पौधों में, घास-पात में एक विशेष रस-संचार होता है। इसमें फलने वाली वनस्पतियां शक्ति-वर्द्धक, उपयोगी एवं स्वादिष्ट होती हैं। शरद् ऋतु का गो-घृत स्वीकार करने के पीछे बहुत संभव है, आनन्द की यही भावना रही हो। इस समय का

घास चरने वाली गायों के घृत में गुणात्मकता की दृष्टि से विशेषता रहती है। आयुर्वेद यह भी मानता है कि एक वर्ष तक का पुराना घृत परिपक्व घृत होता है। यह स्वास्थ्य की दृष्टि से विशेष लाभप्रद एवं पाचन में हलका होता है। ताजा घृत पाचन में भारी होता है।

भाव-प्रकाश में घृत के सम्बन्ध में लिखा है—"एक वर्ष व्यतीत होने पर घृत की संज्ञा प्राचीन हो जाती है। वैसा घृत त्रिदोष नाशक होता है—वात, पित्त, कफ—तीनों दोषों का समन्वायक होता है। वह मूर्च्छा, कुष्ट, विष-विकार, उन्माद, अपस्मार तथा तिमिर (आंखों के आगे अंधेरी आना) इन दोषों का नाशक है।"[1]

भाव-प्रकाश के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि एक वर्ष तक का घृत अखाद्य नहीं होता। वह उत्तम खाद्य है। पोषक के साथ-साथ दोषनाशक भी है। यदि घृत को खूब गर्म करके छाछ आदि निकाल कर, छान कर रखा जाय तो एक वर्ष तक उसमें दुर्गन्ध, दुःस्वाद आदि विकार उत्पन्न नहीं होते।

औषधि के रूप में तो घृत जितना पुराना होता है, उतना ही अच्छा माना गया है। भाव-प्रकाशमें लिखा है:—

"घृत जैसे जैसे अधिक पुराना होता है, वैसे वैसे उसके गुण अधिक से अधिक बढ़ते जाते हैं।"[2]

कल्याणक घृत, महाकल्याणक घृत, लशुनाद्य घृत, पंचगव्यघृत, महापंचगव्यघृत, ब्राह्मीघृत, आदि जितने भी आयुर्वेद में विभिन्न रोगों की चिकित्सा हेतु घृत सिद्ध किए जाते हैं, उन में प्राचीन गो-घृत का ही प्रयोग किया जाता है, जैसे ब्राह्मीघृत के सम्बन्ध में चरक-संहिता में लिखा है :—

"ब्राह्मी के रस, वच, कूठ और शंखपुष्पी द्वारा सिद्ध पुरातन गो-घृत ब्राह्मीघृत कहा जाता है। यह उन्माद, अलक्ष्मी—कान्ति-विहीनता, अपस्मार तथा पाप—देह-कलुषता—इन रोगों को नष्ट करता है।"[3]

इस परिपार्श्व में चिन्तन करने से यह स्पष्ट होता है कि आनन्द वर्ष भर शरद् ऋतु के गो-घृत का ही उपयोग करता था। आज भी जिनके यहां गोधन की प्रचुरता है, वर्ष भर घृत का संग्रह रखा जाता है। एक विशेष बात और है, वर्षा आदि अन्य ऋतुओं का घृत टिकाऊ भी नहीं होता, शरद् ऋतु का ही घृत टिकाऊ होता है। इस टिकाऊपन का खास कारण गाय का आहार है, जो शरद् ऋतु में अच्छी परिपक्वता और रस-स्निग्धता लिए रहता है।

---

१. वर्षादूर्ध्वं भवेदाज्यं पुराणं तत् त्रिदोषनुत्।
मूर्च्छाकुष्टविषोन्मादापस्मारतिमिरापहम्॥
भावप्रकाश, घृतवर्ग १५

२. यथा यथाऽखिलं सर्पिः पुराणमधिकं भवेत्।
तथा तथा गुणैः स्वैः स्वैरधिकं तदुदाहृतम्॥
भावप्रकाश, घृतवर्ग १६

३. ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीभिरेव च।
पुराणं घृतमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपाप्मजित्॥
चरकसंहिता, चिकित्सास्थान १०.२४

३८. तयाणंतरं च णं सागविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ वत्थुसाएण वा, तुंबसाएण वा, सुत्थियसाएण वा, मंडुक्कियसाएण वा, अवसेसं सागविहिं पच्चक्खामि।

तदनन्तर उसने शाकविधि का परिमाण किया :—

बथुआ, लौकी, सुआपालक तथा भिंडी—इन सागों के सिवाय और सब प्रकार के सागों का परित्याग करता हूं।

३९. तयाणंतरं च णं माहुरयविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं पालंगामाहुरएणं, अवसेसं माहुरयविहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने माधुरकविधि का परिमाण किया :—

मैं पालंग माधुरक-शल्लकी (वृक्ष-विशेष) के गोंद से बनाए मधुर पेय के सिवाय अन्य सभी मधुर पेयों का परित्याग करता हूं।

४०. तयाणंतरं च णं जेमणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सेहंबदालियंबेहिं, अवसेसं जेमणविहिं पच्चक्खामि।

उसके बाद उसने व्यंजनविधि का परिमाण किया :—

मैं कांजी बड़े तथा खटाई पड़े मूंग आदि की दाल के पकौड़ों के सिवाय सब प्रकार के व्यंजनों-चटकीले पदार्थों का परित्याग करता हूं।

४१. तयाणंतरं च णं पाणियविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं अंतलिक्खोदएणं, अवसेसं पाणियविहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने पीने के पानी का परिमाण किया :—

मैं एक मात्र आकाश से गिरे—वर्षा के पानी के सिवाय अन्य सब प्रकार के पानी का परित्याग करता हूं।

४२. तयाणंतरं च णं मुहवासविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ पंच-सोगंधिएणं तंबोलेणं, अवसेसं मुहवासविहिं पच्चक्खामि।

तत्पश्चात् उसने मुखवासविधि का परिमाण किया :—

पांच सुगन्धित वस्तुओं से युक्त पान के सिवाय मैं मुख को सुगन्धित करने वाले बाकी सभी पदार्थों का परित्याग करता हूं।

विवेचन

वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि ने पांच सुगन्धित वस्तुओं में इलायची, लौंग, कपूर, दालचीनी तथा जायफल का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है, समृद्ध जन पान में इनका प्रयोग करते रहे हैं। सुगन्धित होने के साथ साथ स्वास्थ्य की दृष्टि से भी ये लाभकर हैं।

अनर्थदण्ड-विरमण

४३. तयाणंतरं च णं चउव्विहं अणट्ठादंडं पच्चक्खाइ। तं जहा—अवज्झाणायरियं, पमायायरियं, हिंसप्पयाणं, पावकम्मोवएसे।

तत्पश्चात् उसने चार प्रकार के अनर्थदण्ड—अपध्यानाचरित, प्रमादाचरित, हिंस्र-प्रदान तथा पापकर्मोपदेश का प्रत्याख्यान किया।

विवेचन

बिना किसी उद्देश्य के जो हिंसा की जाती है, उसका समावेश अनर्थदंड में होता है। यद्यपि हिंसा तो हिंसा ही है, पर जो लौकिक दृष्टि से आवश्यकता या प्रयोजनवश की जाती है, उसमें तथा निरर्थक की जाने वाली हिंसा में बड़ा भेद है। आवश्यकता या प्रयोजनवश हिंसा करने को जब व्यक्ति बाध्य होता है तो उसकी विवशता देखते उसे व्यावहारिक दृष्टि से क्षम्य भी माना जा सकता है पर जो प्रयोजन या मतलब के बिना हिंसा आदि का आचरण करता है, वह सर्वथा अनुचित है। इसलिए उसे अनर्थदंड कहा जाता है।

वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि ने धर्म, अर्थ तथा काम रूप प्रयोजन के बिना किये जाने वाले हिंसापूर्ण कार्यों को अनर्थदंड कहा है।

अनर्थदंड के अन्तर्गत लिए गए अपध्यानाचरित का अर्थ है—दुश्चिन्तन। दुश्चिन्तन भी एक प्रकार से हिंसा ही है। वह आत्मगुणों का घात करता है। दुश्चिन्तन दो प्रकार का है—आर्त्त ध्यान तथा रौद्रध्यान। अभीप्सित वस्तु, जैसे धन-संपत्ति, संतति, स्वस्थता आदि प्राप्त न होने पर एवं दारिद्रय, रुग्णता, प्रियजन का विरह आदि अनिष्ट स्थितियों के होने पर मन में जो क्लेशपूर्ण विकृत चिन्तन होता है, वह आर्त्त ध्यान है। क्रोधावेश, शत्रु-भाव और वैमनस्य आदि से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुंचाने आदि की बात सोचते रहना रौद्रध्यान है। इन दोनों तरह से होने वाला दुश्चिन्तन अपध्यानाचरित रूप अनर्थदंड है।

प्रमादाचरित—अपने धर्म, दायित्व व कर्तव्य के प्रति अजागरूकता प्रमाद है। ऐसा प्रमादी व्यक्ति अक्सर अपना समय दूसरों की निन्दा करने में, गप्प मारने में, अपने बड़प्पन की शेखी बघारते रहने में, अश्लील बातें करने में बिताता है। इनसे संबंधित मन, वचन तथा शरीर के विकार प्रमादाचरित में आते हैं। हिंस्र-प्रदान—हिंसा के कार्यों में साक्षात् सहयोग करना, जैसे चोर, डाकू तथा शिकारी आदि को हथियार देना, आश्रय देना तथा दूसरी तरह से सहायता करना। ऐसा करने से हिंसा को प्रोत्साहन और सहारा मिलता है, अतः यह अनर्थदंड है।

पापकर्मोपदेश—औरों को पाप-कार्य में प्रवृत्त होने में प्रेरणा, उपदेश या परामर्श देना। उदाहरणार्थ, किसी शिकारी को यह बतलाना कि अमुक स्थान पर शिकार-योग्य पशु-पक्षी उसे बहुत प्राप्त होंगे, किसी व्यक्ति को दूसरों को तकलीफ देने के लिए उत्तेजित करना, पशु-पक्षियों को पीडित करने के लिए लोगों को दुष्प्रेरित करना—इन सबका पाप-कर्मोपदेश में समावेश है।

अनर्थदंड में लिए गए ये चारों प्रकार के दुष्कार्य ऐसे हैं, जिनका प्रत्येक धर्मनिष्ठ, शिष्ट व

सभ्य नागरिक को परित्याग करना चाहिए। अध्यात्म-उत्कर्ष के साथ-साथ उत्तम और नैतिक नागरिक जीवन की दृष्टि से भी यह बहुत ही आवश्यक है।

अतिचार

सम्यक्त्व के अतिचार

४४. इह खलु आणंदा ! इ समणे भगवं महावीरे आणंदं समणोवासगं एवं वयासी-एवं खलु, आणंदा ! समणोवासएणं अभिगयजीवाजीवेणं जाव (उवलद्धपुण्णपावेणं, आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिगरण-बंध-मोक्ख-कुसलेणं, असहेज्जेणं, देवासुर-नाग-सुवण्णजक्ख-रक्खस किण्णर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जेणं) सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—संका, कंखा, विइगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवे।

भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक आनन्द से कहा—आनन्द ! जिसने जीव, अजीव आदि पदार्थों के स्वरूप को यथावत् रूप में जाना है, (पुण्य और पाप का भेद समझा है, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध तथा मोक्ष को भलीभांति समझा है, जो किसी दूसरे की सहायता का अनिच्छुक है, देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व, महोरग आदि देवताओं द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन से अनतिक्रमणीय है—विचलित नहीं किया जा सकता है) उसको सम्यक्त्व के पांच प्रधान अतिचार जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे अतिचार इस प्रकार हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, पर-पाषंड-प्रशंसा तथा पर-पाषंड-संस्तव।

विवेचन

व्रत स्वीकार करना उतना कठिन नहीं है, जितना दृढता से पालन करना। पालन करने में व्यक्ति को क्षण-क्षण जागरूक रहना होता है। बाधक स्थिति के उत्पन्न होने पर भी अविचल रहना होता है। लिये हुए व्रतों में स्थिरता बनी रहे, उपासक के मन में कमजोरी न आए, इसके लिए अतिचार-वर्जन के रूप में जैन साधना-पद्धति में बहुत ही सुन्दर उपाय बतलाया गया है।

अतिचार का अर्थ व्रत में किसी प्रकार की दुर्बलता, स्खलना या आंशिक मलिनता आना है। यदि अतिचार को उपासक लांघ नहीं पाता तो वह अतिचार अनाचार में बदल जाता है। अनाचार का अर्थ है, व्रत का टूट जाना। इसलिए उपासक के लिए आवश्यक है कि वह अतिचारों को यथावत् रूप में समझे तथा जागरूकता और आत्मबल के साथ उनका वर्जन करे।

उपासक के लिए सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु है सम्यक्त्व—यथार्थ तत्त्वश्रद्धान—सत्य के प्रति सही आस्था। यदि उपासक सम्यक्त्व को खो दे तो फिर आगे बच ही क्या पाए ? आस्था में सत्य का स्थान जब असत्य ले लेगा तो सहज ही आचरण में, जीवन में विपरीतता पल्लवित होगी। इसलिए भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक आनन्द को सबसे पहले सम्यक्त्व के अतिचार बतलाए और उनका आचरण न करने का उपदेश दिया।

सम्यक्त्व के पांच अतिचारों का संक्षेप में विवेचन इस प्रकार है—

शंका—सर्वज्ञ द्वारा भाषित आत्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्वों में सन्देह

होना शंका है। मन में सन्देह उत्पन्न होने पर जब आस्था डगमगा जाती है, विश्वास हिल जाता है तो उसे शंका कहा जाता है। शंका होने पर जिज्ञासा का भाव हलका पड़ जाता है। संशय जिज्ञासा-मूलक है। विश्वास या आस्था को दृढ करने के लिए व्यक्ति जब किसी तत्त्व या विषय के बारे में स्पष्टता हेतु और अधिक जानना चाहता है, प्रश्न करता है, उसे शंका नहीं कहा जाता, क्योंकि उससे वह अपना विश्वास दृढ से दृढतर करना चाहता है। जैन आगमों में जब भगवान् महावीर के साथ प्रश्नोत्तरों का क्रम चला है, वहां प्राश्निक के मन में संशय उत्पन्न होने की बात कही गई है। भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम के प्रश्न तथा भगवान् के उत्तर सारे आगम वाङ्मय में बिखरे पड़े हैं। जहां गौतम प्रश्न करते हैं, वहां सर्वत्र उनके मन के संशय उत्पन्न होने का उल्लेख है। साथ ही साथ उन्हें परम श्रद्धावान् भी कहा गया है। गौतम का संशय जिज्ञासा-मूलक था। एक सम्यक्त्वी के मन में श्रद्धापूर्ण संशय होना दोष नहीं है, पर उसे अश्रद्धामूलक शंका नहीं होनी चाहिए।

कांक्षा—साधारणतया इसका अर्थ इच्छा को किसी ओर मोड़ देना या झुकना है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ बाहरी दिखावे या आडम्बर या दूसरे प्रलोभनों से प्रभावित होकर किसी दूसरे मत की ओर झुकना है। बाहरी प्रदर्शन से सम्यक्त्वी को प्रभावित नहीं होना चाहिए।

विचिकित्सा—मनुष्य का मन बड़ा चंचल है। उसमें तरह-तरह के संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं। कभी-कभी उपासक के मन में ऐसे भाव भी उठते हैं—वह जो धर्म का अनुष्ठान करता है, तप आदि का आचरण करता है, उसका फल होगा या नहीं ? ऐसा सन्देह विचिकित्सा कहा गया है। मन में इस प्रकार का सन्देहात्मक भाव पैदा होते ही मनुष्य की कार्य-गति में सहज ही शिथिलता आ जाती है, अनुत्साह बढ़ने लगता है। कार्य-सिद्धि में निश्चय ही यह स्थिति बड़ी बाधक है। सम्यक्त्वी को इससे बचना चाहिए।

पर-पाषंड-प्रशंसा—भाषा-विज्ञान के अनुसार किसी शब्द का एक समय जो अर्थ होता है, आगे चलकर भिन्न परिस्थितियों में कभी-कभी वह सर्वथा बदल जाता है। यही स्थिति 'पाषंड' शब्द के साथ है। आज प्रचलित पाखंड या पाखंडी शब्द इसी का रूप है पर तब और अब के अर्थ में सर्वथा भिन्नता है। भगवान् महावीर के समय में और शताब्दियों तक पाषंडी शब्द अन्य मत के व्रतधारक अनुयायियों के लिए प्रयुक्त होता रहा। आज पाखंड शब्द निन्दामूलक अर्थ में है। ढोंगी को पाखंडी कहा जाता है। प्राचीन काल में पाषंड शब्द के साथ निन्दावाचकता नहीं जुड़ी थी। अशोक के शिलालेखों में भी अनेक स्थानों पर इस शब्द का अन्य मतावलम्बियों के लिए प्रयोग हुआ है।

पर-पाषंड-प्रशंसा सम्यक्त्व का चौथा अतिचार है, जिसका अभिप्राय है, सम्यक्त्वी को अन्य मतावलम्बी का प्रशंसक नहीं होना चाहिए। यहां प्रयुक्त प्रशंसा व्यावहारिक शिष्टाचार के अर्थ में नहीं है, तात्त्विक अर्थ में है। अन्य मतावलम्बी के प्रशंसक होने का अर्थ है, उसके धार्मिक सिद्धान्तों का सम्मान। यह तभी होता है, जब अपने अभिमत सिद्धान्तों में विश्वास की कमी आ जाय। इसे दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यह विश्वास में शिथिलता होने का द्योतक है सोच समझ कर अंगीकार किये गए विश्वास पर व्यक्ति को दृढ रहना ही चाहिए। इस प्रकार के प्रशंसा आदि कार्यों से निश्चय ही विश्वास की दृढता व्याहत होती है। इसलिए यह संकीर्णता नहीं है, आस्था की पुष्टि का एक उपयोगी उपाय है।

पर-पाषंड-संस्तव—संस्तव का अर्थ घनिष्ठ सम्पर्क या निकटतापूर्ण परिचय है। पर-मताबर्म्बी पाषंडियों के साथ धार्मिक दृष्टि से वैसा परिचय अथवा सम्पर्क उपासक के लिए उपादेय नहीं है। इससे उसकी आस्था में विचलन पैदा होने की आशंका रहती है।

अहिंसा-व्रत के अतिचार

४५. तयाणंतरं च णं थूलगस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—बंधे, वहे, छवि-च्छेए, अइभारे, भत्त-पाण-वोच्छेए।

इसके बाद श्रमणोपासक को स्थूल-प्राणातिपातविरमण व्रत के पांच प्रमुख अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार, भक्त-पान-व्यवच्छेद।

विवेचन

बन्ध—इसका अर्थ बांधना है। पशु आदि को इस प्रकार बांधना, जिससे उनको कष्ट हो, बन्ध में आता है। व्याख्याकारों ने दास आदि को बांधने की भी चर्चा की है। उन्हें भी इस प्रकार बांधना, जिससे उन्हें कष्ट हो, इस अतिचार में शामिल है। दास आदि को बांधने का उल्लेख भारत के उस समय की ओर संकेत करता है, जब दास और दासी पशु तथा अन्यान्य अधिकृत सामग्री की तरह खरीदे-बेचे जाते थे। स्वामी का उन पर पूर्ण अधिकार होता था। पशुओं की तरह वे जीवन भर के लिए उनकी सेवा करने को बाध्य होते थे।

शास्त्रों में बन्ध दो प्रकार के बतलाए गए हैं—एक अर्थ-बन्ध तथा दूसरा अनर्थ-बन्ध। किसी प्रयोजन या हेतु से बांधना अर्थ-बन्ध में आता है, जैसे किसी रोग की चिकित्सा के लिए बांधना पड़े या किसी आपत्ति से बचाने के लिए बांधना पड़े। प्रयोजन या कारण के बिना बांधना अनर्थ-बन्ध है, जो सर्वथा हिंसा है। यह अनर्थ-दंड-विरमण नामक आठवें व्रत के अन्तर्गत अनर्थ-दंड में जाता है। प्रयोजनवश किए जाने वाले बन्ध के साथ क्रोध, क्रूरता, द्वेष जैसे कलुषित भाव नहीं होने चाहिए। यदि होते हैं तो वह अतिचार है। व्याख्याकारों ने अर्थ-बन्ध को सापेक्ष और निरपेक्ष—दो भेदों में बांटा है। सापेक्ष बन्ध वह है, जिससे छूटा जा सके, उदाहरणार्थ—कहीं आग लग जाय, वहां पशु बंधा हो, वह यदि हलके रूप में बंधा होगा तो वहां से छूट कर बाहर जा सकेगा। ऐसा बन्ध अतिचार में नहीं आता। पर वह बन्ध, जिससे भयजनक स्थिति उत्पन्न होने पर प्रयत्न करने पर भी छूटा न जा सके, निरपेक्ष बन्ध है। वह अतिचार में आता है। क्योंकि छूट न पाने पर बंधे हुए प्राणी को घोर कष्ट होता है, उसका मरण भी हो सकता है।

वध—साधारणतया वध का अर्थ किसी को जान से मारना है। पर, यहां वध इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। क्योंकि किसी को जान से मारने पर तो अहिंसा व्रत सर्वथा खंडित ही हो जाता है। वह तो अनाचार है। यहां वध घातक प्रहार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा प्रहार जिससे प्रहृत व्यक्ति के अंग, उपांग को हानि पहुंचे।

छविच्छेद—छवि का अर्थ सुन्दरता है। इसका एक अर्थ अंग भी किया जाता है। छविच्छेद का तात्पर्य किसी की सुन्दरता, शोभा मिटा देने अर्थात् अंग-भंग कर देने से है। किसी का कोई अंग

काट डालने से वह सहज ही छविशून्य हो जाता है। क्रोधावेश में किसी का अंग काट डालना इस अतिचार में शामिल है। मनोरंजन के लिए कुत्ते आदि पालतू पशुओं की पूंछ, कान आदि काट देना भी इस अतिचार में आता है।

अतिभार—पशु, दास आदि पर उनकी ताकत से ज्यादा बोझ लादना अतिभार में आता है। आज की भाषा में नौकर, मजदूर, अधिकृत कर्मचारी से इतना ज्यादा काम लेना, जो उसकी शक्ति से बाहर हो, अतिभार ही है।

भक्त-पान-व्यवच्छेद—इसका अर्थ खान-पान में बाधा या व्यवधान डालना है। जैसे अपने आश्रित पशु को यथेष्ट चारा एवं पानी समय पर नहीं देना, भूखा-प्यासा रखना। यही बात दास-दासियों पर भी लागू होती है। उनकी भी खान-पान की व्यवस्था में व्यवधान या विच्छेद पैदा करना, इस अतिचार में शामिल है। आज के युग की भाषा में अपने नौकरों तथा कर्मचारियों आदि को समय पर वेतन न देना, वेतन में अनुचित रूप में कटौती कर देना, किसी की आजीविका में बाधा पैदा कर देना, सेवकों तथा आश्रितों से खूब काम लेना, पर उसके अनुपात में उचित व पर्याप्त भोजन न देना, वेतन न देना, इस अतिचार में शामिल है। ऐसा करना बुरा कार्य है, जनता के जीवन के साथ खिलवाड़ है।

इन अतिचारों में पशुओं की विशेष चर्चा आने से स्पष्ट है कि तब पशु-पालन एक गृहस्थ के जीवन का आवश्यक भाग था। घर, खेती तथा व्यापार के कार्यों में पशु का विशेष उपयोग था। आज सामाजिक स्थितियाँ बदल गई हैं। निर्दयता, क्रूरता, अत्याचार आदि अनेक नये रूपों में उभरे हैं। इसलिए धर्मोपासक को अपनी दैनन्दिन जीवन-चर्या को बारीकी से देखते हुए इन अतिचारों के मूल भाव को ग्रहण करना चाहिए और निर्दयतापूर्ण कार्यों का वर्जन करना चाहिए।

सत्यव्रत के अतिचार

४६- तयाणंतरं च णं थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तं जहा—सहसा-अब्भक्खाणे, रहसा-अब्भक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे।

तत्पश्चात् स्थूल मृषावादविरमण व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

सहसा-अभ्याख्यान, रहस्य-अभ्याख्यान, स्वदारमंत्रभेद, मृषोपदेश, कूटलेखकरण।

विवेचन

सहसा-अभ्याख्यान—किसी पर एकाएक बिना सोचे-समझे झूठा आरोप लगा देना।

रहस्य-अभ्याख्यान—किसी के रहस्य—गोपनीय बात को प्रकट कर देना।

स्वदारमंत्रभेद—अपनी पत्नी की गुप्त बात को बाहर प्रकट कर देना।

मृषोपदेश—किसी को गलत राय या असत्यमूलक उपदेश देना।

कूटलेखकरण—खोटा या झूठा लेख लिखना, दूसरे को ठगने या धोखा देने के लिए झूठे, जाली कागजात तैयार करना।

सहसा अभ्याख्यान—सहसा का अर्थ एकाएक है। जब कोई बात बिना सोचे-विचारे भावुकतावश झट से कही जाती है, वहां इस शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा करने में विवेक के बजाय भावावेश अधिक काम करता है। सहसा अभ्याख्यान का अर्थ है किसी पर एकाएक बिना सोचे-विचारे दोषारोपण करना। यदि यह दोषारोपण दुर्भावना, दुर्विचार और संक्लेशपूर्वक होता है तो अतिचार नहीं रहता, अनाचार हो जाता है। वहां उपासक का व्रत भग्न हो जाता है। सहसा बिना विचारे ऐसा करने में कुछ हलकापन है। पर, उपासक को रोष या भावावेशवश इस प्रकार भी किसी पर दोषा-रोपण नहीं करना चाहिए। इससे व्रत में दुर्बलता या शिथिलता आती है।

रहस्य-अभ्याख्यान—रहस् का अर्थ एकान्त है। उसी से रहस्य शब्द बना है, जिसका भाव एकान्त की बात या गुप्त बात है। रहस्य-अभ्याख्यान का अभिप्राय किसी गुप्त बात को अचानक प्रकट कर देना है। उपासक के लिए यह करणीय नहीं है। ऐसा करने से उसके व्रत में शिथिलता आती है। रहस्य-अभ्याख्यान का एक और अर्थ भी किया जाता है, तदनुसार किसी पर रहस्य—गुप्त रूप में षड्यंत्र आदि करने का दोषारोपण इसका तात्पर्य है। जैसे कुछ व्यक्ति एकान्त में बैठे आपस में बातचीत कर रहे हों। कोई मन में सशंक होकर एकाएक उन पर आरोप लगा दे कि वे अमुक षड्यन्त्र कर रहे हैं। इसका भी इस अतिचार में समावेश है। यहां भी यह ध्यान देने योग्य है कि जब तक सहसा, अचानक या बिना विचारे ऐसा किया जाता है तभी तक यह अतिचार है। यदि मन में दुर्भावनापूर्वक सोच-विचार के साथ ऐसा आरोप लगाया जाता है तो वह अनाचार हो जाता है, व्रत खंडित हो जाता है।

स्वदारमंत्रभेद—वैयक्तिकता, पारिवारिकता तथा सामाजिकता की दृष्टि से व्यक्ति के संबंध, एवं पारस्परिक बातें भिन्नता लिए रहती हैं। कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो दो ही व्यक्तियों तक सीमित रहती हैं; कुछ ऐसी होती हैं, जो सारे समाज में प्रसारित की जा सकती हैं। वैयक्तिक संबंधों में पति और पत्नी का संबंध सबसे अधिक घनिष्ठ है। उनकी अपनी गुप्त मंत्रणाएं, विचारणाएं आदि भी होती हैं। यदि पति अपनी पत्नी की ऐसी किसी गुप्त बात को, जो प्रकटनीय नहीं है, प्रकट कर दे तो वह स्वदार-मंत्र-भेद अतिचार में आता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी ऐसा करना उचित नहीं है। जिसकी बात प्रकट की जाती है, अपनी गोपनीयता को उद्घाटित जान उसे दुःख होता है, अथवा अपनी दुर्बलता को प्रकटित जान उसे लज्जित होना पड़ता है।

मृषोपदेश—झूठी राय देना या झूठा उपदेश देना मृषोपदेश में आता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—एक ऐसी बात जिसकी सत्यता, असत्यता, हितकरता, अहितकरता आदि के विषय में व्यक्ति को स्वयं ज्ञान नहीं है, पर वह है वास्तव में असत्य। उसकी वह दूसरों को राय देता है, वैसा करने का उपदेश देता है, यह इस अतिचार में आता है। एक ऐसा व्यक्ति है, जो किसी बात की असत्यता या हानिप्रदता जानता है, पर उसके बावजूद वह औरों को वैसा करने की प्रेरणा करता है, उपदेश देता है तो यह अनाचार है। इसमें व्रत भग्न हो जाता है। क्योंकि वहां प्रेरणा या उपदेश करने वाले की नीयत सर्वथा अशुद्ध है। एक ऐसी स्थिति होती है, जिसमें एक व्यक्ति किसी असत्य या अहितकर बात को भी सत्य या हितकर मानता है। हित-बुद्धि से दूसरे को उधर प्रवृत्त करता है। बात तो वस्तुतः असत्य है, पर उस व्यक्ति की नीयत अशुद्ध नहीं है, इसलिए यह दोष अतिचार या अनाचार कोटि में नहीं आता।

कूटलेखकरण—झूठे लेख या दस्तावेज लिखना, झूठे हस्ताक्षर करना आदि कूटलेखकरण में आते हैं। ऐसा करना अतिचार तभी है, यदि उपासक असावधानी से, अज्ञानवश या अनिच्छापूर्वक ऐसा करता है। यदि कोई जान बूझ कर दूसरे को धोखा देने के लिए जाली दस्तावेज तैयार करे, जाली मोहर या छाप लगाए, जाली हस्ताक्षर करे तो वह अनाचार में चला जाता है और व्रत खंडित हो जाता है।

अस्तेय-व्रत के अतिचार

४७. तयाणंतरं च णं थूलगस्स अदिण्णादाणवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तं जहा—तेणाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्ध-रज्जाइक्कमे, कूडतुल्लकूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे।

तदनन्तर स्थूल अदत्तादानविरमण-व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

स्तेनाहृत, तस्करप्रयोग, विरुद्धराज्यातिक्रम, कूटतुलाकूटमान, तत्प्रतिरूपकव्यवहार।

विवेचन

स्तेनाहृत—स्तेन का अर्थ चोर होता है, आहृत का अर्थ उस द्वारा चुरा कर लाई हुई वस्तु है। ऐसी वस्तु को लेना, खरीदना, रखना।

तस्करप्रयोग—अपने व्यावसायिक कार्यों में चोरों का उपयोग करना।

विरुद्धराज्यातिक्रम—विरोधवश अपने देश से इतर देशों के शासकों द्वारा प्रवेश निषेध की निर्धारित सीमा लांघना, दूसरे राज्यों में प्रवेश करना। इसका एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है, जिसके अनुसार राज्य-विरुद्ध कार्य करना इसके अन्तर्गत आता है।

कूटतुलाकूटमान—तोलने और मापने में झूठ का प्रयोग अर्थात् देने में कम तोलना या मापना, लेने में ज्यादा तोलना या मापना।

तत्प्रतिरूपकव्यवहार—इसका शब्दार्थ कूट-तुला-कूटमान जैसा व्यवहार है, अर्थात् व्यापार में अनैतिकता व असत्याचरण करना—जैसे अच्छी वस्तु में घटिया वस्तु मिला देना, नकली को असली बतलाना आदि।

स्वदारसन्तोष व्रत के अतिचार

४८, तयाणंतरं च णं सदार-संतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—इत्तरियपरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अणंगकीडा, परविवाहकरणे कामभोग-तिव्वाभिलासे।

तदनन्तर स्वदारसंतोष-व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे अतिचार इस प्रकार है :—

इत्वरिकपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीडा, पर-विवाहकरण तथा काम-भोगतीव्राभिलाष।

विवेचन

इत्वरिकपरिगृहीतागमन—इत्वरिक का अर्थ अस्थायी, अल्पकालिक या चला जाने वाला है। जो स्त्री कुछ समय के लिए किसी पुरुष के साथ रहती है और फिर चली जाती है, पर जितने समय रहती है, उसी की पत्नी के रूप में रहती है, और किसी पुरुष के साथ उसका यौन संबंध नहीं रहता, उसे इत्वरिका कहा जाता था। यों कुछ समय के लिए पत्नी के रूप में परिगृहीत या स्वीकृत स्त्री के साथ सहवास करना। इत्वरिका का एक अर्थ अल्पवयस्का भी किया गया है। तदनुसार छोटी आयु की पत्नी के साथ सहवास करना। ये इस व्रत के अतिचार हैं। ये हीन कामुकता के द्योतक हैं। इससे अब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन मिलता है।

अपरिगृहीतागमन—अपरिगृहीता का तात्पर्य उस स्त्री से है, जो किसी के भी द्वारा पत्नी रूप में परिगृहीत या स्वीकृत नहीं है, अथवा जिस पर किसी का अधिकार नहीं है। इसमें वेश्या आदि का समावेश होता है। इस प्रकार की स्त्री के साथ सहवास करना इस व्रत का दूसरा अतिचार है। ये दोनों अतिचार अतिक्रम आदि की अपेक्षा से समझने चाहिए, अर्थात् अमुक सीमा तक ही ये अतिचार हैं। उस सीमा का उल्लंघन होने पर अनाचार बन जाते हैं।[1]

अनंग-क्रीडा—कामावेशवश अस्वाभाविक काम-क्रीडा करना। इसके अन्तर्गत समलैंगिक संभोग, अप्राकृतिक मैथुन, कृत्रिम कामोपकरणों से विषय-वासना शान्त करना आदि समाविष्ट हैं। चारित्रिक दृष्टि से ऐसा करना बड़ा हीन कार्य है। इससे कुत्सित काम और व्यभिचार को पोषण मिलता है। यह इस व्रत का तीसरा अतिचार है।

पर-विवाह-करण—जैन धर्म के अनुसार उपासक का लक्ष्य ब्रह्मचर्य-साधना है। विवाह तत्त्वतः आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन की दुर्बलता है। क्योंकि हर कोई संपूर्ण रूप में ब्रह्मचारी रह नहीं सकता। गृही उपासक का यह ध्येय रहता है कि वह अब्रह्मचर्य से उत्तरोत्तर अधिकाधिक मुक्त होता जाय और एक दिन ऐसा आए कि वह संपूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का आराधक बन जाय। अतः गृहस्थ को ऐसे कार्यों से बचना चाहिए, जो ब्रह्मचर्य के प्रतिगामी हों। इस दृष्टि से इस अतिचार की परिकल्पना है। इसके अनुसार दूसरों के वैवाहिक संबंध करवाना इस अतिचार में आता है। एक गृहस्थ होने के नाते अपने घर या परिवार के लड़के-लड़कियों के विवाहों में तो उसे सक्रिय और प्रेरक रहना ही होता है और वह अनिवार्य भी है, पर दूसरों के वैवाहिक संबंध करवाने में उसे उत्सुक और प्रयत्नशील रहना ब्रह्मचर्य-साधना की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। वैसा करना इस व्रत का चौथा अतिचार है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने अपना दूसरा विवाह करना भी इस अतिचार में ही माना है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी दूसरों के इन कार्यों में पड़ना ठीक नहीं है। उदाहरणार्थ, कहीं कोई व्यक्ति किन्हीं के वैवाहिक संबंध करवाने में सहयोगी है, वह संबंध हो जाय। संयोगवश उस संबंध का निर्वाह ठीक नहीं हो, अथवा अयोग्य संबंध हो जाय तो संबंध करवाने वाले को भी उलाहना सहना होता है। संबंधित लोग प्रमुखतः उसी को कोसते हैं कि इसके कारण यह अवांछित और दुःखद संबंध हुआ। व्रती श्रावक को इससे बचना चाहिए।

---

१. अतिचारता चास्यातिक्रमादिभि :—अभयदेवकृतटीका।

काम-भोगतीव्राभिलाष—नियंत्रित और व्यवस्थित काम-सेवन मानव की आत्म-दुर्बलता के कारण एक आवश्यकता है। उस आवश्यकता की पूर्ति तक व्यक्ति क्षम्य है, परन्तु उसे काम की तीव्र अभिलाषा या उद्दाम वासना से ग्रस्त नहीं होना चाहिए।

तीव्र वैषयिक वासनावश कामोद्दीपक, बाजीकरण औषधि, मादक द्रव्य आदि के सेवन द्वारा व्यक्ति वैसा न करे। चारित्रिक दृष्टि से यह बहुत आवश्यक है। वैसा करना इस व्रत का पांचवां अतिचार है, जिससे उपासक को सर्वथा बचते रहना चाहिए।

इच्छा-परिमाण व्रत के अतिचार

४९. तयाणंतरं च णं इच्छा-परिमाणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—खेत्त-वत्थु-पमाणाइक्कमे, हिरण्ण-सुवण्णपमाणाइक्कमे, दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे, धण-धन्नपमाणाइक्कमे, कुवियपमाणाइक्कमे।

श्रमणोपासक को इच्छा-परिमाण-व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं:—

क्षेत्रवास्तु-प्रमाणातिक्रम, हिरण्यस्वर्ण-प्रमाणातिक्रम, द्विपदचतुष्पद-प्रमाणातिक्रम, धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम, कुप्य-प्रमाणातिक्रम।

विवेचन

धन, वैभव, संपत्ति का सांसारिक जीवन में एक ऐसा आकर्षण है कि समझदार और विवेक शील व्यक्ति भी उसकी मोहकता में फंसा रहता है। इच्छा-परिमाण-व्रत उस मोहकता से छुटकारा दिलाने का मार्ग है। व्यक्ति सांपत्तिक संबंधों को क्रमशः सीमित करता जाय, यही इस व्रत का लक्ष्य है। इस व्रत के जो अतिचार बतलाए गए हैं, उनका सेवन न करना व्यक्ति को इच्छाओं के सीमा-करण की विशेष प्रेरणा देता है।

क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम--क्षेत्र का अर्थ खेती करने की भूमि है। उपासक व्रत लेते समय जितनी भूमि अपने लिए रखता है, उसका अतिक्रमण वह न करे। वास्तु (वत्थु) का तात्पर्य रहने के मकान, बगीचे आदि हैं। व्रत लेते समय श्रावक इनकी भी सीमा करता है। इन सीमाओं को लांघ देना इस व्रत का अतिचार है।

हिरण्य-स्वर्ण-प्रमाणातिक्रम—व्रत लेते समय उपासक सोना, चांदी आदि बहुमूल्य धातुओं का अपने लिए सीमाकरण करता है, उस सीमाकरण को लांघ जाना इस व्रत का अतिचार है। मोहर, रुपया आदि प्रचलित सिक्के भी इसी में आते हैं।

द्विपद-चतुष्पद-प्रमाणातिक्रम—द्विपद—दो पैर वाले—मनुष्य—दास—दासी, नौकर—नौकरानियां तथा चतुष्पद—चार पैर वाले—पशु; व्रत स्वीकार करते समय इनके संदर्भ में किये गए सीमाकरण का लंघन करना इस अतिचार में शामिल है। जैसा कि पहले सूचित किया गया है, उन दिनों दास-प्रथा का इस देश में प्रचलन था इसलिए गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं की तरह दास, दासी भी स्वामी की संपत्ति होते थे।

धन-धान्यप्रमाणातिक्रम—मणि, मोती, हीरे, पन्ने आदि रत्न तथा खरीदने-बेचने की वस्तुओं को यहां धन कहा गया है। चावल, गेहूँ, जौ, चने आदि अनाज धान्य में आते हैं। धन एवं धान्य के परिमाण को लांघना इस व्रत का अतिचार है।

कुप्यप्रमाणातिक्रम—कुप्य का तात्पर्य घर का सामान है, जैसे कपड़े, खाट, आसन, बिछौने, फर्नीचर आदि। इस संबंध में की गई सीमा का लंघन इस व्रत का अतिचार है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि यह उल्लंघन जब अबुद्धिपूर्वक होता है, अर्थात् वास्तव में उल्लंघन तो होता हो किन्तु व्रतधारक ऐसा समझता हो कि उल्लंघन नहीं हो रहा है तभी तक वह अतिचार है। जानबूझ कर मर्यादा का अतिक्रमण करने पर अनाचार हो जाता है।

दिग्व्रत के अतिचार

५०. तयाणंतरं च णं दिसिव्वयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा-उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे, अहो-दिसिपमाणाइक्कमे, तिरियदिसि-पमाणाइक्कमे, खेत्तवुड्ढी, सइअंतरद्धा।

तदनन्तर दिग्व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए। उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

ऊर्ध्व-दिक्-प्रमाणातिक्रम, अधोदिक्-प्रमाणातिक्रम, तिर्यक्-दिक्-प्रमाणातिक्रम, क्षेत्र-वृद्धि, स्मृत्यन्तर्धान।

विवेचन

ऊर्ध्व-दिक्-प्रमाणातिक्रम—ऊर्ध्व दिशा—ऊंचाई की ओर जाने की मर्यादा का अतिक्रमण, अधोदिक्-प्रमाणातिक्रम-नीचे की ओर कुए, खदान आदि में जाने की मर्यादा का अतिक्रमण, तिर्यक्-दिक्प्रमाणातिक्रम—तिरछी दिशाओं में जाने की मर्यादा का अतिक्रमण, क्षेत्र-वृद्धि—व्यापार, यात्रा आदि के लिए की गई क्षेत्रमर्यादा का अतिक्रमण, स्मृत्यन्तर्धान—अपने द्वारा की गई दिशाओं आदि की मर्यादा को स्मृति में न रखना—ये इस व्रत के अतिचार हैं।

व्रतग्रहण के प्रसंग में यद्यपि दिशाव्रत और शिक्षाव्रतों के ग्रहण करने का उल्लेख नहीं है तब भी इन व्रतों का ग्रहण समझ लेना चाहिए, क्योंकि पूर्व में आनन्द ने कहा है—'दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जिस्सामि।' आगे भी 'दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ' ऐसा पाठ आया है। टीकाकार ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—सामायिक आदि शिक्षाव्रत थोड़े काल के और अमुक समय करने योग्य होने से आनन्द ने उस समय ग्रहण नहीं किए। दिग्व्रत भी उस समय ग्रहण नहीं किया, क्योंकि उसकी विरति का अभाव है।

उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत के अतिचार

५१. तयाणंतरं च णं उवभोगपरिभोगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-भोयणओ य, कम्मओ य। तत्थ णं भोयणओ समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—सचित्ताहारे, सचित्त-पडिबद्धाहारे, अप्पउलिओसहिभक्खणया, दुप्पउलिओसहिभक्खणया, तुच्छोसहिभक्खणया। कम्मओ णं समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं, तं जहा—इंगालकम्मे,

वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दंतवाणिज्जे, लक्खावाणिज्जे, रसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, जंतपीलणकम्मे, निल्लंछणकम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईजणपोसणया।

उपभोग—परिभोग दो प्रकार का कहा गया है—भोजन की अपेक्षा से तथा कर्म की अपेक्षा से। भोजन की अपेक्षा से श्रमणोपासक को उपभोग-परिभोग व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—सचित्त आहार, सचित्तप्रतिबद्ध आहार, अपक्व औषधि-भक्षणता, दुष्पक्व औषधि-भक्षणता तथा तुच्छ औषधि-भक्षणता।

कर्म की अपेक्षा से श्रमणोपासक को पन्द्रह कर्मादानों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

अंगारकर्म, वनकर्म, शकटकर्म, भाटीकर्म, स्फोटनकर्म, दन्तवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, रस-वाणिज्य, विषवाणिज्य, केशवाणिज्य, यन्त्रपीडनकर्म, निर्लांछन-कर्म, दवाग्निदापन, सर-ह्रद-तडाग-शोषण तथा असती-जन-पोषण।

विवेचन

सचित्त आहार—सचित्त का अर्थ सप्राण या सजीव है। बिना पकाई या बिना उबाली हुई शाक-सब्जी, वनस्पति, फल, असंस्कारित अन्न, जल आदि सचित्त पदार्थों में हैं। यहां उनके खाने का प्रसंग है।

ज्ञातव्य है कि श्रमणोपासक या श्रावक सचित्त वस्तुओं का सर्वथा त्यागी नहीं होता। ऐसा करना उसके लिए अनिवार्य भी नहीं है। वह अपनी क्षमता के अनुसार सचित्त वस्तुओं का त्याग करता है, एक सीमा करता है। कुछ का अपवाद रखता है, जिनका वह सेवन कर सकता है। जो मर्यादा उसने की है, असावधानी से यदि वह उसका उल्लंघन करता है तो यह सचित्त-आहार अतिचार में आ जाता है। यह असावधानी से सचित्त सम्बन्धी नियम का उल्लंघन करने की बात है, यदि जान बूझ कर वह सचित्त-त्याग सम्बन्धी मर्यादा का खंडन करता है तो यह अनाचार हो जाता है, व्रत टूट जाता है।

सचित्त-प्रतिबद्ध आहार—सचित्त वस्तु के साथ सटी हुई या लगी हुई वस्तु को खाना सचित्त-प्रतिबद्ध आहार है, उदाहरणार्थ, आम या खजूर को लिया जा सकता है। उनमें से प्रत्येक के दो भाग हैं—गुठली तथा गूदा या रस। गुठली सचित्त है, गूदा या रस अचित्त है, पर सचित्त से प्रतिबद्ध या संलग्न है। यह अतिचार भी उस व्यक्ति की अपेक्षा से है, जिसने सचित्त वस्तुओं की मर्यादा की है। यदि वह सचित्त-संलग्न का सेवन करता है तो उसकी मर्यादा भग्न होती है और यह अतिचार में आता है।

अपक्व-औषधि-भक्षणता—पूरी न पकी हुई औषधि, फल, चनों के छोले आदि खाना। औषधि के स्थान पर 'ओदन' पाठ भी प्राप्त होता है। ओदन का अर्थ पकाए हुए चावल हैं, तदनुसार एक अर्थ होगा—कच्चे या अधपके चावल खाना।

दुष्पक्व-औषधि-भक्षणता—जो वनौषधियां, फल आदि देर से पकने वाले हैं, उन्हें पके जान कर पूरे न पके रूप में सेवन करना।

तुच्छ-औषधि-भक्षणता—जिन वनौषधियों या फलों में खाने योग्य भाग कम हो, निरर्थक या फेंकने योग्य भाग अधिक हो, जैसे गन्ना, सीताफल आदि, इनका सेवन करना। इसका दूसरा अर्थ यह भी है, जिनके खाने में अधिक हिंसा होती हो, जैसे खस-खस के दाने, शामक के दाने, चौलाई आदि का सेवन।

इन अतिचारों की परिकल्पना के पीछे यही भावना है कि उपासक भोजन के सन्दर्भ में बहुत जागरूक रहे। जिह्वा-लोलुपता से सदा बचा रहे। जिह्वा के स्वाद को जीतना बड़ा कठिन है इसीलिए उस ओर उपासक को बहुत सावधान रहना चाहिए।

कर्मादान—कर्म और आदान-इन दो शब्दों से 'कर्मादान' बना है। आदान का अर्थ ग्रहण है। कर्मादान का आशय उन प्रवृत्तियों से है, जिनके कारण ज्ञानावरण आदि कर्मों का प्रबल बन्ध होता है। उन कामों में बहुत अधिक हिंसा होती है। इसलिए श्रावक के लिए वे वर्जित हैं। ये कर्म सम्बन्धी अतिचार हैं। श्रावक को इनके त्याग की स्थान-स्थान पर प्रेरणा दी गई है। कहा गया है कि न वह स्वयं इन्हें करे, न दूसरों से कराए और न करने वालों का समर्थन करे।

कर्मादानों का विश्लेषण इस प्रकार है—

अंगार-कर्म—अंगार का अर्थ कोयला है। अंगार-कर्म का मुख्य अर्थ कोयले बनाने का धंधा करना है। जिन कामों में अग्नि और कोयलों का बहुत ज्यादा उपयोग हो, वे काम भी इसमें आते हैं; जैसे—ईंटों का भट्टा, चूने का भट्टा, सीमेंट का कारखाना आदि। इन कार्यों में घोर हिंसा होती है।

वन-कर्म—वे धन्धे, जिनका सम्बन्ध वन के साथ है, वन-कर्म में आते हैं; जैसे—कटवा कर जंगल साफ कराना, जंगल के वृक्षों को काट कर लकड़ियां बेचना, जंगल काटने के ठेके लेना आदि। हरी वनस्पति के छेदन, भेदन तथा तत्सम्बद्ध प्राणि-वध की दृष्टि से ये भी अत्यन्त हिंसा के कार्य हैं।

शकट-कर्म—शकट का अर्थ गाड़ी है। यहां गाड़ी से तात्पर्य सवारी या माल ढोने के सभी तरह के वाहनों से है। ऐसे वाहनों को, उनके भागों या कल-पुर्जों को तैयार करना, बेचना आदि शकट-कर्म में शामिल है। आज की स्थिति में रेल, मोटर, स्कूटर, साइकिल, ट्रक, ट्रैक्टर, आदि बनाने के कारखाने भी इसमें आ जाते हैं।

भाटीकर्म—भाटी का अर्थ भाड़ा है। बैल, घोड़ा, ऊंट, भैंसा, खच्चर आदि को भाड़े पर देने का व्यापार।

स्फोटन-कर्म—स्फोटन का अर्थ फोड़ना, तोड़ना या खोदना है। खानें खोदने, पत्थर फोड़ने, कुए, तालाब तथा बावड़ी आदि खोदने का धंधा स्फोटन-कर्म में आते हैं।

दन्त-वाणिज्य—हाथी-दांत का व्यापार इसका मुख्य अर्थ है। वैसे हड्डी, चमड़े आदि का व्यापार भी उपलक्षण से यहां ग्रहण कर लिया जाना चाहिए।

लाक्षावाणिज्य—लाख का व्यापार।

रसवाणिज्य—मदिरा आदि मादक रसों का व्यापार। वैसे रस शब्द सामान्यत: ईख एवं फलों के रस के लिए भी प्रयुक्त होता है किन्तु यहां वह अर्थ नहीं है।

शहद, मांस, चर्बी, मक्खन, दूध, दही, घी, तैल आदि के व्यापार को भी कई आचार्यों ने रसवाणिज्य में ग्रहण किया है।

विषवाणिज्य—तरह तरह के विषों का व्यापार। तलवार, छुरा, कटार, बन्दूक, धनुष, बाण, बारूद, पटाखे आदि हिंसक व घातक वस्तुओं का व्यापार भी विष-वाणिज्य के अन्तर्गत लिया जाता है।

केशवाणिज्य —यहां प्रयुक्त केश शब्द लाक्षणिक है। केश-वाणिज्य का अर्थ दास, दासी, गाय, भैंस, बकरी, भेड़, ऊंट, घोड़े आदि जीवित प्राणियों की खरीद-बिक्री आदि का धन्धा है। कुछ आचार्यों ने चमरी गाय की पूंछ के बालों के व्यापार को भी इसमें शामिल किया है। इनके चंवर बनते हैं। मोर-पंख तथा ऊन का धन्धा केश-वाणिज्य में नहीं लिया जाता। चमरी गाय के बाल प्राप्त करने तथा मोर-पंख प्राप्त करने में खास भेद यह है कि बालों के लिए चमरी गाय को मारा जाता है, ऐसा किए बिना वे प्राप्त नहीं होते। मोर-पंख व ऊन प्राप्त करने में ऐसा नहीं है। मारे जाने के कारण को लेकर चमरी गाय के बालों का व्यापार इसमें लिया गया है।

यंत्रपीडनकर्म—तिल, सरसों, तारामीरा, तोरिया, मूंगफली आदि तिलहनों से कोल्हू या घाणी द्वारा तैल निकालने का व्यवसाय।

निर्लांछनकर्म—बैल, भैंसे आदि को नपुंसक बनाने का व्यवसाय।

दवाग्निदापन—वन में आग लगाने का धन्धा। यह आग अत्यन्त भयानक और अनियंत्रित होती है। उससे जंगल के अनेक जंगम-स्थावर प्राणियों का भीषण संहार होता है।

सरह्रदतडागशोषण—सरोवर, झील, तालाब आदि जन-स्थानों को सुखाना।

असती-जन-पोषण—व्यभिचार के लिए वेश्या आदि का पोषण करना, उन्हें नियुक्त करना। श्रावक के लिए यह वास्तव में निन्दनीय कार्य है। इससे समाज में दुश्चरित्रता फैलती है, व्यभिचार को बल मिलता है।

आखेट हेतु शिकारी कुत्ते आदि पालना, चूहों के लिए बिल्लियां पालना—ये सब भी असती-जन-पोषण के अन्तर्गत आते हैं।

अनर्थदण्ड-विरमण के अतिचार

५२. तयाणंतरं च णं अणट्ठदंडवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे, उवभोगपरिभोगाइरित्ते।

उसके बाद श्रमणोपासक को अनर्थ-दंड-विरमण व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण तथा उपभोगपरिभोगातिरेक।

विवेचन

कन्दर्प—काम-वासना को भड़काने वाली चेष्टाएं करना।

कौत्कुच्य—बहुरूपियों की तरह भद्दी व विकृत चेष्टाएं करना।

मौखर्य—निरर्थक डींगें हांकना, व्यर्थ बातें बनाना, बकवास करना।

संयुक्ताधिकरण—शस्त्र आदि हिंसामूलक साधनों को इकट्ठा करना।

उपभोग-परिभोगातिरेक—उपभोग तथा परिभोग का अतिरेक—अनावश्यक वृद्धि—उपभोग परिभोग संबंधी सामग्री तथा उपकरणों को विना आवश्यकता के संगृहीत करते जाना।

ये इस व्रत के अतिचार है।

सामायिक व्रत के अतिचार

५३. तयाणंतरं च णं सामाइयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइअकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक को सामायिक व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं:—

मन-दुष्प्रणिधान, वचन-दुष्प्रणिधान, काय-दुष्प्रणिधान, सामायिक-स्मृति-अकरणता, सामायिक-अनवस्थित-करणता।

विवेचन

मन-दुष्प्रणिधान—प्रणिधान का अर्थ ध्यान या चिन्तन है। दूषित चिन्तन मन-दुष्प्रणिधान कहा जाता है। सामायिक करते समय राग, द्वेष, ममता, आसक्ति संबंधी बातें मन में लाना, घरेलू समस्याओं की चिन्ता में व्यग्र रहना, यह सामायिक का अतिचार है। सामायिक का उद्देश्य जीवन में समता का विकास करना है, क्रोध, मान, माया, लोभ जनित विषमता को क्रमश: मिटाते जाना है। यों करते हुए शुद्ध आत्मस्वरूप में तन्मयता पाना सामायिक का चरम लक्ष्य है। जहां सामायिक का यह उद्देश्य बाधित होता है, वहां सामायिक एक पारम्परिक विधि के रूप में तो सधती है, उससे जीवन में जो उपलब्धि होनी चाहिए, हो नहीं पाती। इसलिए साधक के लिए यह अपेक्षित है कि वह अपने मन को पवित्र रखे, समता की अनुभूति करे, मानसिक दुश्चिन्तन से बचे।

वचन-दुष्प्रणिधान—सामायिक करते समय वाणी का दुरुपयोग या मिथ्या भाषण करना, दूसरे के हृदय में चोट पहुंचाने वाली कठोर बात कहना, अध्यात्म के प्रतिकूल लौकिक बातें करना वचन-दुष्प्रणिधान है। सामायिक में जिस प्रकार मानसिक दुश्चिन्तन से बचना आवश्यक है, उसी प्रकार वचन के दुष्प्रयोग से भी बचना चाहिए।

काय-दुष्प्रणिधान—मन और वचन की तरह सामायिक में देह भी व्यवस्थित, सावधान और सुसंयत रहनी चाहिए। देह से ऐसी चेष्टाएँ नहीं करनी चाहिए, जिससे हिंसा आदि पापों की आशंका हो।

सामायिक-स्मृति-अकरणता—वैसे तो सामायिक सारे जीवन का विषय है, जीवन की साधना है, पर अभ्यास-विधि के अन्तर्गत उसके लिए जैसा पहले सूचित हुआ है, ४८ मिनिट का एक इकाई का समय रक्खा गया है। जब उपासक सामायिक में बैठे, उसे पूरी तरह जागरूक और सावधान रहना चाहिए, समय के साथ-साथ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वह सामायिक में है।

अर्थात् सामायिकोचित मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों से उसे दूर नहीं हटना है। ये भूलें सामायिक का अतिचार है, जिसके मूल में प्रमाद, अजागरूकता या असावधानी है।

सामायिक-अनवस्थित-करणता—अवस्थित का अर्थ यथोचित रूप में स्थित रहना है। वैसे न करना अनवस्थितता है। सामायिक में कभी अनवस्थित—अव्यवस्थित नहीं रहना चाहिए। कभी सामायिक कर लेना कभी नहीं करना, कभी सामायिक के समय से पहले उठ जाना—यह व्यक्ति के अव्यवस्थित एवं अस्थिर जीवन का सूचक है। ऐसा व्यक्ति सामायिक साधना में तो असफल रहता ही है, अपने लौकिक जीवन में भी विकास नहीं कर पाता।

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

५४. तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहिया पोग्गलपक्खेवे।

तदनन्तर श्रमणोपासक को देशावकाशिक व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

आनयन-प्रयोग, प्रेष्य-प्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात तथा बहिःपुद्गल-प्रक्षेप।

विवेचन

देश और अवकाश इन दो शब्दों के मेल से देशावकाशिक शब्द बना है। देश का अर्थ यहां एक भाग है। अवकाश का अर्थ जाने या कोई कार्य करने की चेष्टा है। एक भाग तक अपने को सीमित रखना देशावकाशिक व्रत है। छठे दिक् व्रत में दिशा संबंधी परिमाण या मर्यादा जीवन भर के लिए की जाती है, उसका एक दिन-रात के समय के लिए या न्यूनाधिक समय के लिए और अधिक कम कर लेना देशावकाशिक व्रत है। अन्य व्रतों का भी इस प्रकार हर रोज समय-विशेष के लिए जो संक्षेप किया जाता है, वह भी इस व्रत में आ जाता है। इसको और स्पष्ट यों समझा जाना चाहिए। जैसे एक व्यक्ति चौबीस घंटे के लिए यह मर्यादा करता है कि वह एक मकान से बाहर के पदार्थों का उपभोग नहीं करेगा, बाहर के कार्य संपादित नहीं करेगा, यदि वह नियत क्षेत्र से बाहर के कार्य संकेत से अथवा दूसरे व्यक्ति द्वारा करवाता है, तो वह ली हुई मर्यादा का लंघन करता है। यह देशावकाशिक व्रत का अतिचार है। यह उपासक की मानसिक चंचलता तथा व्रत के प्रति अस्थिरता का द्योतक है। इससे व्रत-पालन की वृत्ति में कमजोरी आती है। व्रत का उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

इस व्रत के पांच अतिचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

आनयन-प्रयोग—जितने क्षेत्र की मर्यादा की है, उस क्षेत्र में उपयोग के लिए मर्यादित क्षेत्र के बाहर की वस्तुएं अन्य व्यक्ति से मंगवाना।

प्रेष्य-प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर के क्षेत्र के कार्यों को संपादित करने हेतु सेवक, पारिवारिक व्यक्ति आदि को भेजना।

शब्दानुपात—मर्यादित क्षेत्र से बाहर का कार्य सामने आ जाने पर, ध्यान में आ जाने पर, छींक कर, खांसी लेकर या कोई और शब्द कर पड़ौसी आदि से संकेत द्वारा कार्य कराना।

रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्र से बाहर का काम करवाने के लिए मुंह से कुछ न बोलकर हाथ, अंगुली आदि से संकेत करना।

बहिः-पुद्गल-प्रक्षेप—मर्यादित क्षेत्र से बाहर का काम करवाने के लिए कंकड़ आदि फेंक कर दूसरे को इशारा करना।

ये कार्य करने से यद्यपि व्रत के शब्दात्मक प्रतिपालन में बाधा नहीं आती पर व्रत की आत्मा निश्चय ही इससे व्याहत होती है। साधना का अभ्यास दृढता नहीं पकड़ता, इसलिए इनका वर्जन अत्यन्त आवश्यक है।

लौकिक एषणा, आरंभ आदि सीमित कर जीवन को उत्तरोत्तर आत्म-निरत बनाने में देशावकाशिक व्रत बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैन दर्शन का तो अन्तिम लक्ष्य संपूर्ण रूप से आत्म-केन्द्रित होना है। अत्यन्त तीव्र और प्रशस्त आत्मबल वालों की तो बात और है, सामान्यतया हर किसी के लिए यह संभव नहीं कि वह एकाएक ऐसा कर सके, इसलिए उसे शनैः शनैः एषणा, कामना और इच्छा का संवरण करना होता है। इस अभ्यास में यह व्रत बहुत सहायक है।

पोषधोपवास-व्रत के अतिचार

५५. तयाणंतरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहियसिज्जासंथारे, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जियसिज्जा-संथारे, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमी, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवण-भूमी, पोसहोववासस्स, सम्मं अणणुपालणया।

तदनन्तर श्रमणोपासक को पोषधोपवास व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखित—शय्या-संस्तारक, अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जित—शय्यासंस्तारक, अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्रवण-भूमि, अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जित-उच्चारप्रस्रवणभूमि तथा पोषधोपवास—सम्यक्—अननुपालन।

विवेचन

पोषधोपवास में पोषध एवं उपवास, ये दो शब्द हैं। पोषध का अर्थ धर्म को पोष या पुष्टि देने वाली क्रिया-विशेष है। उपवास 'उप' उपसर्ग और 'वास' शब्द से बना है। 'उप' का अर्थ समीप है। उपवास का शाब्दिक तात्पर्य आत्मा या आत्मगुणों के समीप वास या अवस्थिति है। आत्म-गुणों का सामीप्य या सान्निध्य साधने से कुछ समय के लिए ही सही, बहिर्मुखता निरस्त होती है। बहिर्मुखता या देहोन्मुखता में सबसे अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण भोजन है। साधक जब आत्म-तन्मयता में होता है तो भोजन आदि बाह्य वृत्तियों से सहज ही दूर हो जाता है। यह उपवास का तात्त्विक विवेचन है। व्यावहारिक दृष्टि से सूर्योदय से अगले सूर्योदय तक अर्थात् चौबीस घंटे के लिए अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार का त्याग उपवास है। पोषध और उपवास रूप सम्मिलित साधना का अर्थ यह है कि उपवासी उपासक एक सीमित समय—चौबीस घंटे के लिए घर से संबंध तोड़ कर—लगभग साधुवत् होकर एक निश्चित स्थान में निवास करता है। सोने,

बैठने, शौच, लघु-शंका आदि के लिए भी स्थान निश्चित कर लेता है। आवश्यक, सीमित उपकरणों को साधु की तरह यत्ना या सावधानी से रखता है, जिससे हिंसा से बचा जा सके।

श्रावक या उपासक के तीन मनोरथों में एक है—'कया णमहं मुंडे भवित्ता पव्वइस्सामि'—मेरे जीवन में वह अवसर कब आएगा, जब मैं मुंडित होकर प्रव्रजित होऊंगा। इस मनोरथ या उच्च भावना के परिपोषण व विकास में यह व्रत सहायक है। श्रमण-साधना के अभ्यास का यह एक व्यावहारिक रूप है। जिस तरह एक श्रमण अपने जीवन की हर प्रवृत्ति में जागरूक और सावधान रहता है, उपासक भी इस व्रत में वैसा ही करता है।

पोषधोपवास व्रत में सामान्यत: ये चार बातें मुख्य हैं :—

(१) अशन, पान आदि खाद्य-पेय पदार्थों का त्याग, (२) शरीर की सज्जा, वेशभूषा, स्नान आदि का त्याग, (३) अब्रह्मचर्य का त्याग, (४) समग्र सावद्य—सपाप कार्य-कलाप का त्याग।

वैसे पोषधोपवास चाहे जब किया जा सकता है, पर जैन परंपरा में द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी एवं चतुर्दशी विशिष्ट पर्व—तिथियों के रूप में स्वीकृत हैं। उनमें भी अष्टमी, चतुर्दशी को विशिष्ट माना जाता है। पोषधोपवास के अतिचारों का स्पष्टीकरण निम्नांकित है :—

अप्रतिलेखित—दुष्प्रतिलेखित—शय्यासंस्तार—शय्या का अर्थ पोषध करने का स्थान तथा संस्तार का अर्थ दरी, चटाई आदि सामान्य बिछौना है, जिस पर सोया जा सके। अनदेखे-भाले व लापरवाही से देखे-भाले स्थान व बिछौने का उपयोग करना।

अप्रमार्जित—दुष्प्रमार्जित—शय्या—संस्तार—प्रमार्जित न किये हुए—बिना पूंजे अथवा लापरवाही से पूंजे स्थान एवं बिछौने का उपयोग करना।

अप्रतिलेखित—दुष्प्रतिलेखित—उच्चार—प्रस्रवणभूमि—अनदेखे-भाले तथा लापरवाही से देखे-भाले शौच व लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना।

अप्रमार्जित—दुष्प्रमार्जित—उच्चार—प्रस्रवण-भूमि—अनपूंजे तथा लापरवाही से पूंजे शौच एवं लघु शंका के स्थानों का उपयोग करना।

पोषधोपवास-सम्यक्—अननुपालन—पोषधोपवास का भली भांति—यथाविधि पालन न करना।

इन अतिचारों से उपासक को बचना चाहिए।

यथासंविभाग-व्रत के अतिचार

५६. तयाणंतरं च णं अहासंविभागस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—सचित्त-निक्खेवणया, सचित्तपेहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक को यथा-संविभाग व्रत के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

सचित्तनिक्षेपणता, सचित्तपिधान, कालातिक्रम, परव्यपदेश तथा मत्सरिता।

विवेचन

यथा-संविभाग का अर्थ है, उचित रूप से अन्न, पान, वस्त्र आदि का विभाजन—मुनि अथवा चारित्र-सम्पन्न योग्य पात्र को इन स्वाधिकृत वस्तुओं में से एक भाग देना। इस व्रत का नाम अतिथि-संविभाग भी है, जिसका अर्थ है—जिसके आने की कोई निश्चित तिथि या दिन नहीं, ऐसे साधु या संयमी अतिथि को अपनी वस्तुओं में से देना।

गृहस्थ का यह बहुत ही उत्तम व आवश्यक कर्त्तव्य है। इससे उदारता की वृत्ति विकसित होती है, आत्म-गुण उजागर होते हैं।

इस व्रत के जो पांच अतिचार माने गए हैं, उनके पीछे यही भावना है कि उपासक की देने की वृत्ति सदा सोत्साह बनी रहे, उसमें क्षीणता न आए। उन अतिचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

सचित्त-निक्षेपणता—दान न देने की नीयत से अचित्त—निर्जीव—संयमी के लेने योग्य पदार्थों को सचित्त-सजीव धान्य आदि में रख देना अथवा लेने योग्य पदार्थों में सचित्त पदार्थ मिला देना। ऐसा करने से साधु उन्हें ग्रहण नहीं कर सकता। यह मुख से भिक्षा न देने की बात न कह कर भिक्षा न देने का व्यवहार से धूर्तता पूर्ण उपक्रम है।

सचित्त-पिधान—दान न देने की भावना से सचित्त वस्तु से अचित्त वस्तु को ढंक देना ताकि संयमी उसे स्वीकार न कर सके।

कालातिक्रम—काल या समय का अतिक्रम—उल्लंघन करना। भिक्षा का समय टाल कर भिक्षा देने की तत्परता दिखाना। समय टल जाने से आने वाला साधु या अतिथि भोजन नहीं लेता, क्योंकि तब तक उनका भोजन हो चुकता है। यह झूठा सत्कार है। ऐसा करने वाला व्यक्ति मन ही मन यह जानता है कि उसे भिक्षा या भोजन देना नहीं पड़ेगा, उसकी बात भी रह जायगी, यों कुछ लगे बिना ही सत्कार हो जायगा।

परव्यपदेश—न देने की नीयत से अपनी वस्तु को दूसरे की वताना।

मत्सरिता—मत्सर या ईर्ष्यावश आहार आदि देना। ईर्ष्या का अर्थ यहां यह है—जैसे कोई व्यक्ति देखता है, अमुक ने ऐसा दान दिया है तो उसके मन में आता है, मैं उससे कम थोड़ा ही हूं, मैं भी दूं। ऐसा करने में दान की भावना नहीं है, अहंकार की भावना है। किन्हीं ने मत्सरिता का अर्थ कृपणता या कंजूसी किया है। तदनुसार दान देने में कंजूसी करना इस अतिचार में आता है। कहीं कहीं मत्सरिता का अर्थ क्रोध भी किया गया है, उनके अनुसार क्रोधपूर्वक भिक्षा या भोजन देना, यह अतिचार है।

मरणान्तिक-संलेखना के अतिचार

५७. तयाणंतरं च णं अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-भूसणाराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे।

तदनन्तर अपश्चिम-मरणांतिक—संलेषणा—जोषणाआराधना के पांच अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

इहलोक—आशंसाप्रयोग, परलोक—आशंसाप्रयोग, जीवित—आशंसाप्रयोग, मरण—आशंसाप्रयोग तथा काम-भोग—आशंसाप्रयोग।

विवेचन

जैन दर्शन के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य है—आत्मा के सत्य स्वरूप की प्राप्ति। उस पर कर्मों के जो आवरण आए हुए हैं, उन्हें-क्षीण करते हुए इस दिशा में बढ़ते जाना, साधना की यात्रा है। देह उसमें उपयोगी है। सांसारिक कार्य जो देह से सधते हैं, वे तो प्रासंगिक, हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से देह का यथार्थ उपयोग, संवर तथा निर्जरामूलक धर्म का अनुसरण है। उपासक या साधक अपनी देह की परिपालना इसी लिए करता है कि वह उसके धर्मानुष्ठान में सहयोगी है। न कोई सदा युवा रहता है और न स्वस्थ, सुपुष्ट ही। युवा वृद्ध हो जाता है, स्वस्थ, रुग्ण हो जाता है और सुपुष्ट दुर्बल। एक ऐसा समय आ जाता है, जब देह अपने निर्वाह के लिए स्वयं दूसरों का सहारा चाहने लगती है। रोग और दुर्बलता के कारण व्यक्ति धार्मिक क्रियाएं करने में असमर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में मन में उत्साह घटने लगता है, कमजोरी आने लगती है, विचार मलिन होने लगते हैं, जीवन एक भार लगने लगता है। भार को तो ढोना पड़ता है। विवेकी साधक ऐसा क्यों करे?

जैन दर्शन वहां साधक को एक मार्ग देता है। साधक शान्ति एवं दृढतापूर्वक शरीर के संरक्षण का भाव छोड़ देता है। इसके लिए वह खान-पान का परित्याग कर देता है और एकान्त या पवित्र स्थान में आत्म-चिन्तन करता हुआ भावों की उच्च भूमिका पर आरूढ हो जाता है। इस व्रत को संलेषणा कहा जाता है। वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने संलेषणा का अर्थ शरीर एवं कषायों को कृश करना किया है। संलेषणा के आगे जोषणा और आराधना दो शब्द और हैं। जोषणा का अर्थ प्रीतिपूर्वक सेवन है। आराधना का अर्थ अनुसरण करना या जीवन में उतारना है अर्थात् संलेषणा-व्रत का प्रसन्नतापूर्वक अनुसरण करना। दो विशेषण साथ में और हैं—अपश्चिम और मरणान्तिक। अपश्चिम का अर्थ है अन्तिम या आखिरी, जिसके बाद इस जीवन में और कुछ करना बाकी न रह जाय। मरणान्तिक का अर्थ है, मरण पर्यन्त चलने वाली आराधना। इस व्रत में जीवन भर के लिए आहार-त्याग तो होता ही है, साधक लौकिक, पारलौकिक कामनाओं को भी छोड़ देता है। उसमें इतनी आत्म-रति व्याप्त हो जाती है कि जीवन और मृत्यु की कामना से वह ऊंचा उठ जाता है। न उसे जीवन की चाह रहती है कि वह कुछ समय और जी ले और न मृत्यु से डरता है तथा न उसे जल्दी पा लेने के लिए आकुल-आतुर होता है कि देह का अन्त हो जाय, आफत मिटे। सहज भाव से जब भी मौत आती है, वह उसका शान्ति से वरण करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से कितनी पवित्र, उन्नत और प्रशस्त मनःस्थिति यह है।

इस व्रत के जो अतिचार परिकल्पित किए गए हैं, उनके पीछे यही भावना है कि साधक की यह पुनीत वृत्ति कहीं व्याहत न हो जाय।

अतिचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है:— इहलोक-आशंसाप्रयोग—ऐहिक भोगों या सुखों की कामना, जैसे मैं मरकर राजा, समृद्धिशाली, शक्तिशाली तथा सुखसंपन्न बनूं।

परलोक-आशंसाप्रयोग—परलोक—स्वर्ग में प्राप्त होने वाले भोगों की कामना करना, जैसे

मैं मर कर स्वर्ग प्राप्त करूं तथा वहां के अतुल सुख भोगूं।

जीवित-आशंसाप्रयोग—प्रशस्ति, प्रशंसा, यश, कीर्ति आदि के लोभ से या मौत के डर से जीने की कामना करना।

मरण-आशंसाप्रयोग—तपस्या के कारण होनेवाली भूख, प्यास तथा दूसरी शारीरिक प्रतिकूलताओं को कष्ट मान कर शीघ्र मरने की कामना करना, यह सोच कर कि जल्दी ही इन कष्टों से छुटकारा हो जाय।

कामभोग-आशंसाप्रयोग—ऐहिक तथा पारलौकिक शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शमूलक इन्द्रिय-सुखों को भोगने की कामना करना—ऐसी भावना रखना कि अमुक भोग्य पदार्थ मुझे प्राप्त हों।

इस अन्तिम साधना-काल में उपर्युक्त विचारों का मन में आना सर्वथा अनुचित है। इससे आन्तरिक पवित्रता बाधित होती है। जिस पुनीत और महान् लक्ष्य को लिए साधक साधना-पथ पर आरूढ होता है, इससे उस की पवित्रता घट जाती है। इस लिए साधक को इस स्थिति में बहुत ही जागरूक रहना अपेक्षित है।

यों त्याग-तितिक्षा और अध्यात्म की उच्च भावना के साथ स्वयं मृत्यु को वरण करना जैन शास्त्रों में मृत्यु-महोत्सव कहा गया है। सचमुच यह बड़ी विचित्र और प्रशंसनीय स्थिति है। जहां एक ओर देखा जाता है, अनेक रोगों से जर्जर, आखिरी सांस लेता हुआ भी मनुष्य जीना चाहता है, जीने के लिए कराहता है, वहां एक यह साधक है, जो पूर्ण रूप से समभाव में लीन होकर जीवन-मरण की कामना से ऊपर उठ जाता है।

नहीं समझने वाले कभी-कभी इसे आत्महत्या की संज्ञा देने लगते हैं। वे क्यों भूल जाते हैं, आत्म-हत्या क्रोध, दुःख, शोक, मोह आदि उग्र मानसिक आवेगों से कोई करता है, जिसे जीवन में कोई सहारा नहीं दीखता, सब ओर अंधेरा ही अंधेरा नजर आता है। यह आत्मा की कमजोरी का घिनौना रूप है। संलेखनापूर्वक आमरण अनशन तो आत्मा का हनन नहीं, उसका विकास, उन्नयन और उत्थान है, जहां काम, क्रोध, राग, द्वेष, मोह आदि से साधक बहुत ऊंचा उठ जाता है।

आनन्द द्वारा अभिग्रह

५८. तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावय-धम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

नो खलु मे भंते ! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्न-उत्थिए वा अन्न-उत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थिय-परिग्गहियाणि चेइयाइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा, पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, नन्नत्थ रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं, देवयाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तिकंतारेणं। कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुञ्छणेणं, पीढ-फलग-सिज्जा-संथारएणं, ओसह-भेसज्जेणं य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए—

—त्ति कट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ, अभिगिण्हित्ता पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठाइं आदियइ, आदित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ, वंदित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स

अंतियाओ दुइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव वाणियग्गामे नयरे, जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिवनन्दं भारियं एवं वयासी—

एवं खलु देवाणुप्पिए ! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे निसंते। से वि य धम्मे मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए, तं गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिए ! समणं भगवं महावीरं वंदाहि जाव (णमंसाहि, सक्कारेहि, सम्माणेहि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं) पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि।

फिर आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के पास पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत-रूप बारह प्रकार का श्रावक-धर्म स्वीकार किया। स्वीकार कर भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार कर वह भगवान् से यों बोला—

भगवन् ! आज से अन्य यूथिक—निर्ग्रन्थ धर्म-संघ के अतिरिक्त अन्य संघों से सम्बद्ध पुरुष, उनके देव, उन द्वारा परिगृहीत—स्वीकृत चैत्य—उन्हें वन्दना करना, नमस्कार करना, उनके पहले बोले बिना उनसे आलाप—संलाप करना, उन्हें धार्मिक दृष्टि से अशन—रोटी, भात आदि अन्न-निर्मित खाने के पदार्थ, पान—पानी, दूध आदि पेय पदार्थ, खादिम—खाद्य—फल, मेवा आदि अन्न-रहित खाने की वस्तुएं तथा स्वादिम—स्वाद्य—पान, सुपारी आदि मुखवास व मुख-शुद्धिकर चीजें प्रदान करना, अनुप्रदान करना मेरे लिए कल्पनीय—धार्मिक दृष्टि से करणीय नहीं है अर्थात् ये कार्य मैं नहीं करूंगा। राजा, गण—जन-समुदाय अथवा विशिष्ट जनसत्तात्मक गणतन्त्रीय शासन, बल—सेना या बली पुरुष, देव व माता-पिता आदि गुरुजन का आदेश या आग्रह तथा अपनी आजीविका के संटग्रस्त होने की स्थिति—मेरे लिए इसमें अपवाद हैं अर्थात् इन स्थितियों में उक्त कार्य मेरे लिए करणीय हैं।

श्रमणों, निर्ग्रन्थों को प्रासुक—अचित्त, एषणीय—उन द्वारा स्वीकार करने योग्य—निर्दोष, अशन, पान, खाद्य तथा स्वाद्य आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोञ्छन—रजोहरण या पैर पोंछने का वस्त्र, पाट, बाजोट, ठहरने का स्थान, बिछाने के लिए घास आदि,औषध-सूखी जड़ी-बूटी, भेषज—दवा देना मुझे कल्पता है—मेरे लिए करणीय है।

आनन्द ने यों अभिग्रह—संकल्प स्वीकार किया। वैसा कर भगवान् से प्रश्न पूछे। प्रश्न पूछ-कर उनका अर्थ—समाधान प्राप्त किया। समाधान प्राप्त कर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार वंदना की। वंदना कर भगवान् के पास से दूतीपलाश नामक चैत्य से रवाना हुआ। रवाना होकर जहां वाणिज्यग्राम नगर था, जहां अपना घर था, वहां आया। आकर अपनी पत्नी शिवनन्दा को यों बोला—देवानुप्रिये ! मैंने श्रमण भगवान् के पास से धर्म सुना है। वह धर्म मेरे लिए इष्ट, अत्यन्त इष्ट और रुचिकर है। देवानुप्रिये ! तुम भगवान् महावीर के पास जाओ, उन्हें वंदना करो, (नमस्कार करो, उनका सत्कार करो, सम्मान करो, वे कल्याणमय हैं, मंगलमय हैं, देव हैं, ज्ञान-स्वरूप हैं,) पर्युपासना करो तथा पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत-रूप बारह प्रकार का गृहस्थ-धर्म स्वीकार करो।

विवेचन

श्रावक के बारह व्रत, पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत के रूप में विभाजित हैं। अणुव्रत

मूल व्रत हैं। शिक्षाव्रत उनके पोषण, संवर्धन एवं विकास के लिए हैं। शिक्षा का अर्थ अभ्यास है। ये व्रत अणुव्रतों के अभ्यास या साधना में स्थिरता लाने में विशेष उपयोगी हैं।

शाब्दिक भेद से इन सात (शिक्षा) व्रतों का विभाजन दो प्रकार से किया जाता रहा है। इन सातों को शिक्षा व्रत तो कहा ही जाता है, जैसा पहले उल्लेख हुआ है, इनमें पहले तीन—अनर्थदण्ड-विरमण, दिग्व्रत, तथा उपभोग-परिभोगपरिमाण गुणव्रत, और अन्तिम चार—सामायिक, देशाव-काशिक, पोषधोपवास एवं अतिथिसंविभाग, शिक्षाव्रत कहे गये हैं।

गुणव्रत कहे जाने के पीछे साधारणतया यही भाव है कि ये अणुव्रतों के गुणात्मक विकास में सहायक हैं अथवा साधक के चारित्रमूलक गुणों की वृद्धि करते हैं। अगले चार मुख्यतः अभ्यास परक हैं, इसलिए उनके साथ 'शिक्षा' शब्द विशेषणात्मक दृष्टि से सहजतया संगत है।

वैसे सामान्य रूप में गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत दोनों ही अणुव्रतों के अभ्यास में सहायक हैं, इसलिए स्थूल रूप में सातों को जो शिक्षाव्रत कहा जाता है, उपयुक्त ही है।

सात शिक्षाव्रतों का जो क्रम औपपातिक सूत्र आदि में है, उसका यहां उल्लेख किया गया है। आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में क्रम कुछ भिन्न है। तत्त्वार्थसूत्र में इन व्रतों का क्रम दिग्, देश, अनर्थ-दंड-विरति, सामायिक, पोषधोपवास, उपभोग-परिभोग-परिमाण तथा अतिथि-संविभाग के रूप में है। वहां इन्हें शिक्षाव्रत न कह कर केवल यही कहा गया है कि श्रावक इन व्रतों से भी संपन्न होता है।[1] किन्तु क्रम में किंचित् अन्तर होने पर भी तात्पर्य में कोई भेद नहीं है।

आनन्द ने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण करने के पश्चात् जो विशेष संकल्प किया, उसके पीछे अपने द्वारा विवेक और समझपूर्वक स्वीकार किए गए धर्म-सिद्धान्तों में सुदृढ एवं सुस्थिर बने रहने की भावना है। अत एव वह धार्मिक दृष्टि से अन्य धर्म-संघों के व्यक्तियों से अपना संपर्क रखना नहीं चाहता ताकि जीवन में कोई ऐसा प्रसंग ही न आए, जिससे विचलन की आशंका हो।

प्रश्न हो सकता है, जब आनन्द ने सोच-समझ कर धर्म के सिद्धान्त स्वीकार किये थे तो उसे यों शंकित होने की क्या आवश्यकता थी? साधारणतया बात ठीक लगती है, पर जरा गहराई में जाएं। मानव-मन बड़ा भावुक है। भावुकता कभी-कभी विवेक को आवृत कर देती है। फलतः व्यक्ति उसमें बह जाता है, जिसमे उसकी सद् आस्था डगमगा एकती है। इसीसे बचाव के लिए आनन्द का यह अभिग्रह है।

इस सन्दर्भ में प्रयुक्त चैत्य शब्द कुछ विवादास्पद है। चैत्य शब्द अनेकार्थवाची है। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्य श्री जयमलजी म. ने चैत्य शब्द के एक सौ बारह अर्थों की गवेषणा की।[2]

चैत्य शब्द के सन्दर्भ में भाषा-वैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि किसी मृत व्यक्ति के जलाने के स्थान पर उसकी स्मृति में एक वृक्ष लगाने की प्राचीन काल में परम्परा रही है। भारतवर्ष से बाहर भी ऐसा होता रहा है। चिति या चिता के स्थान पर लगाए जाने के कारण वह वृक्ष 'चैत्य' कहा जाने लगा हो। आगे चलकर यह परम्परा कुछ बदल गई। वृक्ष के स्थान पर स्मारक

---

१. दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च।

—तत्त्वार्थसूत्र ७.१६

२. जयध्वज, पृष्ठ ५७३-७६

के रूप में मकान बनाया जाने लगा। उस मकान में किसी लौकिक देव या यक्ष आदि की प्रतिमा स्थापित की जाने लगी। यों उसने एक देव-स्थान या मन्दिर का रूप ले लिया। वह चैत्य कहा जाने लगा। ऐसा होते होते चैत्य शब्द सामान्य मन्दिरवाची भी हो गया।

चैत्य का एक अर्थ ज्ञान भी है। एक अर्थ यति या साधु भी है। आचार्य कुंदकुंद ने 'अष्ट-प्राभृत' में चैत्य शब्द का इन अर्थों में प्रयोग किया है।[1]

अन्य-यूथिक-परिगृहीत चैत्यों को वंदन, नमस्कार न करने का, उनके साथ आलाप-संलाप न करने का जो अभिग्रह आनन्द ने स्वीकार किया, वहां चैत्य का अर्थ उन साधुओं से लिया जाना चाहिए, जिन्होंने जैनत्व की आस्था छोड़कर पर-दर्शन की आस्था स्वीकार कर ली हो और उस पर-दर्शन के अनुयायियों ने उन्हें परिगृहीत या स्वीकार कर लिया हो। एक अर्थ यह भी हो सकता है, दूसरे दर्शन में आस्था रखने वाले वे साधु, जो जैनत्व की आस्था में आ गए हों, पर जिन्होंने अपना पूर्व वेश नहीं छोड़ा हो, अर्थात् वेश द्वारा अन्य यूथ या संघ से संबद्ध हों। ये दोनों ही श्रावक के लिए वंदनीय नहीं होते। पहले-तो वस्तुतः साधुत्वशून्य हैं ही, दूसरे-गुणात्मक दृष्टि से ठीक हैं, पर व्यवहार की दृष्टि से उन्हें वंदन करना समुचित नहीं होता। इससे साधारण श्रावकों पर प्रतिकूल असर होता है, मिथ्यात्व बढ़ने की आशंका बनी रहती है।

जैसा ऊपर संकेत किया गया है, अन्य मतावलम्बी साधुओं को वन्दन, नमन आदि न करने की बात मूलतः आध्यात्मिक या धार्मिक दृष्टि से है। शिष्टाचार, सद्व्यवहार आदि के रूप में वैसा करना निषिद्ध नहीं है। जीवन में व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से भी अनेक कार्य करने होते हैं, जिनका आधार सामाजिक मान्यता या परम्परा होता है।

५९. तए णं सा सिवनंदा भारिया आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा जाव (चित्तमाणंदिया, पीइमणा, परम-सोमणस्सिया, हरिसवसविसप्पमाणहियया) करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु 'एवं सामि !' त्ति आणंदस्स समणोवासगस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ।

तए णं से आणंदे समणोवासए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! लहुकरणजुत्तजोइयं, समखुर-वालिहाण-समलिहियसिंगएहिं जंबूणयामयकलावजुत्त-पइविसिट्ठएहिं रययामयघंट-सुत्तरज्जुग-वरकंचणखचिय-नत्थपग्गहोग्गहियएहिं नीलुप्पलकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं नाणामणि-कणगघंटियाजालपरिगयं,सुजायजुगजुत्त-उज्जुगपसत्थ-सुविरइय-निम्मियं, पवरलक्खणोववेयं जुत्तामेव धम्मियं जाणप्पवरं उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा 'एवं सामि !' त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता खिप्पामेव लहुकरणजुत्तजोइयं जाव धम्मियं जाणप्पवरं उवट्ठवेत्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति।

तए णं सा सिवणंदा भारिया ण्हाया, कयबलिकम्मा, कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ता, सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा चेडियाचक्कवाल-

---

१. बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च।
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं॥

परिकिण्णा धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता वाणियगामं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव दूइपलासए चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता चेडियाचक्कवालपरिकिण्णा जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, णमंसइ; वंदित्ता, णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहे विणएणं पंजलियडा) पज्जुवासइ।

श्रमणोपासक आनन्द ने जब अपनी पत्नी शिवनन्दा से ऐसा कहा तो उसने हृष्ट-तुष्ट—अत्यन्त प्रसन्न होते हुए (चित्त में आनन्द एवं प्रीति का अनुभव करते हुए अतीव सौम्य मानसिक भावों से युक्त तथा हर्षातिरेक से विकसित-हृदय हो,) हाथ जोड़े, सिर के चारों ओर घुमाए तथा अंजलि बांधे, 'स्वामी ऐसा ही अर्थात् आपका कथन स्वीकार है,' यों आदरपूर्ण शब्दों से पति को सम्बोधित—प्रत्युत्तरित करते हुए अपने पति आनन्द का कथन स्वीकृतिपूर्ण भाव से विनयपूर्वक सुना। तब श्रमणोपासक आनन्द ने अपने सेवकों को बुलाया और कहा—तेज चलने वाले, एक जैसे खुर, पूंछ तथा अनेक रंगों से चित्रित सींगवाले, गले में सोने के गहने और जोत धारण किये, गले से लटकती चांदी की घटियों सहित नाक में उत्तम सोने के तारों से मिश्रित पतलीसी सूत की नाथ से जुड़ी रास के सहारे वाहकों द्वारा सम्हाले हुए, नीले कमलों से बनी कलंगी से युक्त मस्तक वाले, दो युवा बैलों द्वारा खींचे जाते, अनेक प्रकार की मणियों और सोने की बहुत सी घंटियों से युक्त, बढ़िया लकड़ी के एकदम सीधे, उत्तम और सुन्दर बने जुए सहित, श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त धार्मिक कार्यों में उपभोग में आने वाला यानप्रवर—श्रेष्ठ रथ शीघ्र ही उपस्थित करो, उपस्थित करके मेरी यह आज्ञा वापिस करो अर्थात् आज्ञानुसार कार्य हो जाने की सूचना दो।

श्रमणोपासक आनन्द द्वारा यों कहे जाने पर सेवकों ने अत्यन्त प्रसन्न होते हुए विनयपूर्वक अपने स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य की, जैसे शीघ्रगामी बैलों से युक्त यावत् धार्मिक उत्तम रथ के लिए आदेश दिया गया था, उपस्थित किया।

आनन्द की पत्नी शिवनन्दा ने स्नान किया, नित्य-नैमित्तिक कार्य किये, कौतुक—देहसज्जा की दृष्टि से आंखों में काजल आंजा, ललाट पर तिलक लगाया, प्रायश्चित्त—दुःस्वप्नादि दोष-निवारण हेतु चन्दन, कुंकुम, दधि, अक्षत आदि से मंगल-विधान किया, शुद्ध, उत्तम, मांगलिक वस्त्र पहने, थोड़े से—संख्या में कम पर बहुमूल्य आभूषणों से देह को अलंकृत किया। दासियों के समूह से घिरी वह धार्मिक उत्तम रथ पर सवार हुई। सवार होकर वाणिज्यग्राम नगर के बीच से गुजरी, जहां दूतीपलाश चैत्य था, वहां आई, आकर धार्मिक उत्तम रथ से नीचे उतरी, नीचे उतर कर दासियों के समूह से घिरी वहां गई जहां भगवान् महावीर विराजित थे। जाकर तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया, भगवान् के न अधिक निकट, न अधिक दूर सम्मुख अवस्थित हो, नमन करती हुई, सुनने की उत्कंठा लिए, विनयपूर्वक हाथ जोड़े, पर्युपासना करने लगी।

६०. तए णं समणे भगवं महावीरे सिवनंदाए तीसे य महइ जाव[1] धम्मं कहेइ।

तब श्रमण भगवान् महावीर ने शिवनन्दा को तथा उस उपस्थित परिषद् (जन-समूह) को धर्म-देशना दी।

१. देखें सूत्र—संख्या ११।

६१. तए णं सा सिवनंदा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ जाव[1] गिहिधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया।

तब शिवनन्दा श्रमण भगवान् महावीर से धर्म सुनकर तथा उसे हृदय में धारण करके अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने गृहि-धर्म—श्रावक धर्म स्वीकार किया, स्वीकार कर वह उसी धार्मिक उत्तम रथ पर सवार हुई, सवार होकर जिस दिशा से आई थी, उसी दिशा की ओर चली गई।

आनन्द का भविष्य

६२. भंते! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—पहू णं भंते! आणंदे समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे जाव[2] पव्वइत्तए?

नो तिणट्ठे समट्ठे, गोयमा! आणंदे णं समणोवासए बहूइं वासाइं समणोवासगपरियायं पाउणिहिइ, पाउणित्ता जाव (एक्कारस य उवासगपडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा) सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववज्जिहिइ। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं आणंदस्स वि समणोवासगस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता।

गौतम ने भगवान् महावीर को वन्दन—नमस्कार किया और पूछा—भन्ते! क्या श्रमणोपासक आनन्द देवानुप्रिय के—आपके पास मुंडित एवं परिव्रजित होने में समर्थ है?

भगवान् ने कहा—गौतम! ऐसा संभव नहीं है। श्रमणोपासक आनन्द बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक-पर्याय—श्रावक-धर्म का पालन करेगा (उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का भली-भांति स्पर्श—अनुपालन करेगा, अन्ततः एक मास की संलेखना एवं साठ भोजन का—एक मास का अनशन आराधित कर आलोचना प्रतिक्रमण—ज्ञात-अज्ञात रूप में आचरित दोषों की आलोचना कर समाधिपूर्वक यथासमय देह-त्याग करेगा।) वह सौधर्म-कल्प में—सौधर्मनामक देवलोक में अरुणाभ नामक विमान में देव के रूप में उत्पन्न होगा। वहां अनेक देवों की आयु-स्थिति चार पल्योपम (काल का परिमाण विशेष) की होती है। श्रमणोपासक आनन्द की भी आयु-स्थिति चार पल्योपम की होगी।

विवेचन

यहां प्रयुक्त 'पल्योपम' शब्द एक विशेष, अति दीर्घ काल का द्योतक है। जैन वाङ्मय में इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत आगम में प्रत्येक अध्ययन में श्रावकों की स्वर्गिक काल-स्थिति का सूचन करने के लिए इसका प्रयोग हुआ है।

पल्य या पल्ल का अर्थ कुआ या अनाज का बहुत बड़ा कोठा है। उसके आधार पर या उसकी उपमा से काल-गणना की जाने के कारण यह कालावधि 'पल्योपम' कही जाती है।

---

१. देखें सूत्र—संख्या १२।

२. देखें सूत्र संख्या—१२।

पल्योपम के तीन भेद हैं—१. उद्धार-पल्योपम, २. अद्धा-पल्योपम, ३. क्षेत्र-पल्योपम। उद्धार-पल्योपम—कल्पना करें, एक ऐसा अनाज का बड़ा कोठा या कुआ हो, जो एक योजन (चार कोस) लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा हो। एकदिन से सात दिन की आयु वाले नवजात यौगलिक शिशु के बालों के अत्यन्त छोटे टुकड़े किए जाएं, उनसे ठूंस-ठूंस कर उस कोठे या कुए को अच्छी तरह दबा दबा कर भरा जाय। भराव इतना सघन हो कि अग्नि उन्हें जला न सके चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाय तो एक भी कण इधर से उधर न हो सके, गंगा का प्रवाह बह जाय तो उन पर कुछ असर न हो सके। यों भरे हुए कुए में से एक-एक समय में एक-एक बाल-खंड निकाला जाय। यों निकालते निकालते जितने काल में वह कुआ खाली हो, उस काल-परिमाण को उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। उद्धार का अर्थ निकालना है। बालों के उद्धार या निकाले जाने के आधार पर इसकी संज्ञा उद्धार-पल्योपम है। यह संख्यात समय-प्रमाण माना जाता है।

उद्धार पल्योपम के दो भेद हैं—सूक्ष्म एवं व्यावहारिक। उपर्युक्त वर्णन व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम का है। सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम इस प्रकार है:—

व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम में कुए को भरने में यौगलिक शिशु के बालों के टुकड़ों की जो चर्चा आई है, उनमें से प्रत्येक टुकड़े के असंख्यात अदृश्य खंड किए जाएं। उन सूक्ष्म खंड़ों से पूर्व-वर्णित कुआ ठूंस-ठूंस कर भरा जाय। वैसा कर लिए जाने पर प्रतिसमय एक-एक खंड कुए में से निकाला जाय यों करते-करते जितने काल में वह कुआ, बिलकुल खाली हो जाय, उस काल-अवधि को सूक्ष्म उद्धार पल्योपम कहा जाता है। इसमें संख्यात-वर्ष-कोटि परिमाण-काल माना जाता है।

अद्धा-पल्योपम—अद्धा देशी शब्द है, जिसका अर्थ काल या समय है। आगम के प्रस्तुत प्रसंग में जो पल्योपम का जिक्र आया है उसका आशय इसी पल्योपम से है। इसकी गणना का क्रम इस प्रकार है—यौगलिक के बालों के टुकड़ों से भरे हुए कुए में से सौ सौ वर्ष में एक-एक टुकड़ा निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ बिलकुल खाली हो जाय, उस कालावधि को अद्धा-पल्योपम कहा जाता है। इसका परिमाण संख्यात वर्ष कोटि है।

अद्धा-पल्योपम भी दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म और व्यावहारिक। यहां जो वर्णन किया गया है, वह व्यावहारिक अद्धा-पल्योपम का है। जिस प्रकार सूक्ष्म उद्धार—पल्योपम में यौगलिक शिशु के बालों के टुकड़ों के असंख्यात अदृश्य खंड किए जाने की बात है, तत्सदृश यहां भी वैसे ही असंख्यात अदृश्य केश-खंड़ों से वह कुआ भरा, जाय। प्रति सौ वर्ष में एक खंड निकाला जाय। यों निकालते निकालते जब कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, वह सूक्ष्म-अद्धा-पल्योपम कोटि में आता है। इसका काल-परिमाण असंख्यात वर्ष कोटि माना गया है।

क्षेत्र-पल्योपम—ऊपर जिस कुए या धान के विशाल कोठे की चर्चा है, यौगलिक के बाल-खंडों से उपर्युक्त रूप में दबा-दबा कर भर दिये जाने पर भी उन खंड़ों के बीच में आकाश-प्रदेश—रिक्त स्थान रह जाते हैं। वे खंड चाहे कितने ही छोटे हों, आखिर वे रूपी या मूर्त हैं, आकाश अरूपी या अमूर्त है। स्थूल रूप में उन खंडों के बीच रहे आकाश-प्रदेशों की कल्पना नहीं की जा सकती, पर सूक्ष्मता से सोचने पर वैसा नहीं है। इसे एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है—

कल्पना करें, अनाज के एक बहुत बड़े कोठे को कूष्मांडों—कुम्हड़ों से भर दिया गया। सामान्यत: देखने में लगता है, वह कोठा भरा हुआ है, उसमें कोई स्थान खाली नहीं है, पर यदि उसमें नीबू और भरे जाएं तो वे अच्छी तरह समा सकते हैं, क्योंकि सटे हुए कुम्हड़ों के बीच में स्थान खाली जो है। यों नीबुओं से भरे जाने पर भी सूल्म रूप में और खाली स्थान रह जाता है, बाहर से वैसा लगता नहीं। यदि उस कोठे में सरसों भरना चाहें तो वे भी समा जाएंगे। सरसों भरने पर भी सूक्ष्म रूप में और स्थान खाली रहता है। यदि नदी के रज:कण उसमें भरे जाएं, तो वे भी समा सकते हैं।

दूसरा उदाहरण दीवाल का है। चुनी हुई दीवाल में हमें कोई खाली स्थान प्रतीत नहीं होता पर, उसमें हम अनेक खूंटियाँ, कीलें गाड़ सकते हैं। यदि वास्तव में दीवाल में स्थान खाली नहीं होता तो यह कभी संभव नहीं था। दीवाल में स्थान खाली है, मोटे रूप में हमें मालूम नहीं पड़ता। अस्तु।

क्षेत्र पल्योपम की चर्चा के अन्तर्गत यौगलिक के बालों के खंडों के बीच-बीच में जो आकाश-प्रदेश होने की बात है, उसे भी इसी दृष्टि से समझा जा सकता है। यौगलिक के बालों के खंडों को संस्पृष्ट करने वाले आकाश-प्रदेशों में से प्रत्येक को प्रतिसमय निकालने की कल्पना की जाय। यों निकालते-निकालते जब सभी आकाश-प्रदेश निकाल लिए जाएं, कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, उसे क्षेत्र-पल्योपम कहा जाता है। इसका काल-परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी है।

क्षेत्र-पल्योपम दो प्रकार का है—व्यावहारिक एवं सूक्ष्म। उपर्युक्त विवेचन व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम का है।

सूक्ष्म—क्षेत्र—पल्योपम इस प्रकार है :—कुए में भरे यौगलिक के केश—खंडों से स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट सभी आकाश—प्रदेशों में से एक-एक समय में एक-एक प्रदेश निकालने की यदि कल्पना की जाय तथा यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ समग्र आकाश—प्रदेशों से रिक्त हो जाय, वह कालपरिमाण सूक्ष्म—क्षेत्र—पल्योपम है। इसका भी काल—परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी है। व्यावहारिक क्षेत्र—पल्योपम से इसका काल असंख्यात गुना अधिक होता है।

अनुयोगद्वार सूत्र १३८-१४० तथा प्रवचन—सारोद्धारद्वार १५८ में पल्योपम का विस्तार से विवेचन है।

६३. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ बहिया जाव (वाणियगामाओ नयराओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं) विहरइ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम नगर के दूतीपलाश चैत्य से प्रस्थान कर एक दिन किसी समय अन्य जनपदों में विहार कर गए।

६४. तए णं से आणंदे समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव (उवलद्ध-पुण्णपावे आसव-संवरनिज्जरकिरियाअहिगरणबंधमोक्खकुसले, असहेज्जे, देवासुरणागसुवण्णजक्खरक्खसकिण्णर-

किंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहि निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जे, निग्गंथे पावयणे णिस्संकिए, णिक्कंखिए, निव्वितिगिच्छे, लद्धट्ठे, गहियट्ठे, पुच्छियट्ठे, अभिगयट्ठे, विणिच्छियट्ठे अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे; सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहे, अवंगुयदुवारे, चियत्तंतेउरपरघरदारप्पवेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेत्ता समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गह-कंबलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पाडिहारिएण य पीढफलगसेज्जासंथारएणं) पडिलाभेमाणे विहरइ।

तब आनन्द श्रमणोपासक हो गया। जिसने जीव, अजीव आदि पदार्थों के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लिया था, (पुण्य और पाप का भेद जान लिया था, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण—जिसके आधार से क्रिया की जाए, बन्ध एवं मोक्ष को जो भली-भांति अवगत कर चुका था, जो किसी दूसरे की सहायता का अनिच्छुक—आत्म-निर्भर था, जो देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग आदि देवताओं द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रवचन से अनतिक्रमणीय—न विचलित किए जा सकने योग्य था, निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो निःशंक—शंका रहित, निष्कांक्ष—आत्मोत्थान के सिवाय अन्य आकांक्षा-रहित, विचिकित्सा—संशय रहित, लब्धार्थ-धर्म के यथार्थ तत्त्व को प्राप्त किये हुए, गृहीतार्थ—उसे ग्रहण किये हुए, पृष्टार्थ—जिज्ञासा या प्रश्न द्वारा उसे स्थिर किये हुए, अभिगतार्थ—स्वायत्त किये हुए, विनिश्चितार्थ—निश्चित रूप में आत्मसात् किए हुए था एवं जो अस्थि और मज्जा पर्यन्त धर्म के प्रति प्रेम व अनुराग से भरा था, जिसका यह निश्चित विश्वास था कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ—प्रयोजन भूत है, यही परमार्थ है, इसके सिवाय अन्य अनर्थ—अप्रयोजन भूत हैं, रद्दी लम्बे ठूंठ से हैं, खुले दरवाजे जैसे हैं, जहां चाहे जो आएं जाएं, ऐसे हैं, जहां अन्तर्वृत्तियां अन्तःपुर—आत्मभाव का परित्याग कर परगृह-द्वार—पर-भावों में भटकती रहती हैं। चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा को जो (आनन्द) परिपूर्ण पोषध का अच्छी तरह अनुपालन करता हुआ, श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक—अचित्त या निर्जीव, एषणीय—उन द्वारा स्वीकार करने योग्य—निर्दोष, अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोञ्छन, औषध, भेषज, प्रातिहारिक—लेकर वापस लौटा देने योग्य वस्तु, पाट, बाजोट ठहरने का स्थान, बिछाने के लिए घास आदि द्वारा श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रतिलाभित करता हुआ) धार्मिक जीवन जी रहा था।

६५. तए णं सा सिवनंदा भारिया समणोवासिया जाया जाव[1] पडिलाभेमाणी विहरइ।

आनन्द की पत्नी शिवनन्दा श्रमणोपासिका हो गई। यावत् (जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त था, श्रमण-निर्ग्रन्थों को प्रासुक और एषणीय पदार्थों द्वारा प्रतिलाभित करती हुई) धार्मिक जीवन जीने लगी।

६६. तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स उच्चावएहिं सीलव्वयगुणवेरमण-पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे

१. देखें सूत्र—संख्या ६४।

अज्झत्थिए, चिंतिए, पत्थिए, मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—एवं खलु अहं वाणियगामे नयरे बहूणं राईसर जाव[1] सयस्स वि य णं कुडुंबस्स जाव (मेढी, पमाणं,) आधारे, तं एएणं वक्खेवेणं अहं नो संचाएमि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिअं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। तं सेयं खलु ममं कल्लं जाव (पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि अह पंडुरे पहाए रत्तासोगप्पगास-किंसुय-सुयमुह-गुंजद्धरागसरिसे, कमलागरसंडबोहए, उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा) जलंते विउलं असणपाणखाइमसाइमं जहा पूरणो, जाव (उवक्खडावेत्ता, मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परिजणं आमंतेत्ता, तं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परिजणं विउलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेत्ता, सम्माणेत्ता, तस्सेव मित्तनाइनियगसयणसंबंधि-परिजणस्स पुरओ) जेट्ठ-पुत्तं कुडुंबे ठवेत्ता, तं मित्त जाव (नाइनियगसयणसंबंधिपरिजणं) जेट्ठपुत्तं च आपुच्छित्ता, कोल्लाए सन्निवेसे नायकुलंसि पोसहसालं पडिलेहित्ता, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता कल्लं विउलं तहेव जिमिय-भुत्तुत्तरागए तं मित्त जाव[2] विउलेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता, सम्माणित्ता तस्सेव मित्त जाव (नाइनियगसयणसंबंधिपरिजणस्स) पुरओ जेट्ठपुत्तं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—एवं खलु पुत्ता ! अहं वाणियगामे बहूणं राईसर जहा चिंतियं जाव (एएणं वक्खेवेणं अहं नो संचाएमि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपजित्ताणं) विहरित्तए। तं सेयं खलु मम इदाणिं तुमं सयस्स कुडुम्बस्स मेढी, पमाणं, आहारे, आलंबणं ठवेत्ता जाव (तं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परिजणं तुमं च आपुच्छित्ता कोल्लाए सन्निवेसे नायकुलंसि पोसह-सालं पडिलेहित्ता, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपजित्ताणं) विहरित्तए।

तदन्तर श्रमणोपासक आनन्द को अनेकविध शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण—विरति, प्रत्याख्यान—त्याग, पोषधोपवास आदि द्वारा आत्म-भावित होते हुए—आत्मा का परिष्कार और परिमार्जन करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। जब पन्द्रहवां वर्ष आधा व्यतीत हो चुका था, एक दिन आधी रात के बाद धर्म-जागरण करते हुए आनन्द के मन में ऐसा अन्तर्भाव—चिन्तन, आन्तरिक मांग, मनोभाव या संकल्प उत्पन्न हुआ—वाणिज्यग्राम नगर में बहुत से मांडलिक नरपति, ऐश्वर्यशाली एवं प्रभावशील पुरुष आदि के अनेक कार्यों में मैं पूछने योग्य एवं सलाह लेने योग्य हूं, अपने सारे कुटुम्ब का मैं (मेढि, प्रमाण तथा) आधार हूं। इस व्याक्षेप—कार्यबहुलता या रुकावट के कारण मैं श्रमण भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप आचार का सम्यक् परिपालन नहीं कर पा रहा हूं। इसलिए मेरे लिए यही श्रेयस्कर है, मैं कल (रात बीत जाने पर, प्रभात हो जाने पर, नीले तथा अन्य कमलों के सुहावने रूप में खिल जाने पर, उज्ज्वल प्रभा एवं लाल अशोक, किंशुक, तोते की चोंच, घुंघची के आधे भाग के रंग के सदृश लालिमा लिए हुए, कमल-वन को उद्बोधित—विकसित करने वाले, सहस्र-किरणयुक्त, दिन के प्रादुर्भावक सूर्य के उदित होने पर, अपने तेज से उद्दीप्त होने पर) मैं पूरण[3] की तरह (बड़े परिमाण में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य-आहार

---

१. देखें सूत्र—संख्या ५।

२. देखें सूत्र यही।

३. देखिये—भगवती सूत्र।

तैयार करवा कर मित्र-वृन्द, स्वजातीय लोग, अपने पारिवारिक जन, बन्धु-बान्धव, सम्बन्धि-जन तथा दास-दासियों को आमन्त्रित कर उन्हें अच्छी तरह भोजन कराऊंगा, वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ—इत्र आदि, माला तथा आभूषणों से उनका सत्कार करूंगा, सम्मान करूंगा एवं उनके सामने) अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपने स्थान पर नियुक्त करूंगा—कुटुम्ब का भार सौंपूंगा, अपने मित्र-गण (जातीय जन, पारिवारिक सदस्य, बन्धु-बान्धव, सम्बन्धी, परिजन) तथा ज्येष्ठ पुत्र को पूछ कर-उनकी अनुमति लेकर कोल्लाक-सन्निवेश में स्थित ज्ञातकुल की पोषध-शाला का प्रतिलेखन कर भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति के अनुरूप आचार का परिपालन करूंगा। यों आनन्द ने संप्रेक्षण—सम्यक् चिन्तन किया। वैसा कर, दूसरे दिन अपने मित्रों, जातीय जनों आदि को भोजन कराया। तत्पश्चात् उनका प्रचुर पुष्प, वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, माला एवं आभूषणों से सत्कार किया, सम्मान किया। यों सत्कार-सम्मान कर, उनके समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को बुलाया। बुलाकर, जैसा सोचा था, वह सब तथा अपनी सामाजिक स्थिति एवं प्रतिष्ठा आदि समझाते हुए उसे कहा—पुत्र! वाणिज्यग्राम नगर में मैं बहुत से मांडलिक राजा, ऐश्वर्यशाली पुरुषों आदि से सम्बद्ध हूं, (इस व्याक्षेप के कारण, श्रमण, भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्मप्रज्ञप्ति के अनुरूप) समुचित धर्मोपासना कर नहीं पाता। अतः इस समय मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि तुमको अपने कुटुम्ब के मेढि, प्रमाण, आधार एवं आलम्बन के रूप में स्थापित कर मैं (मित्र-वृन्द, जातीय जन, परिवार के सदस्य, बन्धु-बान्धव, सम्बन्धी, परिजन—इन सबको तथा तुम को पूछकर, कोल्लाक-सन्निवेश-स्थित ज्ञातकुल की पोषध-शाला का प्रतिलेखन कर, भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति के अनुरूप) समुचित धर्मोपासना में लग जाऊं।

६७. तए णं जेट्ठपुत्ते आणंदस्स समणोवासगस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ।

तब श्रमणोपासक आनन्द के ज्येष्ठ पुत्र ने 'जैसी आपकी आज्ञा' यों कहते हुए अत्यन्त विनयपूर्वक अपने पिता का कथन स्वीकार किया।

६८. तए णं से आणंदे, समणोवासए तस्सेव मित्त जाव[1] पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुम्बे ठवेइ, ठवित्ता एवं वयासी—मा णं, देवाणुप्पिया! तुब्भे अज्जप्पभिइं केइ ममं बहुसु कज्जेसु जाव (य कारणेसु य मंतेसु य कुडुंबेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य) आपुच्छउ वा, पडिपुच्छउ वा, ममं अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडेउ वा उवकरेउ वा।

श्रमणोपासक आनन्द ने अपने मित्र-वर्ग, जातीय जन आदि के समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब में अपने स्थान पर स्थापित किया—उत्तर-दायित्व उसे सौंपा। वैसा कर उपस्थित जनों से उसने कहा—महानुभावो! (देवानुप्रियो) आज से आप में से कोई भी मुझे विविध कार्यों (कारणों, मंत्रणाओं, पारिवारिक समस्याओं, गोपनीय बातों, एकान्त में विचारणीय विषयों, किए गए निर्णयों तथा परस्पर के व्यवहारों) के सम्बन्ध में न कुछ पूछें और न परामर्श ही करें, मेरे हेतु अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि आहार तैयार न करें और न मेरे पास लाएं।

६९. तए णं से आणंदे समणोवासए जेट्ठपुत्तं मित्तनाइं आपुच्छइ, आपुच्छित्ता सयाओ

---

१. देखें सूत्र—संख्या ६६।

गिहाम्रो पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता वाणियगामं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे, जेणेव नायकुले, जेणेव पोसह-साला, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोसहसालं पमज्जइ, पमज्जित्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता दब्भसंथारयं संथरइ, संथरेत्ता दब्भसंथारयं दुरुहइ, दुरुहित्ता पोसहसालाए पोसहिए दब्भसंथारोवगए समणस्स भगवम्रो महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

फिर आनन्द ने अपने ज्येष्ठ पुत्र, मित्र-वृन्द, जातीय जन आदि की अनुमति ली। अनुमति लेकर अपने घर से प्रस्थान किया। प्रस्थान कर वाणिज्य ग्राम नगर के बीच से गुजरा, जहां कोल्लाक सन्निवेश था, ज्ञातकुल एवं ज्ञातकुल की पोषधशाला थी, वहां पहुंचा। पहुंचकर पोषध-शाला का प्रमार्जन किया—सफाई की, शौच एवं लघुशंका के स्थान की प्रतिलेखना की। वैसा कर दर्भ—कुश का संस्तारक—बिछौना लगाया, उस पर स्थित हुआ, स्थित होकर पोषधशाला में पोषध स्वीकार कर श्रमण भगवान् महावीर के पास स्वीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धार्मिक शिक्षा के अनुरूप साधना-निरत हो गया।

७०. तए णं से आणंदे समणोवासए उवासगपडिमाओ उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। पढमं उवासगपडिमं अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं सम्मं काएणं फासेइ, पालेइ, सोहेइ, तीरेइ, कित्तेइ, आराहेइ।

तदनन्तर श्रमणोपासक आनन्द ने उपासक-प्रतिमाएं स्वीकार कीं। पहली उपासक-प्रतिमा उसने यथाश्रुत—शास्त्र के अनुसार, यथाकल्प—प्रतिमा के आचार या मर्यादा के अनुसार, यथामार्ग—विधि या क्षायोपशमिक भाव के अनुसार, यथातत्त्व—सिद्धान्त या दर्शन-प्रतिमा के शब्द के तात्पर्य के अनुरूप भली-भांति—सहज रूप में ग्रहण की, उसका पालन किया, अतिचार-रहित अनुसरण कर उसे शोधित किया अथवा गुरु-भक्तिपूर्वक अनुपालन द्वारा शोभित किया, तीर्ण किया—आदि से अन्त तक अच्छी तरह पूर्ण किया, कीर्तित किया—सम्यक् परिपालन द्वारा अभिनन्दित किया, आराधित किया।

७१. तए णं से आणंदे समणोवासए दोच्चं उवासगपडिमं, एवं तच्चं, चउत्थं, पंचमं, छट्ठं, सत्तमं, अट्ठमं, नवमं, दसमं, एक्कारसमं जाव (अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं सम्मं काएणं फासेइ, पालेइ, सोहेइ, तीरेइ, कित्तेइ,) आराहेइ।

श्रमणोपासक आनन्द ने तत्पश्चात् दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, नौवीं, दसवीं तथा ग्यारहवीं प्रतिमा की आराधना की। (उनका यथाश्रुत, यथाकल्प, यथामार्ग एवं यथातत्त्व भली-भांति स्पर्श, पालन, शोधन तथा प्रशस्ततापूर्ण समापन किया।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आनन्द द्वारा ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं की आराधना का उल्लेख है। उपासक-प्रतिमा गृहस्थ साधक के धर्माराधन का एक उत्तरोत्तर विकासोन्मुख विशेष क्रम है, जहां आराधक विशिष्ट धार्मिक क्रिया के उत्कृष्ट अनुष्ठान में संलीन हो जाता है। प्रतिमा शब्द जहां

प्रतीक या प्रतिबिम्ब आदि का वाचक है, वहां इसका एक अर्थ प्रतिमान या मापदण्ड भी है। साधक जहां किसी एक अनुष्ठान के उत्कृष्ट परिपालन में लग जाता है, वहां वह अनुष्ठान या आचार उसका मुख्य ध्येय हो जाता है। उसका परिपालन एक आदर्श उदाहरण या मापदण्ड का रूप ले लेता है। अर्थात् वह अपनी साधना द्वारा एक ऐसी स्थिति उपस्थित करता है, जिसे अन्य लोग उस आचार का प्रतिमान स्वीकार करते हैं। यह विशिष्ट प्रतिज्ञारूप है।

साधक अपना आत्म-बल संजोये प्रतिमाओं की आराधना में पहली से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी—यों क्रमशः उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है। एक प्रतिमा को पूर्ण कर जब वह आगे की प्रतिमा को स्वीकार करता है, तब स्वीकृत प्रतिमा के नियमों के साथ-साथ पिछली प्रतिमाओं के नियम भी पालता रहता है। ऐसा नहीं होता, अगली प्रतिमा के नियम स्वीकार किये, पिछली के छोड़ दिये। यह क्रम अन्त तक चलता है।

आचार्य अभयदेव सूरि ने अपनी वृत्ति में संक्षेप में इन ग्यारह प्रतिमाओं पर प्रकाश डाला है। एतत्संबंधी गाथाएं भी उद्धृत की हैं।

उपासक की प्रतिमाओं का संक्षिप्त विश्लेषण इस प्रकार है :—

१. दर्शन-प्रतिमा—दर्शन का अर्थ दृष्टि या श्रद्धा है। दृष्टि या श्रद्धा वह तत्त्व है, जो आत्मा के अभ्युदय और विकास के लिए सर्वाधिक आवश्यक है। दृष्टि शुद्ध होगी, सत्य में श्रद्धा होगी, तभी साधनोन्मुख व्यक्ति साधना-पथ पर सफलता से गतिशील हो सकेगा। यदि दृष्टि में विकृति, शंका, अस्थिरता आ जाय तो आत्म-विकास के हेतु किए जाने वाले प्रयत्न सार्थक नहीं होते।

वैसे श्रावक साधारणतया सम्यक्-दृष्टि होता ही है, पर इस प्रतिमा में वह दर्शन या दृष्टि की विशेष आराधना करता है। उसे अत्यन्त स्थिर तथा अविचल बनाए रखने हेतु वीतराग देव, पंचमहाव्रतधर गुरु तथा वीतराग द्वारा निरूपित मार्ग पर वह दृढ विश्वास लिए रहता है, एतन्मूलक चिन्तन, मनन एवं अनुशीलन में तत्पर रहता है।

दर्शन-प्रतिमा का आराधक श्रमणोपासक सम्यक्त्व का निरतियार पालन करता है। उसके प्रतिपालन में शंका, कांक्षा आदि के लिए स्थान नहीं होता। वह अपनी आस्था में इतना दृढ होता है कि विभिन्न मत-मतान्तरों को जानता हुआ भी उधर आकृष्ट नहीं होता। वह अपनी आस्था, श्रद्धा या निष्ठा को अत्यन्त विशुद्ध बनाए रहता है। उसका चिन्तन एवं व्यवहार इसी आधार पर चलता है।

दर्शन-प्रतिमा की आराधना का समय एक मास का माना गया है।

२. व्रत-प्रतिमा—दर्शन-प्रतिमा की आराधना के पश्चात् उपासक व्रत-प्रतिमा की आराधना करता है। व्रत-प्रतिमा में वह पांच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करता है और तीन गुणव्रतों का भी। चार शिक्षाव्रतों का भी वह स्वीकार करता है, किन्तु उनमें सामायिक और देशावकाशिक व्रत का यथाविधि सम्यक् पालन नहीं करपाता। वह अनुकम्पा आदि गुणों से युक्त होता है।

इस प्रतिमा की आराधना का काल-मान दो मास का है।

३. सामायिकप्रतिमा—सम्यक् दर्शन एवं व्रतों की आराधना करने वाला साधक सामायिक प्रतिमा स्वीकार कर प्रतिदिन नियमतः तीन बार सामायिक करता है। इस प्रतिमा में वह सामायिक

एवं देशावकाशिक व्रत का सम्यक् रूप में पालन करता है, पर अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा आदि विशिष्ट दिनों में पोषधोपवास की भली-भांति आराधना नहीं कर पाता।

तन्मयता एवं जागरूकता के साथ सामायिक व्रत की उपासना इस प्रतिमा का अभिप्रेत है। इसकी आराधना की अवधि तीन मास की है।

४. पोषध-प्रतिमा—प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय प्रतिमा से आगे बढ़ता हुआ आराधक पोषध-प्रतिमा स्वीकार कर अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व-तिथियों पर पोषध-व्रत का पूर्णरूपेण पालन करता है। इस प्रतिमा की आराधना का समय चार मास है।

५. कायोत्सर्ग-प्रतिमा—कायोत्सर्ग का अर्थ काय या शरीर का त्याग है। शरीर तो यावज्जीवन साथ रहता है, उसके त्याग का अभिप्राय उसके साथ रही आसक्ति या ममता को छोड़ना है। कायोत्सर्ग-प्रतिमा में उपासक शरीर, वस्त्र आदि का ध्यान छोड़कर अपने को आत्म-चिन्तन में लगाता है। अष्टमी एवं चतुर्दशी के दिन रात भर कायोत्सर्ग या ध्यान की आराधना करता है। इस प्रतिमा की अवधि एक दिन, दो दिन अथवा तीन दिन से लेकर अधिक से अधिक पांच मास की है। इसमें रात्रि-भोजन का त्याग रहता है। दिन में ब्रह्मचर्य व्रत रक्खा जाता है। रात्रि में अब्रह्मचर्य का परिमाण किया जाता है।

६. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा—इसमें पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। स्त्रियों से अनावश्यक मेलजोल, बातचीत, उनकी शृंगारिक चेष्टाओं का अवलोकन आदि इसमें वर्जित है। उपासक स्वयं भी शृंगारिक वेशभूषा व उपक्रम से दूर रहता है।

इस प्रतिमा में उपासक सचित्त आहार का त्याग नहीं करता। कारणवश वह सचित्त का सेवन करता है।

इस प्रतिमा की आराधना का काल-मान न्यूनतम एक दिन, दो दिन या तीन दिन तथा उत्कृष्ट छह मास है।

इसमें जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य स्वीकार किए रहने का भी विधान है।

७. सचित्ताहार-वर्जन-प्रतिमा—पूर्वोक्त नियमों का परिपालन करता हुआ, परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का अनुसरण करता हुआ उपासक इस प्रतिमा में सचित्त आहार का सर्वथा त्याग कर देता है, पर वह आरम्भ का त्याग नहीं कर पाता।

इस प्रतिमा की आराधना का उत्कृष्ट काल सात मास का है।

८. स्वयं-आरम्भ-वर्जन-प्रतिमा—पूर्वोक्त सभी नियमों का पालन करते हुए इस प्रतिमा में उपासक स्वयं किसी प्रकार का आरम्भ या हिंसा नहीं करता। इतना विकल्प इसमें है—आजीविका या निर्वाह के लिए दूसरे से आरम्भ कराने का उसे त्याग नहीं होता।

इस प्रतिमा की अराधना की अवधि न्यूनतम एक दिन, दो दिन या तीन दिन तथा उत्कृष्ट आठ मास है।

९, भृतक-प्रेष्यारम्भ-वर्जन-प्रतिमा—पूर्ववर्ती प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करता

हुआ उपासक इस प्रतिमा में आरम्भ का परित्याग कर देता है। अर्थात् वह स्वयं आरम्भ नहीं करता, औरों से नहीं कराता, किन्तु आरम्भ करने की अनुमति देने का उसे त्याग नहीं होता।

अपने उद्देश्य से बनाए गए भोजन का वह परिवर्जन नहीं करता, उसे ले सकता है।

इस प्रतिमा की आराधना की न्यूनतम अवधि एक दिन, दो दिन या तीन दिन है तथा उत्कृष्ट नौ मास है।

१०. उद्दिष्ट-भक्त-वर्जन-प्रतिमा—पूर्वोक्त नियमों का अनुपालन करता हुआ उपासक इस प्रतिमा में उद्दिष्ट—अपने लिए तैयार किए गए भोजन आदि का भी परित्याग कर देता है। वह अपने आपको लौकिक कार्यों से प्रायः हटा लेता है। उस सन्दर्भ में वह कोई आदेश या परामर्श नहीं देता। अमुक विषय में वह जानता है अथवा नहीं जानता—केवल इतना सा उत्तर दे सकता है।

इस प्रतिमा का आराधक उस्तरे से सिर मुंडाता है, कोई शिखा भी रखता है।

इसकी आराधना की समयावधि न्यूनतम एक, दो या तीन दिन तथा उत्कृष्ट दस मास है।

११. श्रमणभूत-प्रतिमा—पूर्वोक्त सभी नियमों का परिपालन करता हुआ साधक इस प्रतिमा में अपने को लगभग श्रमण या साधु जैसा बना लेता है। उसकी सभी क्रियाएं एक श्रमण की तरह यत्ना और जागरूकतापूर्वक होती हैं। वह साधु जैसा वेश धारण करता है, वैसे ही पात्र, उपकरण आदि रखता है। मस्तक के बालों को उस्तरे से मुंडवाता है, यदि सहिष्णुता या शक्ति हो तो लुंचन भी कर सकता है। साधु की तरह वह भिक्षा-चर्या से जीवन-निर्वाह करता है। इतना अन्तर है—साधु हर किसी के यहां भिक्षा हेतु जाता है, यह उपासक अपने सम्बन्धियों के घरों में ही जाता है, क्योंकि तब तक उनके साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध पूरी तरह मिट नहीं पाता।

इसकी आराधना का न्यूनतम काल-परिमाण एक दिन, दो दिन या तीन दिन है तथा उत्कृष्ट ग्यारह मास है।

इसे श्रमणभूत इसीलिए कहा गया है—यद्यपि वह उपासक श्रमण की भूमिका में तो नहीं होता, पर प्रायः श्रमण-सदृश होता है।

७२. तए णं से आणंदे समणोवासए इमेणं एयारूवेणं उरालेणं, विउलेणं, पयत्तेणं, पग्गहिएणं तवोकम्मेणं सुक्के जाव (लुक्खे, निम्मंसे, अट्ठिचम्मावणद्धे, किडिकिडियाभूए, किसे) धमणिसंतए जाए।

इस प्रकार श्रावक-प्रतिमा आदि के रूप में स्वीकृत उत्कृष्ट, विपुल साधनोचित प्रयत्न तथा तपश्चरण से श्रमणोपासक आनन्द का शरीर सूख गया, (रूक्ष हो गया, उस पर मांस नहीं रहा, हड्डियां और चमड़ी मात्र बची रहीं, हड्डियां आपस में भिड़-भिड़ कर आवाज करने लगीं,) शरीर में इतनी कृशता या क्षीणता आ गई कि उस पर उभरी हुई नाड़ियां दीखने लगीं।

७३. तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ पुव्व-रत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए-एवं खलु अहं इमेणं जाव (एयारूवेणं उरालेणं, विउलेणं, पयत्तेणं, पग्गहिएणं तवोकम्मेणं सुक्के, लुक्खे, निम्मंसे, अट्ठि-चम्मावणद्धे किडिकिडियाभूए, किसे,) धमणिसंतए जाए।

तं अत्थि ता मे उट्ठाणे, कम्मे, बले, वीरिए, पुरिसक्कारपरक्कमे, सद्धा, धिई, संवेगे। तं जाव ता मे अत्थि उट्ठाणे सद्धा धिइ संवेगे, जाव य मे धम्मायरिए, धम्मोवएसए, समणे भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ, ताव ता मे सेयं कल्लं जाव[1] जलंते अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसियस्स, भत्त-पाण-पडियाइक्खियस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए। एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता कल्लं जाव[2] अपच्छिममारणंतिय जाव (संलेहणा-झूसणा-झूसिए, भत्त-पाण-पडियाइक्खिए,) कालं अणवकंखमाणे विहरइ।

एक दिन आधी रात के बाद धर्मजागरण करते हुए आनन्द के मन में ऐसा अन्तर्भाव या संकल्प उत्पन्न हुआ—(इस प्रकार श्रावक-प्रतिमा आदि के रूप में स्वीकृत उत्कृष्ट, विपुल साधनोचित प्रयत्न तथा तपश्चरण से मेरा शरीर सूख गया है, रुक्ष हो गया है, उस पर मांस नहीं रहा है, हड्डियां और चमड़ी मात्र बची रही हैं, हड्डियां आपस में भिड़-भिड़ कर आवाज करने लगी हैं,) शरीर में इतनी कृशता आ गई है कि उस पर उभरी हुई नाड़ियां दीखने लगी हैं।

मुझ में उत्थान—धर्मोन्मुख उत्साह, कर्म—तदनुरूप प्रवृत्ति, बल—शारीरिक शक्ति-दृढता, वीर्य—आन्तरिक ओज, पुरुषाकार पराक्रम—पुरुषोचित पराक्रम या अन्तःशक्ति, श्रद्धा—धर्म के प्रति आस्था, धृति—सहिष्णुता, संवेग—मुमुक्षुभाव है। जब तक मुझमें यह सब है तथा जब तक मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, जिन—राग-द्वेष-विजेता, सुहस्ती[3] श्रमण भगवान् महावीर विचरण कर रहे हैं, तब तक मेरे लिए यह श्रेयस्कर है कि मैं कल सूर्योदय होने पर अन्तिम मरणान्तिक संलेखना स्वीकार कर लूं, खान-पान का प्रत्याख्यान—परित्याग कर दूं, मरण की कामना न करता हुआ, आराधनारत हो जाऊं—शान्तिपूर्वक अपना अन्तिम काल व्यतीत करूं।

आनन्द ने यों चिन्तन किया। चिन्तन कर दूसरे दिन सवेरे अन्तिम मरणान्तिक संलेखना स्वीकार की, खान-पान का परित्याग किया, मृत्यु की कामना न करता हुआ वह आराधना में लीन हो गया।

७४. तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं, तदावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ओहि-नाणे समुप्पन्ने। पुरत्थिमे णं लवण-समुद्दे पंच-जोयणसयाइं खेत्तं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणे णं पच्चत्थिमे णं य, उत्तरेणं जाव चुल्लहिमवंतं वासधरपव्वयं जाणइ पासइ, उड्ढं जाव सोहम्मं कप्पं जाणइ पासइ, अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुयं नरयं चउरासीइवाससहस्सट्ठिइयं जाणइ पासइ।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक आनन्द को एक दिन शुभ अध्यवसाय—मनःसंकल्प, शुभ परिणाम—अन्तः परिणति, विशुद्ध होती हुई लेश्याओं—पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से होने वाले आत्म-परिणामों या विचारों के कारण, अवधि-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो गया। फलतः वह पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में पांच-सौ, पांच-सौ योजन तक का लवण समुद्र का क्षेत्र, उत्तर दिशा में हिमवान्—वर्षधर पर्वत तक का क्षेत्र, ऊर्ध्व दिशा में सौधर्म कल्प—प्रथम

---

१. देखें सूत्र संख्या ६६

२. देखें सूत्र संख्या ६६

३. भगवान् महावीर का एक उत्कर्ष-सूचक विशेषण।

देवलोक तक तथा अधोदिशा में प्रथम नारक-भूमि रत्नप्रभा में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति युक्त, लोलुपाच्युतनामक नरक तक जानने लगा, देखने लगा।

विवेचन

लेश्याएं—प्रस्तुत सूत्र में श्रमणोपासक आनन्द को अवधि-ज्ञान उत्पन्न होने के सन्दर्भ में शुभ अध्यवसाय तथा शुभ परिणाम के साथ साथ विशुद्ध होती हुई लेश्याओं का उल्लेख है। लेश्या जैन दर्शन का एक विशिष्ट तत्त्व है, जिस पर बड़ा गहन विश्लेषण हुआ है। लेश्या का तात्पर्य पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से होने वाले आत्मा के परिणाम या विचार हैं। प्रश्न हो सकता है, आत्मा चेतन है, पुद्गल जड़ है, फिर जड़ के संसर्ग से चेतन में परिणाम-विशेष का उद्भव कैसे संभव है? यहां ज्ञातव्य है कि यद्यपि आत्मा जड़ से सर्वथा भिन्न है, पर संसारावस्था में उसका जड़ पुद्गल के साथ गहरा संसर्ग है। अतः पुद्गल—जनित परिणामों का जीव पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। जिन पुद्गलों से आत्मा के परिणाम प्रभावित होते हैं, उन पुद्गलों को द्रव्य-लेश्या कहा जाता है। आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उन्हें भाव-लेश्या कहा जाता है।

द्रव्य-लेश्या पुद्गलात्मक है, इसलिए उसमें वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श स्वीकार किया गया है। द्रव्य—लेश्याओं के जो वर्ण माने गए हैं, लेश्याओं का नामकरण उनके आधार पर हुआ है।

लेश्याएं छह हैं। कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्या।

कृष्णलेश्या का वर्ण काजल के समान काला, रस नीम से अनन्त गुना कटु, गन्ध मरे हुए सांप की गन्ध से अनन्त गुनी अनिष्ट तथा स्पर्श गाय की जिह्वा से अनन्त गुना कर्कश है।

नील लेश्या का वर्ण नीलम के समान नीला, रस सौंठ से अनन्त गुना तीक्ष्ण, गन्ध एवं स्पर्श कृष्ण लेश्या जैसे होते हैं।

कापोत लेश्या का वर्ण कपोत—कबूतर के गले के समान, रस कच्चे आम के रस से अनन्त गुना तिक्त तथा गन्ध व स्पर्श कृष्ण व नील लेश्या जैसे होते हैं।

तेजो लेश्या का वर्ण हिंगुल या सिन्दूर के समान रक्त, रस पके आम के रस से अनन्त गुना मधुर तथा गन्ध सुरभि-कुसुम की गन्ध से अनन्त गुनी इष्ट एवं स्पर्श मक्खन से अनन्त गुना सुकुमार होता है।

पद्म लेश्या का रंग हरिद्रा—हल्दी के समान पीला, रस मधु से अनन्त गुना मिष्ट तथा गन्ध व स्पर्श तेजो लेश्या जैसे होते हैं।

शुक्ल लेश्या का वर्ण शंख के समान श्वेत, रस सिता—मिश्री से अनन्त गुना मिष्ट तथा गन्ध व स्पर्श तेजो लेश्या व पद्म लेश्या जैसे होते हैं।

लेश्याओं का रंग भावों की प्रशस्तता तथा अप्रशस्तता पर आधृत है। कृष्ण लेश्या अत्यन्त कलुषित भावों की परिचायक है। भावों का कालुष्य ज्यों ज्यों कम होता है, वर्णों में अन्तर होता जाता है। कृष्ण लेश्या से जनित भावों की कलुषितता जब कुछ कम होती है तो नील लेश्या की स्थिति आ जाती है, और कम होती है तब कापोत लेश्या की स्थिति बनती है। कृष्ण, नील और कापोत

ये तीनों वर्ण अप्रशस्त भाव के सूचक हैं। इनसे अगले तीन वर्ण प्रशस्त भाव के सूचक हैं। पहली तीन लेश्याओं को अशुभ तथा अगली तीन को शुभ माना गया है।

जैसे बाह्य वातावरण, स्थान, भोजन, रहन-सहन आदि का हमारे मन पर भिन्न-भिन्न प्रकार का असर पड़ता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के पुद्गलों का आत्मा पर भिन्न भिन्न प्रकार का प्रभाव होना अस्वाभाविक नहीं है। प्राकृतिक चिकित्सा-क्षेत्र में भी यह तथ्य सुविदित है। अनेक मनोरोगों की चिकित्सा में विभिन्न रंगों की रश्मियों का अथवा विभिन्न रंगों की शीशियों के जलों का उपयोग किया जाता है। कई ऐसे विशाल चिकित्सालय भी बने हैं। गुजरात में जामनगर का 'सोलेरियम' एशिया का इस कोटि का सुप्रसिद्ध चिकित्सा—केन्द्र है।

जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्यान्य भारतीय दर्शनों में भी अन्तर्भावों या आत्म-परिणामों के सन्दर्भ में अनेक रंगों की परिकल्पना है। उदाहरणार्थ, सांख्य दर्शन में सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण माने गए हैं। तीनों के तीन रंगों की भी अनेक सांख्य-ग्रन्थों में चर्चा है। ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका की सुप्रसिद्ध टीका सांख्य-तत्त्व-कौमुदी के लेखक वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका के प्रारंभ में अजा—अन्य से अनुत्पन्न—प्रकृति को अजा—बकरी से उपमित करते हुए उसे लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण बतलाया है।[1] लोहित—लाल, शुक्ल—सफेद और कृष्ण—काला, ये सांख्य—दर्शन में स्वीकृत रजस्, सत्त्व तमस्—तीनों गुणों के रंग हैं। रजो गुण मन को राग-रंजित या मोह-रंजित करता है, इसलिए वह लोहित है, सत्त्व गुण मन को निर्मल या मल रहित बनाता है, इसलिए वह शुक्ल है, तमो गुण अन्धकार-रूप है, ज्ञान पर आवरण डालता है, इसलिए वह कृष्ण है। लेश्याओं से सांख्य-दर्शन का यह प्रसंग तुलनीय है।

पतंजलि ने योगसूत्र में कर्मों को शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्ण—तीन प्रकार का बतलाया है। कर्मों के ये वर्ण, उनकी प्रशस्तता तथा अप्रशस्तता के सूचक हैं।[2]

ऊपर पुद्गलात्मक द्रव्य-लेश्या से आत्मा के प्रशस्त-अप्रशस्त परिणाम उत्पन्न होने की जो बात कही गई है, इसे कुछ और गहराई से समझना होगा। द्रव्य-लेश्या के साहाय्य से आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, अर्थात् भाव-लेश्या निष्पन्न होती है, तात्त्विक दृष्टि से उलके दो कारण है—मोह-कर्म का उदय अथवा उसका उपशम, क्षय या क्षयोपशम। मोह-कर्म के उदय से जो भाव-लेश्याएं निष्पन्न होती हैं, वे अशुभ या अप्रशस्त होती हैं तथा मोह-कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से जो भाव-लेश्याएं होती हैं, वे शुभ या प्रशस्त होती हैं। कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या—ये मोह-कर्म के उदय से होती हैं, इसलिए अप्रशस्त हैं। तेजो लेश्या, पद्म लेश्या एवं शुक्ल लेश्या—ये उपशम, क्षय या क्षयोपशम से होती हैं, इसलिए शुभ या प्रशस्त हैं। आत्मा में एक ओर औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव उद्भूत होते हैं, दूसरी ओर वैसे पुद्गल या

---

१. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां,
बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते,
जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्॥

२. कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।
—पातंजलयोगसूत्र ४. ७

द्रव्य-लेश्याएं निष्पन्न होती हैं। इसलिए एकान्त रूप से न केवल द्रव्य-लेश्या भाव-लेश्या का कारण है और न केवल भाव-लेश्या द्रव्य-लेश्या का कारण है। ये अन्योन्याश्रित हैं।

ऊपर द्रव्य-लेश्या से भाव-लेश्या या आत्म-परिणाम उद्‌भूत होने की जो बात कही गई है, वह स्थूल दृष्टि से है।

द्रव्य-लेश्या और भावलेश्या की अन्योन्याश्रितता को आयुर्वेद के एक उदाहरण से समझा जा सकता है। आयुर्वेद में पित्त, कफ तथा वात—ये तीन दोष माने गए हैं। जब पित्त प्रकुपित होता है या पित्त का देह पर विशेष प्रभाव होता है तो व्यक्ति क्रुद्ध होता है, उत्तेजित हो जाता है। क्रोध एवं उत्तेजना से फिर पित्त बढ़ता है। कफ जब प्रबल होता है तो शिथिलता, तन्द्रा एवं आलस्य पैदा होता है। शिथिलता, तन्द्रा एवं आलस्य से पुनः कफ बढ़ता है। वात की प्रबलता चांचल्य—अस्थिरता व कम्पन पैदा करती है। चंचलता एवं अस्थिरता से फिर वात की वृद्धि होती है। यों पित्त आदि दोष तथा इनसे प्रकटित क्रोध आदि भाव अन्योन्याश्रित हैं। द्रव्य-लेश्या और भाव-लेश्या का कुछ इसी प्रकार का सम्बन्ध है।

जैन वाङ्‌मय के अनेक ग्रन्थों में लेश्या का यथा-प्रसंग विश्लेषण हुआ है। प्रज्ञापना सूत्र के १७ वें पद में तथा उत्तराध्ययनसूत्र के ३४ वें अध्ययन में लेश्या का विस्तृत विवेचन है, जो पठनीय है। आधुनिक मनोविज्ञान के साथ जैन दर्शन का यह विषय समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक दृष्टि से अनुशीलन करने योग्य है। अस्तु।

प्रस्तुत सूत्र में आनन्द के उत्तरोत्तर प्रशस्त होते या विकास पाते अन्तर्भावों का जो संकेत है, उससे प्रकट होता है कि आनन्द अन्तःपरिष्कार या अन्तर्मार्जन की भूमिका में अत्यधिक जागरूक था। फलतः उसकी लेश्याएं, आत्म-परिणाम प्रशस्त से प्रशस्ततर होते गए और उसको अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो गया।

आनन्द : अवधि-ज्ञान

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य—शक्ति आत्मा का स्वभाव है। कर्म आवरण हैं, जैन दर्शन के अनुसार वे पुद्‌गलात्मक हैं, मूर्त्त हैं। आत्म-स्वभाव को वे आवृत करते हैं। आत्मस्वभाव उनसे जितना, जैसा आवृत होता है, उतना अप्रकाशित रहता है। कर्मों के आवरण आत्मा के स्वोन्मुख प्रशस्त अध्यवसाय, उत्तम परिणाम पवित्र भाव एवं तपश्चरण से जैसे जैसे हटते जाते हैं—मिटते जाते हैं, वैसे वैसे आत्मा का स्वभाव उद्‌भासित या प्रकट होता जाता है।

ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म ज्ञानावरण कहे जाते हैं। जैन दर्शन में ज्ञान के पांच भेद हैं—मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनः-पर्याय-ज्ञान तथा केवल-ज्ञान।

इनका आवरण या आच्छादन करने वाले कर्म-पुद्‌गल क्रमशः मति-ज्ञानावरण, श्रुत-ज्ञानावरण, अवधि-ज्ञानावरण, मनःपर्याय-ज्ञानावरण तथा केवल-ज्ञानावरण कहे जाते हैं।

इन आवरणों के हटने से ये पांचों ज्ञान प्रकट होते हैं। परोक्ष और प्रत्यक्ष के रूप में इनमें दो भेद हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान किसी दूसरे माध्यम के बिना आत्मा द्वारा ही ज्ञेय को सीधा ग्रहण करता है। परोक्ष ज्ञान की ज्ञेय तक सीधी पहुंच नहीं होती। मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान परोक्ष हैं, क्यों कि वहां मन और इन्द्रियों का सहयोग अपेक्षित है। वैसे स्थूल रूप में हम किसी वस्तु को आंखों से देखते हैं,

जानते हैं, उसे प्रत्यक्ष देखना कहा जाता है। पर वह केवल व्यवहार-भाषा है, इसलिए दर्शन में उसकी संज्ञा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। निश्चय-दृष्टि से वह प्रत्यक्ष में नहीं आता क्योंकि ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय पदार्थ में आंखों के माध्यम से वहां सम्बन्ध है, सीधा नहीं है।

अवधि-ज्ञान, मनः पर्याय-ज्ञान और केवल-ज्ञान में इन्द्रिय और मन के साहाय्य की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ ज्ञान की ज्ञेय तक सीधी पहुंच होती है। इसलिए ये प्रत्यक्ष-भेद में आते हैं। इनमें केवल-ज्ञान को सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है और अवधि व मनः पर्याय को विकल या अपूर्ण पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है क्योंकि इनसे ज्ञेय के सम्पूर्ण पर्याय नहीं जाने जा सकते।

अवधि-ज्ञान वह अतीन्द्रिय ज्ञान है, जिसके द्वारा व्यक्ति द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की एक मर्यादा या सीमा के साथ मूर्त्त या सरूप पदार्थों को जानता है। अवधि-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम जैसा मन्द या तीव्र होता है, उसके अनुसार अवधि-ज्ञान की व्यापकता होती है।

अवधि-ज्ञान के सम्बन्ध में एक विशेष बात और है—देव-योनि और नरक-योनि में वह जन्म-सिद्ध है। उसे भव-प्रत्यय अवधि-ज्ञान कहा जाता है। इन योनियों में जीवों को जन्म धारण करते ही सहज रूप में योग्य या उपयुक्त क्षयोपशम द्वारा अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसका आशय यह है कि अवधि-ज्ञानावरण के क्षयोपशम हेतु उन्हें तपोमूलक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वैसा वहां शक्य भी नहीं है।

तप, व्रत, प्रत्याख्यान आदि निर्जरामूलक अनुष्ठानों द्वारा अवधि-ज्ञानावरण-कर्म-पुद्गलों के क्षयोपशम से जो अवधि-ज्ञान प्राप्त होता है, उसे गुण-प्रत्यय अवधि-ज्ञान कहा जाता है। वह मनुष्यों और तिर्यञ्चों में होता है। भव-प्रत्यय और गुण-प्रत्यय अवधि-ज्ञान में एक विशेष अन्तर यह है—भव-प्रत्यय अवधि-ज्ञान देव-योनि और नरक-योनि के प्रत्येक जीव को होता है; गुण-प्रत्यय अवधि-ज्ञान प्रयत्न द्वारा भी मनुष्यों और तिर्यञ्चों में सबको नहीं होता, किन्हीं किन्हीं को होता है, जिन्होंने तदनुरूप योग्यता प्राप्त कर ली हो, जिनका अवधि-ज्ञानावरण का क्षयोपशम सधा हो।

आनन्द अपने उत्कृष्ट आत्म-बल के सहारे, पवित्र भाव तथा प्रयत्नपूर्वक वैसी स्थिति अधिगत कर चुका था, उसके अवधि-ज्ञानावरण-कर्म-पुद्गलों का क्षयोपशम हो गया था, जिसकी फल-निष्पत्ति अवधि-ज्ञान में प्रस्फुटित हुई।

प्रस्तुत सूत्र में श्रमणोपासक आनन्द द्वारा प्राप्त अवधि-ज्ञान के विस्तार की चर्चा करते हुए पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में लवण समुद्र तथा उत्तर में चुल्लहिमवंत वर्षधर का उल्लेख आया है। इनका मध्यलोक से सम्बन्ध है। जैन भूगोल के अनुसार मध्यलोक में मनुष्य क्षेत्र ढाई द्वीपों तक विस्तृत है। मध्य में जम्बू द्वीप है, जो वृत्ताकार—गोल है, जिसका विष्कम्भ—व्यास एक लाख योजन है—जो एक लाख योजन लम्बा तथा एक लाख योजन चौड़ा है। जम्बू द्वीप में भरतवर्ष, हैमतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष तथा ऐरावत वर्ष—ये सात क्षेत्र हैं। इन सातों क्षेत्रों को अलग करने वाले पूर्व-पश्चिम लम्बे—हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी तथा शिखरी—ये छह वर्षधर पर्वत हैं। जम्बूद्वीप के चारों ओर लवण समुद्र है। लवण समुद्र का व्यास जम्बूद्वीप से दुगुना है। लवण ससुद्र के चारों ओर धातकीखण्डनामक द्वीप है। उसका व्यास लवण समुद्र से दुगुना है। धातकीखण्ड के चारों ओर कालोदधिनामक समुद्र है, जिसका विस्तार धातकीखंड से दुगुना है। कालोदधि समुद्र के चारों तरफ पुष्कर द्वीप है। इस द्वीप के बीच में मानुषोत्तर पर्वत है।

मनुष्यों का आवास वहीं तक है अर्थात् जम्बू द्वीप, धातकीखंड तथा आधा पुष्कर द्वीप—इन ढाई द्वीपों में मनुष्य रहते हैं।

श्रमणोपासक आनन्द को जो अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ था, उससे वह जम्बू द्वीप के चारों ओर फैले लवण-समुद्र में पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण—इन तीन दिशाओं में पांच सौ योजन की दूरी तक देखने लग गया था। उत्तर में वह हिमवान् वर्षधर पर्वत तक देखने लग गया था।

जम्बू द्वीप में वर्षधर पर्वतों में पहले दो—हिमवान् तथा महाहिमवान् हैं। प्रस्तुत सूत्र में हिमवान् के लिए चुल्लहिमवंत पद का प्रयोग हुआ है। चुल्ल का अर्थ छोटा है। महाहिमवान् की दृष्टि से हिमवान् के साथ यह विशेषण दिया गया है।

ऊर्ध्व लोक में आनन्द द्वारा सौधर्म-कल्प तक देखे जाने का संकेत है। [ऊर्ध्व लोक में निम्नांकित देवलोक अवस्थित हैं :—

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत तथा नौ ग्रैवेयक एवं पांच अनुत्तर विमान—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध। सौधर्म इन में प्रथम देवलोक है।

अधोलोक में निम्नांकित सात नारक भूमियां हैं :—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंक-प्रभा, धूमप्रभा, तमः-प्रभा एवं महातमः प्रभा। ये क्रमशः एक दूसरे के नीचे अवस्थित हैं। रत्नप्रभा भूमि में लोलुपाच्युत प्रथम नरक है।

तत्वार्थ सूत्र के तीसरे अध्याय में अधोलोक और मध्यलोक का तथा चौथे अध्याय में ऊर्ध्वलोक का वर्णन है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है।

श्रमणोपासक आनन्द के अवधि ज्ञान का विस्तार उसके अवधि-ज्ञानावरण-कर्म-पुद्गलों के क्षयोपशम के कारण चारों दिशाओं में उपर्युक्त सीमा तक था।

७५. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए, परिसा निग्गया जाव[1] पडिगया।

उस काल वर्तमान—अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय भगवान् महावीर समवसृत हुए—पधारे। परिषद् जुड़ी, धर्म सुनकर वापिस लौट गई।

७६. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई नामं अणगारे गोयम-गोत्तेणं, सत्तुस्सेहे, समचउरंससंठाणसंठिए, वज्जरिसहनारायसंघयणे, कणगपुलग-निघसपम्हगोरे, उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, घोरतवे, महातवे, उराले घोरगुणे घोरतवस्सी, घोर-बंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्त-विउल-तेउ-लेस्से, छट्ठं-छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवो-कम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार, जिनकी देह की ऊंचाई सात हाथ थी, जो समचतुरस्र-संस्थान-संस्थित थे—देह के चारों

१. देखें सूत्र संख्या ११।

अंशों की सुसंगत, अंगों के परस्पर समानुपाती, सन्तुलित और समन्वित रचनामय शरीर के धारक थे, जो वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन—सुदृढ अस्थि-बन्धयुक्त विशिष्ट-देह-रचनायुक्त थे, कसौटी पर खचित स्वर्ण-रेखा की आभा लिए हुए कमल के समान जो गौर वर्ण थे, जो उग्र तपस्वी थे, दीप्त तपस्वी—कर्मों को भस्मसात् करने में अग्नि के समान प्रदीप्त तप करने वाले थे, तप्ततपस्वी—जिनकी देह पर तपश्चर्या की तीव्र झलक व्याप्त थी, जो कठोर एवं विपुल तप करने वाले थे. जो उराल—प्रबल—साधना में सशक्त, घोरगुण—परम उत्तम—जिनको धारण करने में अद्भुत शक्ति चाहिए—ऐसे गुणों के धारक, घोर तपस्वी—प्रबल तपस्वी, घोर ब्रह्मचर्यवासी—कठोर ब्रह्मचर्य के पालक, उत्क्षिप्तशरीर—दैहिक सार-संभाल या सजावट से रहित थे, जो विशाल तेजोलेश्या अपने शरीर के भीतर समेटे हुए थे, बेले-बेले निरन्तर तप का अनुष्ठान करते हुए, संयमाराधना तथा तन्मूलक अन्यान्य तपश्चरणों द्वारा अपनी आत्मा को भावित—संस्कारित करते हुए विहार करते थे।

७७. तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खण-पारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, बिइयाए पोरिसीए झाणं झियाइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियं अचवलं असंभंते मुहपत्तिं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता भायण-वत्थाइं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता भायणवत्थाइं पमज्जइ, पमज्जित्ता भायणाइं-उग्गाहेइ, उग्गाहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमणपारणगंसि वाणियगामे नयरे उच्चनीय-मज्झिमाइं कुलाइं घर-समुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए।

अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।

बेले के पारणे का दिन था, भगवान् गौतम ने पहले पहर में स्वाध्याय किया, दूसरे पहर में ध्यान किया, तीसरे पहर में अत्वरित—जल्दबाजी न करते हुए, अचपल—स्थिरतापूर्वक, असंभ्रान्त—अनाकुल भाव से—जागरूकतापूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन किया, पात्रों और वस्त्रों का प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन किया। पात्र उठाये, वैसाकर, जहां श्रमण भगवान् महावीर थे, वहां आए। उन्हें वंदन, नमस्कार किया। वंदन, नमस्कार कर यों बोले—भगवन्! आपसे अनुज्ञा प्राप्त कर मैं आज बेले के पारणे के दिन वाणिज्यग्राम नगर में उच्च (सधन) निम्न (निर्धन) मध्यम-सभी कुलों में गृह-समुदानी—क्रमागत किसी भी घर को बिना छोडे की जाने वाली भिक्षा-चर्या के लिए जाना चाहता हूं।

भगवान् बोले—देवानुप्रिय! जैसे तुम्हें सुख हो, बिना प्रतिबन्ध—विलम्ब किए, करो।

७८. तए णं भगवं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगंतर-परिलोयणाए दिट्ठीए पुरओ ईरियं सोहेमाणे जेणेव वाणियगामे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वाणियगामे नयरे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घर-समुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ।

श्रमण भगवान् महावीर से अभ्यनुज्ञात होकर—उनकी आज्ञा प्राप्त कर भगवान् गौतम ने

दूतीपलाश चैत्य से प्रस्थान किया। प्रस्थान कर, विना शीघ्रता किए, स्थिरतापूर्वक अनाकुल भाव से युग-परिमाण—साढ़े तीन हाथ तक मार्ग का परिलोकन करते हुए, ईर्यासमितिपूर्वक—भूमि को भली भांति देखकर चलते हुए, जहां वाणिज्यग्राम नगर था, वहां आए। आकर वहां उच्च, निम्न एवं मध्यम कुलों में समुदानी-भिक्षा-हेतु घूमने लगे।

७९. तए णं से भगवं गोयमे वाणियगामे नयरे, जहा पण्णत्तीए तहा, जाव (उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स) भिक्खायरियाए अडमाणे अहा-पज्जत्तं भत्त-पाणं सम्मं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेत्ता वाणियगामाओ पडिणिग्गच्छइ, पडिणिग्गच्छित्ता कोल्लायस्स सन्निवेसस्स अदूरसामंतेणं वीईवयमाणे, बहुजणसद्दं निसामेइ, बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ—एवं खलु देवाणुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी आणंदे नामं समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिम जाव (मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसिए, भत्तपाणपडियाइक्खिए कालं) अणवकंखमाणे विहरइ।

भगवान् गौतम ने व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में वर्णित भिक्षाचर्या के विधान के अनुरूप (उच्च, निम्न एवं मध्यम कुलों में समुदानी भिक्षा हेतु) घूमते हुए यथापर्याप्त—जितना जैसा अपेक्षित था, उतना आहार-पानी भली-भांति ग्रहण किया। ग्रहण कर वाणिज्यग्राम नगर से चले। चलकर जब कोल्लाक सन्निवेश के न अधिक दूर, न अधिक निकट से निकल रहे थे, तो बहुत से लोगों को बात करते सुना। वे आपस में यों कह रहे थे—देवानुप्रियो! श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी—शिष्य श्रमणोपासक आनन्द पोषधशाला में मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए अन्तिम संलेखना, (खान-पान का परित्याग—आमरण—अनशन) स्वीकार किए आराधना-रत हैं।

८०. तए णं तस्स गोयमस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा, निसम्म अयमेयारूवे अज्झत्थिए, चिंतिए, पत्थिए, मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—तं गच्छामि णं आणंदं समणोवासयं पासामि। एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे जेणेव आणंदे समणोवासए, जेणेव पोसह--साला, तेणेव उवागच्छइ।

अनेक लोगों से यह बात सुनकर, गौतम के मन में ऐसा भाव, चिन्तन, विचार या संकल्प उठा—मैं श्रमणोपासक आनन्द के पास जाऊं और उसे देखूं। ऐसा सोचकर वे जहां कोल्लाक सन्निवेश था, श्रमणोपासक आनन्द था, पोषध-शाला थी, वहां गए।

८१. तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव[1] हियए भगवं गोयमं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु भंते! अहं इमेणं उरालेणं जाव[2] धमणि-संतए जाए, नो संचाएमि देवाणुप्पियस्स अंतियं पाउब्भवित्ता णं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाए अभिवंदित्तए, तुब्भे णं भंते! इच्छाकारेणं अणभिओएणं इओ चेव एह, जा णं देवाणुप्पियाणं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदामि नमंसामि।

---

१. देखें सूत्र-संख्या १२

२. देखें सूत्र-संख्या ७३

श्रमणोपासक आनन्द ने भगवान् गौतम को आते हुए देखा। देखकर वह (यावत्) अत्यन्त प्रसन्न हुआ, भगवान् गौतम को वन्दन-नमस्कार कर बोला—भगवन्! मैं घोर तपश्चर्या से इतना क्षीण हो गया हूं कि मेरे शरीर पर उभरी हुई नाड़ियां दीखने लगी हैं। इसलिए देवानुप्रिय के—आपके पास आने तथा तीन बार मस्तक झुका कर चरणों में वन्दना करने में असमर्थ हूं। अत एव प्रभो! आप ही स्वेच्छापूर्वक, अनभियोग से—किसी दबाव के बिना यहां पधारें, जिससे मैं तीन बार मस्तक झुकाकर देवानुप्रिय के—आपके चरणों में वन्दन, नमस्कार कर सकूं।

८२. तए णं से भगवं गोयमे, जेणेव आणंदे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ।

तब भगवान् गौतम, जहां आनन्द श्रमणोपासक था, वहां गये।

८३. तए णं से आणंदे समणोवासए भगवओ गोयमस्स तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—अत्थि णं भंते! गिहिणो गिहमज्झावसंतस्य ओहिनाणं समुपज्जइ?

हंता अत्थि।

जइ णं भंते! गिहिणो जाव (गिहमज्झावसंतस्स ओहि-नाणं) समुपज्जइ, एवं खलु भंते! मम वि गिहिणो गिहमज्झावसंतस्स ओहि-नाणे समुप्पण्णे—पुरत्थिमे णं लवण-समुद्दे पंच जोयणसयाइं जाव (खेत्तं जाणामि पासामि एवं दक्खिणे णं पच्चत्थिमे णं य, उत्तरे णं जाव चुल्लहिमवंतं वासधरपव्वयं जाणामि पासामि, उड्ढं जाव सोहम्मं कप्पं जाणामि पासामि, अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए) लोलुयच्चुयं नरयं जाणामि पासामि।

श्रमणोपासक आनन्द ने तीन बार मस्तक झुकाकर भगवान् गौतम के चरणों में वन्दन, नमस्कार किया। वन्दन, नमस्कार कर वह यों बोला—भगवन्! क्या घर में रहते हुए एक गृहस्थ को अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है?

गौतम ने कहा—हो सकता है।

आनन्द बोला—भगवन्! एक गृहस्थ की भूमिका में विद्यमान मुझे भी अवधिज्ञान हुआ है, जिससे मैं पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में पांच-सौ, पांच-सौ योजन तक का लवण समुद्र का क्षेत्र, उत्तर दिशा में हिमवान्—वर्षधर पर्वत तक का क्षेत्र, ऊर्ध्व दिशा में सौधर्म कल्प—तक तथा अधो-दिशा में प्रथम नारक-भूमि रत्न-प्रभा में लोलुपाच्युतनामक नरक तक जानता हूं, देखता हूं।

८४. तए णं से भगवं गोयमे आणंदं समणोवासयं एवं वयासी—अत्थि णं, आणंदा! गिहिणो जाव[1] समुप्पज्जइ। नो चेव णं एमहालए। तं णं तुमं, आणंदा! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव (पडिक्कमाहि, निंदाहि, गरिहाहि, विउट्टाहि, विसोहेहि अकरणयाए, अब्भुट्ठाहि अहारिहं पायच्छित्तं) तवो-कम्मं पडिवज्जाहि।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ८३

तब भगवान् गौतम ने श्रमणोपासक आनन्द से कहा—गृहस्थ को अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है, पर इतना विशाल नहीं। इसलिए आनन्द ! तुम इस स्थान की—इस मृषावाद रूप स्थिति या प्रवृत्ति की आलोचना करो, (प्रतिक्रमण करो—पुनः शुद्ध अन्तःस्थिति में लौटो, इस प्रवृत्ति की निन्दा करो, गर्हा करो—आन्तरिक खेद अनुभव करो, इसे वित्रोटित करो—विच्छिन्न करो या मिटाओ, इस अकरणता या अकार्य का विशोधन करो—इससे जनित दोष का परिमार्जन करो, यथोचित प्रायश्चित्त के लिए अभ्युत्थित—उद्यत हो जाओ) तदर्थं तपःकर्म स्वीकार करो।

८५. तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एवं वयासी—अत्थि णं, भंते ! जिण-वयणे संताणं, तच्चाणं, तहियाणं, सब्भूयाणं भावाणं आलोइज्जइ जाव पडिक्कमिज्जइ, निंदिज्जइ, गरिहिज्जइ, विउट्टिज्जइ, विसोहिज्जइ अकरणयाए, अब्भुट्ठिज्जइ अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं) पडिवज्जिज्जइ ?

नो इणट्ठे समट्ठे।

जइ णं भंते ! जिण-वयणे संताणं जाव (तच्चाणं, तहियाणं, सब्भूयाणं) भावाणं नो आलोइज्जइ जाव (नो पडिक्कमिज्जइ, नो निंदिज्जइ, नो गरिहिज्जइ, नो विउट्टिज्जइ, नो विसोहिज्जइ अकरणयाए, नो अब्भुट्ठिज्जइ अहारिहं पायच्छित्तं) तवो-कम्मं नो पडिवज्जिज्जइ, तं णं भंते ! तुब्भे चेव एयस्स ठाणस्स आलोएह जाव (पडिक्कमेह, निंदेह, गरिहेह, विउट्टेह, विसोहेह अकरणयाए, अब्भुट्ठेह अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं) पडिवज्जह।

श्रमणोपासक आनन्द भगवान् गौतम से बोला—भगवन् ! क्या जिन-शासन में सत्य, तत्त्वपूर्ण, तथ्य—यथार्थ, सद्भूत भावों के लिए भी आलोचना (प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, निवृत्ति, अकरणता-विशुद्धि, यथोचित प्रायश्चित्त, तदनुरूप तपः क्रिया) स्वीकार करनी होती है ?

गौतम ने कहा—ऐसा नहीं होता।

आनन्द बोला—भगवन् ! जिन-शासन में सत्य भावों के लिए आलोचना (प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, निवृत्ति, अकरणता-विशुद्धि, यथोचित प्रायश्चित्त, तथा तदनुरूप तपः क्रिया) स्वीकार नहीं करनी होती तो भन्ते ! इस स्थान—आचरण के लिए आप ही आलोचना (प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, निवृत्ति, अकरणता-विशुद्धि यथोचित प्रायश्चित्त तथा तदनुरूप तपः क्रिया) स्वीकार करें।

८६: तए णं से भगवं गोयमे आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे, संकिए, कंखिए, विइगिच्छा-समावन्ने, आणंदस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूर-सामन्ते गमणागमणाए पडिक्कमइ, पडिक्कमित्ता एसणमणेसणं आलोएइ, आलोइत्ता भत्तपाणं पडिदंसइ, पडिदंसित्ता समणं भगवं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए तं चेव सव्वं कहेइ, जाव तए णं अहं संकिए, कंखिए, विइगिच्छा-समावन्ने आणंदस्स समणोवासगस्स अंतियाओ पडिणिक्खमामि, पडिणिक्खमित्ता जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए, तं णं भंते ! किं आणंदेणं समणोवासएणं तस्स ठाणस्स आलोएयव्वं जाव (पडिक्कम्मेयव्वं, निंदेयव्वं,

गरिहेयव्वं, विउट्टेयव्वं, विसोहेयव्वं अकरणयाए, अब्भुट्ठेयव्वं अहारिहं पायच्छित्तं तवो-कम्मं) पडिवज्जेयव्वं उदाहु मए ?

गोयमा ! इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—गोयमा ![1] तुमं चेव णं तस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि, आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेहि ।

श्रमणोपासक आनन्द के यों कहने पर भगवान् गौतम के मन में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा—संशय उत्पन्न हुआ। वे आनन्द के पास से रवाना हुए। रवाना होकर जहां दूतीपलाश चैत्य था, भगवान् महावीर थे, वहां आए। आकर श्रमण भगवान् महावीर के न अधिक दूर, न अधिक नजदीक गमन-आगमन का प्रतिक्रमण किया, एषणीय-अनेषणीय की आलोचना की। आलोचना कर आहार-पानी भगवान् को दिखलाया। दिखलाकर वन्दन-नमस्कार कर वह सब कहा जो भगवान् से आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए जाने के पश्चात् घटित हुआ था ! वैसा कर वे बोले—मैं इस घटना के बाद शंका, कांक्षा और संशययुक्त होकर श्रमणोपासक आनन्द के यहां से चलकर आपके पास तुरन्त आया हूँ। भगवन् ! उक्त स्थान—आचरण के लिए क्या श्रमणोपासक आनन्द को आलोचना (प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, निवृत्ति अकरणता-विशुद्धि, यथोचित प्रायश्चित्त तथा तदनुरूप तपः क्रिया) स्वीकार करनी चाहिए या मुझे ?

श्रमण भगवान् महावीर बोले—गौतम ! इस स्थान—आचरण के लिए तुम ही आलोचना करो तथा इसके लिए श्रमणोपासक आनन्द से क्षमा-याचना भी।

८७. तए णं से भगवं गोयमे, समणस्स भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव (पडिक्कमइ, निंदइ, गरिहइ, विउट्टइ, विसोहइ, अकरणयाए, अब्भुट्ठेइ अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं) पडिवज्जइ, आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेइ ।

भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर का कथन, 'आप ठीक फरमाते हैं', यों कहकर विनयपूर्वक सुना। सुनकर उस स्थान—आचरण के लिए आलोचना (प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, निवृत्ति, अकरणता-विशुद्धि, यथोचित प्रायश्चित्त तथा तदनुरूप तपः क्रिया) स्वीकार की एवं श्रमणोपासक आनन्द से क्षमा-याचना की।

८८. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ बहिया जणवय—विहारं विहरइ ।

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर किसी समय अन्य जनपदों में विहार कर गए।

८९. तए णं से आणंदे समणोवासए बहूहिं सील-व्वएहिं जाव (गुण—वेरमण—पच्चक्खाण—पोसहोववासेहिं) अप्पाणं भावेत्ता, वीसं वासाइं समणोवासग-परियागं पाउणित्ता, एक्कारस य उवासग-पडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं भूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय-पडिक्कंते, समाहिपत्ते, कालमासे कालं किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसगस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरत्थिमेणं अरुणे विमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ णं अत्थे-

१. देखें सूत्र-संख्या ८४

गइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं आणंदस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता।

यों श्रमणोपासक आनन्द ने अनेकविध शीलव्रत (गुणव्रत, विरमण—विरति, प्रत्याख्यान—त्याग एवं पोषधोपवास द्वारा आत्मा को भावित किया—आत्मा का परिष्कार और परिमार्जन किया। बीस वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय—श्रावक-धर्म का पालन किया, ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं का भली-भांति अनुसरण किया, एक मास की संलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन संपन्न कर, आलोचना, प्रतिक्रमण कर मरण-काल आने पर समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। देह-त्याग कर वह सौधर्म देवलोक में सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशान-कोण में स्थित अरुण-विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहां अनेक देवों की आयु-स्थिति चार पल्योपम की होती है। श्रमणोपासक आनन्द की आयु-स्थिति भी चार पल्योपम की बतलाई गई है।

९०. आणंदे णं भंते! देवे ताओ देव-लोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता, कहिं गच्छिहिइ? कहिं उववज्जिहिइ?

गोयमा! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो[1]

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पढमं अज्झयणं समत्तं ॥

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—भन्ते! आनन्द उस देवलोक से आयु, भव, एवं स्थिति के क्षय होने पर देव शरीर का त्याग कर कहां जायगा? कहां उत्पन्न होगा?

भगवान् ने कहा—गौतम! आनन्द महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा—सिद्ध-गति या मुक्ति प्राप्त करेगा

॥ निक्षेप ॥[2]

॥ सातवें अंग उपासकदशा का प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

---

१. एवं खलु जम्बू! समणेणं जाव उवासगदसाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति—बेमि।

२. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशा के प्रथम अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

द्वितीय अध्ययन

सार : संक्षेप

श्रमण भगवान् महावीर के समय की बात है, पूर्व बिहार में चम्पा नामक नगरी थी। वहां के राजा का नाम जितशत्रु था। सम्भवतः चम्पा नगरी की अवस्थिति, आज जहां भागलपुर है, उसके आस-पास थी। कुछ अवशेष, चिह्न आदि आज भी वहां विद्यमान हैं।

चम्पा अपने युग की एक अत्यन्त समृद्ध नगरी थी। वहां कामदेव नामक एक गाथापति रहता था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था, जो सुयोग्य तथा पतिपरायण थी। कामदेव एक बहुत समृद्ध एवं सम्पन्न गृहस्थ था। उसकी सम्पत्ति गाथापति आनन्द से भी बढ़ी-चढ़ी थी। छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं स्थायी पूंजी के रूप में उसके खजाने में थीं, छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार-व्यवसाय में लगी थीं तथा छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव—उपकरण, साज-सामान आदि के उपभोग में आ रही थीं। दस-दस हजार गायों के छह गोकुल उसके यहां थे। इतने बड़े वैभवशाली पुरुष के दास-दासियों, कर्मचारियों आदि की संख्या भी बहुत बड़ी रही होगी। लौकिक भाषा में जिसे सुख, समृद्धि तथा सम्पन्नता कहा जाता है, वह सब कामदेव को प्राप्त था।

कामदेव का पारिवारिक जीवन सुखी था। वह एक सौजन्यशील तथा मिलनसार व्यक्ति था। वह समाज में अग्रगण्य था। राजकीय क्षेत्र में उसका भारी सम्मान था। नगर के सम्भ्रान्त और प्रतिष्ठित जन महत्त्वपूर्ण कार्यों में उसका परामर्श लेते थे, उसकी बात को आदर देते थे। यह सब इसलिए था कि कामदेव विवेकी था।

आनन्द की तरह कामदेव के जीवन में भी एक नया मोड़ आया। उसके विवेक को जागृत होने का एक विशेष अवसर प्राप्त हुआ। जन-जन को अहिंसा, समता और सदाचार का संदेश देते हुए श्रमण भगवान् महावीर अपने पाद-बिहार के बीच चम्पा पधारे। पूर्णभद्र नामक चैत्य में रुके। भगवान् का पदार्पण हुआ, जानकर दर्शनार्थियों का तांता बंध गया। राजा जितशत्रु भी अपने राजकीय ठाठ-बाट के साथ भगवान् के दर्शन करने गया। अन्यान्य धर्मानुरागी नागरिक-जन भी वहाँ पहुंचे। ज्यों ही कामदेव को यह ज्ञात हुआ, वह धर्म सुनने की उत्कंठा लिए भगवान् की सेवा में पहुंचा। धर्म-देशना श्रवण की। उसका विवेक उद्बुद्ध हुआ। उस परम वैभवशाली गाथापति के मन को भगवान् के उपदेश ने एकाएक झकझोर दिया। आनन्द की तरह उसने भगवान् से गृहि-धर्म स्वीकार किया। गृहस्थ में रहते हुए भी भोग, वासना, लालसा और कामना की दृष्टि से जितना हो सके बचा जाय, जीवन को संयमित और नियंत्रित रखा जाय, इस भावना को लिए हुए कामदेव अपने सभी काम करता था। आसक्ति का भाव उसके जीवन में कम होता जा रहा था।

आनन्द की ही तरह फिर जीवन में दूसरा मोड़ आया। उसने पारिवारिक तथा लौकिक दायित्व अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपे, स्वयं अपने आपको अधिकाधिक साधना में लगा दिया। शील, व्रत, त्याग प्रत्याख्यान आदि की आराधना में उसने तन्मय भाव से अपने को रमा दिया। ऐसा करते हुए उसके जीवन में एक परीक्षा की घड़ी आई। वह पोषधशाला में पोषध लिए बैठा था। उसकी

साधना में विघ्न करने के लिए एक मिथ्यात्वी देव आया। उसने कामदेव को भयभीत और संत्रस्त करने हेतु एक अत्यन्त भीषण, विकराल, भयावह पिशाच का रूप धारण किया, जिसे देखते ही मन थर्रा उठे।

पिशाच ने तीक्ष्ण खड्ग हाथ में लिए हुए कामदेव को डराया-धमकाया और कहा कि तुम अपनी उपासना छोड़ दो, नहीं तो अभी इस तलवार से काट कर टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा। कामदेव विवेकी और साहसी पुरुष था, दृढनिष्ठ था। परीक्षा की घड़ी ही तो वह कसौटी है, जब व्यक्ति खरा या खोटा सिद्ध होता है। कामदेव की परीक्षा थी। जब कामदेव अविचल रहा तो पिशाच और अधिक क्रुद्ध हो गया। उसने दूसरी बार, तीसरी बार फिर वैसे ही कहा। पर, कामदेव पूर्ववत् दृढ एवं सुस्थिर बना रहा। तब पिशाच ने जैसा कहा था, कामदेव की देह के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। कामदेव आत्म-दृढता और धैर्य के साथ इस घोर वेदना को सह गया, चूं तक नहीं किया। यह देव-मायाजन्य था, इतना त्वरा से हुआ कि तत्काल कामदेव दैहिक दृष्टि से यथावत् हो गया।

उस देव ने कामदेव को साधना से विचलित करने के लिए और अधिक कष्ट देने का सोचा। एक उन्मत्त, दुर्दान्त हाथी का रूप बनाया। कामदेव को आकाश में उछाल देने, दांतों से बींध देने और पैरों से रौंद देने की धमकी दी। एक बार, दो बार, तीन बार यह किया। कामदेव स्थिर और दृढ रहा। तब हाथी रूपधारी देव ने कामदेव को जैसा उसने कहा था, घोर कष्ट दिया। पर, कामदेव की दृढता अविचल रही।

देव ने एक बार फिर प्रयत्न किया। वह उग्र विषधर सर्प बन गया। सर्प के रूप में उसने कामदेव को क्रूरता से उत्पीडित किया, उसकी गर्दन में तीन लपेट लगा कर छाती पर डंक मारा। पर, उसका यह प्रयत्न भी निष्फल गया। कामदेव जरा भी नहीं डिगा। परीक्षा की कसौटी पर वह खरा उतरा। विकार-हेतुओं के विद्यमान रहते हुए भी जो चलित नहीं होता, वास्तव में वही धीर है। अहिंसा हिंसा पर विजयिनी हुई। अहिंसक कामदेव से हिंसक देव ने हार मान ली। देव के मुंह से निकल पड़ा—'कामदेव! निश्चय ही तुम धन्य हो।' वह देव कामदेव के चरणों में गिर पड़ा, क्षमा मांगने लगा। उसने वह सब बताया कि सौधर्म देवलोक में उसने इन्द्र के मुंह से कामदेव की धार्मिक दृढता की प्रशंसा सुनी थी, जिसे वह सह नहीं सका। इसीलिए वह यों उपसर्ग करने आया।

उपासक कामदेव का मन उपासना में रमा था। जब उसने उपसर्ग को समाप्त हुआ जाना, तो स्वीकृत प्रतिमा का पारण—समापन किया।

शुभ संयोग ऐसा बना, भगवान् महावीर अपने जनपद-विहार के बीच चम्पा नगरी में पधार गए। कामदेव ने यह सुना तो सोचा, कितना अच्छा हो, मैं भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर, पोषध का समापन करूं। तदनुसार वह पूर्णभद्र चैत्य, जहां भगवान् विराजित थे, पहुंचा। भगवान् के दर्शन किए, अत्यन्त प्रसन्न हुआ। भगवान् तो सर्वज्ञ थे। जो कुछ घटित हुआ, जानते ही थे। उन्होंने कामदेव को सम्बोधित कर उन तीनों उपसर्गों का जिक्र किया, जिन्हें कामदेव निर्भय भाव से झेल चुका था। भगवान् ने कामदेव को सम्बोधित कर कहा—कामदेव! क्या यह सब घटित हुआ? कामदेव ने विनीत भाव से उत्तर दिया—भन्ते! ऐसा ही हुआ।

भगवान् महावीर ने कामदेव के साथ हुई इस घटना को दृष्टि में रखते हुए उपस्थित साधु-साध्वियों को सम्बोधित करते हुए कहा—एक श्रमणोपासक गृहस्थी में रहते हुए भी जब धर्माराधना

में इतनी दृढता बनाए रख सकता है तो आप सबका तो ऐसा करना कर्त्तव्य है ही। साधक को कभी कष्टों से घबराना नहीं चाहिए, उनको दृढता से झेलते रहना चाहिए। इससे साधना निर्मल और उज्ज्वल बनती है।

भगवान् की दृष्टि में कामदेव का आचरण धार्मिक दृढता के सन्दर्भ में एक प्रेरक उदाहरण था, इसलिए उन्होंने सार्वजनिक रूप में उसकी चर्चा करना उपयोगी समझा।

कामदेव ने जिज्ञासा से भगवान् से अनेक प्रश्न पूछे, समाधान प्राप्त किया, वन्दन-नमस्कार कर वापस लौट आया। पोषध का समापन किया।

कामदेव अपने को उत्तरोत्तर, अधिकाधिक साधना में जोड़ता गया। उसके परिणाम उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होते गए, भावना अध्यात्म में रमती गई। उसके उपासनामय जीवन का संक्षिप्त विवरण यों है :—

कामदेव ने बीस वर्ष तक श्रमणोपासक-धर्म का सम्यक् परिपालन किया, ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की, एक मास की अन्तिम संलेखना तथा अनशन द्वारा समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। वह सौधर्म कल्प के सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशान कोण में स्थित अरुणाभ नामक विमान में चार पल्योपम आयुस्थितिक देव हुआ।

——

द्वितीय अध्ययन : कामदेव

९१. जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव[1] संपत्तेणं सत्तमस्य अंगस्स उवासगदसाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, दोच्चस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—यावत् सिद्धि-प्राप्त भगवान् महावीर ने सातवें अंग उपासकदशा के प्रथम अध्ययन का यदि यह अर्थ—आशय प्रतिपादित किया तो भगवन् ! उन्होंने दूसरे अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया है ?

श्रमणोपासक कामदेव

९२. एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था । पुण्णभद्दे चेइए । जियसत्तू राया । कामदेवे गाहावई । भद्दा भारिया । छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, छ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं । समोसरणं । जहा आणंदो तहा निग्गओ, तहेव सावय-धम्मं पडिवज्जइ ।

सा चेव वत्तव्वया जाव[1] जेट्ठ-पुत्तं, मित्त-नाइं आपुच्छित्ता, जेणेव पोसह-साला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जहा आणंदो जाव (पोसह-सालं पमज्जइ, पमज्जित्ता उच्चार-पासवण-भूमिं पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता दब्भ-संथारयं संथरइ, संथरेत्ता दब्भ-संथारयं दुरुहइ, दुरुहित्ता पोसह-सालाए पोसहिए दब्भ-संथारोवगए) समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ।

आर्य सुधर्मा बोले— जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, चम्पा नामक नगरी थी । पूर्णभद्र नामक चैत्य था । वहां के राजा का नाम जितशत्रु था । वहां कामदेव नामक गाथापति था । उसकी पत्नी का नाम भद्रा था । गाथापति कामदेव का छः करोड़ स्वर्ण—स्वर्ण-मुद्राएं खजाने में रक्खी थीं, छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार में लगी थीं, तथा छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव—साधन-सामग्री में लगी थीं । उसके छह गोकुल थे । प्रत्येक गोकुल में दस हजार गायें थीं ।

भगवान् महावीर पधारे । समवसरण हुआ । गाथापति आनन्द की तरह गाथापति कामदेव भी अपने घर से चला—भगवान् के पास पहुंचा, श्रावक-धर्म स्वीकार किया

आगे की घटना भी वैसी ही है, जैसी आनन्द की । अपने बड़े पुत्र, मित्रों तथा जातीय जनों की अनुमति लेकर कामदेव जहां पोषध-शाला थी, वहां आया, (आकर आनन्द की तरह पोषध-शाला का प्रमार्जन किया—सफाई की, शौच एवं लघुशंका के स्थान का प्रतिलेखन किया, प्रतिलेखन कर कुश का बिछौना लगाया, उस पर स्थित हुआ । वैसा कर पोषध-शाला में पोषध

---

१. देखें सूत्र-संख्या २

२. देखें सूत्र-संख्या ६६

स्वीकार किया,) श्रमण भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप उपासना-रत होगया।

देव द्वारा पिशाच के रूप में उपसर्ग

६३. तए णं तस्स कामदेवस्स समणोवासगस्स पुव्वरत्तावरत्त-काल-समयंसि एगे देवे मायी मिच्छ-दिट्ठी अंतियं पाउब्भूए।

(तत्पश्चात् किसी समय) आधी रात के समय श्रमणोपासक कामदेव के समक्ष एक मिथ्यादृष्टि, मायावी देव प्रकट हुआ।

विवेचन

उत्कृष्ट तपश्चरण, साधना एवं धर्मानुष्ठान के सन्दर्भ में भयोत्पादक तथा मोहोत्पादक—दोनों प्रकार के विघ्न उपस्थित होते रहने का वर्णन भारतीय वाङ्मय में बहुलता से प्राप्त होता है। साधक के मन में भय उत्पन्न करने के लिए जहां राक्षसों तथा पिशाचों के क्रूर एवं नृशंस कर्मों का उल्लेख है, वहां काम व भोग की ओर आकृष्ट करने के लिए, मोहित करने के लिए वैसे वासना-प्रधान पात्र भी प्रयत्न करते देखे जाते हैं।

वैदिक वाङ्मय में ऋषियों के तप एवं यज्ञानुष्ठान में विघ्न डालने, उन्हें दूषित करने हेतु राक्षसों द्वारा उपद्रव किये जाने के वर्णन अनेक पुराण-ग्रन्थों तथा दूसरे साहित्य में प्राप्त होते हैं। दूसरी ओर सुन्दर देवांगनाओं द्वारा उन्हें मोहित कर धर्मानुष्ठान से विचलित करने के उपक्रम भी मिलते हैं।

बौद्ध वाङ्मय में भी भगवान् बुद्ध के 'मार-विजय' प्रभृति अनेक प्रसंगों में इस कोटि के वर्णन उपलब्ध हैं।

जैन साहित्य में भी ऐसे वर्णन-क्रम की अपनी परंपरा है। उत्तम, प्रशस्त धर्मोपासना को खण्डित एवं भग्न करने के लिए देव, पिशाच आदि द्वारा किये गये उपसर्गों—उपद्रवों का बड़ा सजीव एवं रोमांचक वर्णन अनेक आगम-ग्रन्थों तथा इतर साहित्य में प्राप्त होता है, जहां रौद्र, भयानक एवं बीभत्स—तीनों रस मूर्तिमान् प्रतीत होते हैं।

प्रस्तुत वर्णन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

६४. तए णं से देवे एगं महं पिसाय-रूवं विउव्वइ। तस्स णं देवस्स पिसाय-रूवस्स इमे एयारूवे वण्णा-वासे पण्णत्ते—सीसं से गो-किलिंज-संठाण-संठियं सालिभसेल्ल-सरिसा से केसा कविल-तेएणं दिप्पमाणा, महल्ल-उट्टिया-कभल्ल-संठाण-संठियं निडालं, मुगुंस-पुंछं व तस्स भुमगाओ फुग्ग-फुग्गाओ विगय-बीभच्छ-दंसणाओ, सीस-घडि-विणिग्गयाइं अच्छीणि विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, कण्णा जह सुप्प-कत्तरं चेव विगय-बीभच्छ-दंसणिज्जा, उरब्भ-पुड-संन्निभा से नासा, झुसिरा-जमल-चुल्ली-संठाण-संठिया दो वि तस्स नासा-पुडया, घोडय-पुंछं व तस्स मंसूइं कविल-कविलाइं विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, उट्ठा उट्टस्स चेव लंबा, फाल-सरिसा से दंता, जिब्भा जह सुप्प-कत्तरं चेव विगय-बीभच्छ-दंसणिज्जा, हल-कुद्दाल-संठिया से हणुया, गल्ल-कडिल्लं च तस्स खड्डं फुट्टं कविलं फरुसं

महल्लं, मुइंगाकारोवमे से खंधे, पुरवरकवाडोवमे से वच्छे, कोट्ठिया-संठाण-संठिया दो वि तस्स बाहा, निसापाहाण-संठाण-संठियाओ दो वि तस्स अग्गहत्था, निसालोढ-संठाणसंठियाओ हत्थेसु अंगुलीओ, सिप्पि-पुडगसंठिया से नक्खा, ण्हाविय-पसेवओ व्व उरंसि लंबंति दो वि तस्स थणया, पोट्टं अयकोट्ठओ व्व वट्टं, पाणकलंदसरिसा से नाही, सिक्कगसंठाणसंठिए से नेत्ते, किण्णपुड-संठाण-संठिया दो वि तस्स वसणा, जमल-कोट्ठिया-संठाण-संठिया दो वि तस्स ऊरू, अज्जुणगुट्ठं व तस्स जाणूइं कुडिलकुडिलाइं विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, जंघाओ कक्खडीओ लोमेहिं उवचियाओ, अहरीसंठाण-संठिया दो वि तस्स पाया, अहरीलोढसंठाणसंठियाओ पाएसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडसंठिया से नक्खा।

उस देव ने एक विशालकाय पिशाच का रूप धारण किया। उसका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

उस पिशाच का सिर गाय को चारा देने की (औंधी की हुई) वांस की टोकरी जैसा था। बाल धान—चावल की मंजरी के तन्तुओं के समान रूखे और मोटे थे, भूरे रंग के थे, चमकीले थे। ललाट बड़े मटके के खप्पर या ठीकरे जैसा बड़ा और उभरा हुआ था। भौंहें गिलहरी की पूंछ की तरह बिखरी हुई थीं, देखने में वड़ी विकृत—भद्दी और बीभत्स—घृणोत्पादक थीं। "मटकी" जैसी आंखें, सिर से बाहर निकली थीं, देखने में विकृत और बीभत्स थीं। कान टूटे हुए सूप—छाज के समान बड़े भद्दे और खराव दिखाई देते थे। नाक मेंढ़े की नाक की तरह थी—चपटी थी। गड्ढों जैसे दोनों नथुने ऐसे थे, मानों जुड़े हुए दो चूल्हे हों। घोड़े की पूछ जैसी उसकी मूंछें भूरी थीं, विकृत और बीभत्स लगती थीं। उसके होठ ऊंट के होठों की तरह लम्बे थे। दांत हल की लोहे की कुश जैसे थे। जीभ सूप के टुकड़े जैसी थी, देखने में विकृत तथा बीभत्स थी। ठुड्डी हल की नोक की तरह आगे निकली थी। कढ़ाही की ज्यों भीतर धंसे उसके गाल खड्डों जैसे लगते थे, फटे हुए, भूरे रंग के, कठोर तथा विकराल थे। उसके कन्धे मृदंग जैसे थे। वक्षस्थल—छाती नगर के फाटक के समान चौड़ी थी। दोनों भुजाएं कोष्ठिका—लोहा आदि धातु गलाने में काम आने वाली मिट्टी की कोठी के समान थीं। उसकी दोनों हथेलियां मूंग आदि दलने की चक्की के पाट जैसी थीं। हाथों की अंगुलियां लोढी के समान थीं। उसके नाखून सीपियों जैसे थे—तीखे और मोटे थे। दोनों स्तन नाई की उस्तरा आदि राछ डालने की चमड़े की थैली—रछानी की तरह छाती पर लटक रहे थे। पेट लोहे के कोष्ठक—कोठे के समान गोलाकार था। नाभि कपड़ों में पॉलिश देने हेतु जुलाहों द्वारा प्रयोग में ली जाने वाली मांड के बर्तन के समान गहरी थी। उसका नेत्र—लिंग छींके की तरह था—लटक-रहा था। दोनों अण्डकोष फैले हुए दो थैलों या बोरियों जैसे थे। उसकी दोनों जंघाएं एक जैसी दो कोठियों के समान थीं। उसके घुटने अर्जुन—तृण-विशेष या वृक्ष-विशेष के गुट्ठे—स्तम्ब—गुल्म या गांठ जैसे, टेढ़े, देखने में विकृत व बीभत्स थे। पिंडलियां कठोर थीं, बालों से भरी थीं। उसके दोनों पैर दाल आदि पीसंने की शिला के समान थे। पैर की अंगुलियां लोढ़ी जैसी थीं। अंगुलियों के नाखून सीपियों के सदृश थे।

९५. लडहमडहजाणुए, विगय-भग्ग-भुग्ग-भुमए, अवदालिय-वयणविवर-निल्लालियग्ग-जीहे, सरडकयमालियाए, उंदुरमाला-परिणद्धसुकय-चिंधे, नउलकयकण्णपूरे, सप्पकयवेगच्छे, अप्फोडंते, अभिगज्जंते, भीममुक्कट्टहासे, नाणाविहपंचवण्णेहिं लोमेहिं उवचिए एगं महं नीलुप्पल-

गवल-गुलिय-अयसिकुसुमप्पगासं असिं खुर-धारं गहाय, जेणेव पोसहसाला, जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आसु-रत्ते, रुट्ठे, कुविए, चंडिक्किए, मिसिमिसियमाणे कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो कामदेवा ! समणोवासया ! अपत्थियपत्थिया ! दुरंतपंत-लक्खणा ! हीण-पुण्ण-चाउद्दसिया ! हिरि-सिरि-धिइ-कित्ति-परिवज्जिया ! धम्म-कामया ! पुण्ण-कामया ! सग्गकामया ! मोक्खकामया ! धम्मकंखिया ! पुण्णकंखिया ! सग्ग-कंखिया ! मोक्खकंखिया ! धम्मपिवासिया ! पुण्णपिवासिया ! सग्गपिवासिया ! मोक्खपिवासिया ! नो खलु कप्पइ तव देवाणुप्पिया ! जं सीलाइं, वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं, पोसहोववासाइं चालित्तए वा खोभित्तए वा, खंडित्तए वा, भंजित्तए वा, उज्झित्तए वा, परिच्चइत्तए वा। तं जइ णं तुमं अज्ज सीलाइं, जाव (वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं,) पोसहोववासाइं न छड्डेसि, न भंजेसि, तो तं अहं अज्ज इमेणं नीलुप्पल-जाव (गवल-गुलिय-अयसि-कुसुमप्पगासेण, खुरधारेण) असिणा खंडाखंडिं करेमि, जहा णं तुमं देवाणुप्पिया ! अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।

उस पिशाच के घुटने मोटे एवं ओछे थे, गाड़ी के पीछे ढीले बंधे काठ की तरह लड़खड़ा रहे थे। उसकी भौंहें विकृत—बेडौल, भग्न—खण्डित, भुग्न—कुटिल या टेढ़ी थीं। उसने अपना दरार जैसा मुंह फाड़ रखा था, जीभ बाहर निकाल रक्खी थी। वह गिरगिटों की माला पहने था। चूहों की माला भी उसने धारण कर रक्खी थी, जो उसकी पहचान थी। उसके कानों में कुण्डलों के स्थान पर नेवले लटक रहे थे। उसने अपनी देह पर सांपों को दुपट्टे की तरह लपेट रक्खा था। वह भुजाओं पर अपने हाथ ठोक रहा था, गरज रहा था, भयंकर अट्टहास कर रहा था। उसका शरीर पांचों रंगों के बहुविध केशों से व्याप्त था।

वह पिशाच नीले कमल, भैंसे के सींग तथा अलसी के फूल जैसी गहरी नीली, तेज धार वाली तलवार लिये, जहां पोषधशाला थी, श्रमणोपासक कामदेव था, वहां आया। आकर अत्यन्त क्रुद्ध, रुष्ट, कुपित तथा विकराल होता हुआ, मिसमिसाहट करता हुआ—तेज सांस छोड़ता हुआ श्रमणो-पासक कामदेव से बोला—अप्रार्थित—जिसे कोई नहीं चाहता, उस मृत्यु को चाहने वाले ! दुखद अन्त तथा अशुभ लक्षणवाले, पुण्यचतुर्दशी जिस दिन हीन—असम्पूर्ण थी—घटिकाओं में अमावस्या आगई थी, उस अशुभ दिन में जन्मे हुए अभागे ! लज्जा, शोभा, धृति तथा कीर्ति से परिवर्जित ! धर्म, पुण्य, स्वर्ग और मोक्ष की कामना इच्छा एवं पिपासा—उत्कण्ठा रखने वाले ! देवानुप्रिय ! शील, व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास से विचलित होना, विक्षुभित होना, उन्हें खण्डित करना, भग्न करना, उज्झित करना—उनका त्याग करना, परित्याग करना तुम्हें नहीं कल्पता है—इनका पालन करने में तुम कृतप्रतिज्ञ हो। पर, यदि तुम आज शील, (व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान) एवं पोषधोपवास का त्याग नहीं करोगे, उन्हें नहीं तोड़ोगे तो मैं (नीले कमल, भैंसे के सींग तथा अलसी के फूल के समान गहरी नीली, तेज धारवाली) इस तलवार से तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा, जिससे हे देवानुप्रिय ! तुम आर्त ध्यान एवं विकट दुःख से पीडित होकर असमय में ही जीवन से पृथक् हो जाओगे—प्राणों से हाथ धो बैठोगे।

९६. तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं पिसाय-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे, अभीए, अतत्थे, अणुव्विग्गे, अक्खुभिए, अचलिए, असंभंते, तुसिणीए धम्म-ज्झाणोवगए विहरइ।

उस पिशाच द्वारा यों कहे जाने पर भी श्रमणोपासक कामदेव भीत, त्रस्त, उद्विग्न, क्षुभित एवं विचलित नहीं हुआ; घबराया नहीं। वह चुपचाप—शान्त भाव से धर्म-ध्यान में स्थित रहा।

९७. तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं, जाव (अतत्थं, अणुव्विग्ग, अखुभियं, अचलियं, असंभंतं, तुसिणीयं), धम्म-ज्झाणोवगयं विहरमाणं पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चं पि कामदेवं एवं वयासी—हं भो! कामदेवा! समणोवासया! अपत्थिय-पत्थिया! जइ णं तुमं अज्ज जाव (सीलाइं, वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं, पोसहोववासाइं न छड्डेसि, न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज इमेणं नीलुप्पल-गवल-गुलिय-अयसि-कुसुम-प्पगासेण खुरधारेण असिणा खंडाखंडि करेमि, जहा णं तुमं देवाणुप्पिया! अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि।

पिशाच का रूप धारण किये हुए देव ने श्रमणोपासक कामदेव को यों निर्भय (त्रास, उद्वेग तथा क्षोभ रहित, अविचल, अनाकुल एवं शान्त) भाव से धर्म-ध्यान में निरत देखा। तब उसने दूसरी बार, तीसरी बार फिर कहा—मौत को चाहने वाले श्रमणोपासक कामदेव! आज (यदि तुम शील, व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास को नहीं छोड़ोगे, नहीं तोड़ोगे तो नीले कमल, भैंसे के सींग तथा अलसी के फूल के समान गहरी नीली, तेज धार वाली इस तलवार से तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा, जिससे हे देवानुप्रिय! तुम आर्त ध्यान एवं विकट दुःख से पीडित होकर असमय में ही) प्राणों से हाथ धो बैठोगे।

९८. तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे, अभीए जाव (अतत्थे, अणुव्विग्गे, अक्खुभिए, अचलिए, असंभंते, तुसिणीए) धम्म-ज्झाणोवगए विहरइ।

श्रमणोपासक कामदेव उस देव द्वारा दूसरी बार, तीसरी बार यों कहे जाने पर भी अभीत (अत्रस्त, अनुद्विग्न, अक्षुभित, अविचलित, अनाकुल एवं शान्त) रहा, अपने धर्मध्यान में उपगत—संलग्न रहा।

९९. तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव[1] विहरमाणं पासइ, पासित्ता आसुरत्ते ४ ति-वलियं भिउडिं निडाले साहट्टु, कामदेवं समणोवासयं नीलुप्पल जाव[2] असिणा खंडाखंडि करेइ।

जब पिशाच रूप धारी उस देव ने श्रमणोपासक कामदेव को निर्भय भाव से उपासना-रत देखा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ, उसके ललाट में त्रिबलिक—तीन बल चढ़ी भृकुटि तन गई। उसने तलवार से कामदेव पर वार किया और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

१००. तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं, जाव (विउलं, कक्कसं, पगाढं, चंडं, दुक्खं,) दुरहियासं वेयणं सम्मं सहइ, जाव (खमइ, तितिक्खइ,) अहियासेइ।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ९७

२. देखें सूत्र-संख्या ९५

श्रमणोपासक कामदेव ने उस तीव्र (विपुल—अत्यधिक, कर्कश—कठोर, प्रगाढ, रौद्र, कष्टप्रद) तथा दुःसह वेदना को सहनशीलता (क्षमा और तितिक्षा) पूर्वक झेला।

हाथी के रूप में उपसर्ग

१०१. तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव[1] विहरमाणं पासइ, पासित्ता जाहे नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा, खोभित्तए वा, विपरिणामित्तए वा, ताहे संते, तंते, परितंते सणियं सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता, पोसह-सालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं पिसाय-रूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं हत्थि-रूवं विउव्वइ, सत्तंग-पइट्ठियं, सम्मं संठियं, सुजायं, पुरओ उदग्गं, पिट्ठओ वराहं, अया-कुच्छिं, अलंब-कुच्छिं, पलंब-लंबोदराधर-करं, अब्भुग्गय-मउल-मल्लिया-विमल-धवल-दंतं, कंचणकोसी-पविट्ठ-दंतं, आणामिय-चाव-ललिय-संवल्लियग्ग-सोण्डं, कुम्म-पडिपुण्ण-चलणं, वीसइ-नक्खं अल्लीण-पमाण-जुत्तपुच्छं, मत्तं मेहमिव गुलगुलेन्तं मण-पवण-जइणवेगं दिव्वं हत्थिरूवं विउव्वइ।

जब पिशाच रूप धारी देव ने देखा, श्रमणोपासक कामदेव निर्भीक भाव से उपासना में रत है, वह श्रमणोपासक कामदेव को निर्ग्रन्थ प्रवचन—जिन-धर्म से विचलित, क्षुभित, विपरिणामित—विपरीत परिणाम युक्त नहीं कर सका है, उसके मनोभावों को नहीं बदल सका है, तो वह श्रान्त, क्लान्त और खिन्न होकर धीरे-धीरे पीछे हटा। पीछे हटकर पोषधशाला से बाहर निकला। बाहर निकल कर देवमायाजन्य (विक्रिया-विनिर्मित) पिशाच-रूप का त्याग किया। वैसा कर एक विशालकाय, देवमाया-प्रसूत हाथी का रूप धारण किया। वह हाथी सुपुष्ट सात अंगों (चार पैर, सूंड, जननेन्द्रिय और पूंछ) से युक्त था। उसकी देह-रचना सुन्दर और सुगठित थी। वह आगे से उदग्र—ऊंचा या उभरा हुआ था, पीछे से सूअर के समान झुका हुआ था। उसकी कुक्षि—जठर बकरी की कुक्षि की तरह सटी हुई थी। उसका नीचे का होठ और सूंड लम्बे थे। मुंह से बाहर निकले हुए दांत बेले की अधखिली कली के सदृश उजले और सफेद थे। वे सोने की म्यान में प्रविष्ट थे अर्थात् उन पर सोने की खोल चढ़ी थी। उसकी सूंड का अगला भाग कुछ खींचे हुए धनुष की तरह सुन्दर रूप में मुड़ा हुआ था। उसके पैर कछुए के समान प्रतिपूर्ण—परिपुष्ट और चपटे थे। उसके बीस नाखून थे। उसकी पूंछ देह से सटी हुई—सुन्दर तथा प्रमाणोपेत—समुचित लम्बाई आदि आकार लिए हुए थी। वह हाथी मद से उन्मत्त था। बादल की तरह गरज रहा था। उसका वेग मन और पवन के वेग को जीतने वाला था।

१०२. विउव्वित्ता जेणेव पोसह-साला, जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो! कामदेवा! समणोवासया! तहेव भणइ जाव (जइ णं तुमं अज्ज सीलाइं, वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं पोसहोववासाइं न छड्डेसि,) न भंजेसि, तो ते अज्ज अहं सोंडाए गिण्हामि, गिण्हित्ता पोसह-सालाओ नीणेमि, नीणित्ता उड्ढं वेहासं उव्विहामि, उव्विहित्ता तिक्खेहिं दंत-मुसलेहिं पडिच्छामि, पडिच्छित्ता अहे धरणि-तलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेमि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।

---

१. देखें सूत्र संख्या ९७

ऐसे हाथी के रूप की विक्रिया करके पूर्वोक्त देव जहां पोषधशाला थी, जहां श्रमणोपासक कामदेव था, वहां आया। आकर श्रमणोपासक कामदेव से पूर्व वर्णित पिशाच की तरह बोला—यदि तुम अपने व्रतों का (शील, व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान एवं पोषधोपवास का त्याग नहीं करते हो,) भंग नहीं करते हो तो मैं तुमको अपनी सूंड से पकड़ लूंगा। पकड़ कर पोषधशाला से बाहर ले जाऊंगा। बाहर ले जा कर ऊपर आकाश में उछालूंगा। उछाल कर अपने तीखे और मूसल जैसे दांतों से झेलूंगा। झेल कर नीचे पृथ्वी पर तीन बार पैरों से रौंदूंगा, जिससे तुम आर्त ध्यान और विकट दुःख से पीडित होते हुए असमय में ही जीवन से पृथक् हो जाओगे—मर जाओगे।

१०३. तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं हत्थि-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे, अभीए जाव[1] विहरइ।

हाथी का रूप धारण किए हुए देव द्वारा यों कहे जाने पर भी श्रमणोपासक कामदेव निर्भय भाव से उपासना-रत रहा।

१०४, तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव[2] विहरमाणं पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो! कामदेवा! तहेव जाव[3] सो वि विहरइ।

हस्तीरूपधारी देव ने जब श्रमणोपासक कामदेव को निर्भीकता से अपनी उपासना में निरत देखा, तो उसने दूसरी बार, तीसरी बार फिर श्रमणोपासक कामदेव को वैसा ही कहा, जैसा पहले कहा था। पर, श्रमणोपासक कामदेव पूर्ववत् निर्भीकता से अपनी उपासना में निरत रहा।

१०५. तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं ससणोवासयं अभीयं जाव[4] विहरमाणं पासइ, पासित्ता आसुरत्ते ४ कामदेवं समणोवासयं सोंडाए गिण्हेइ, गेण्हेत्ता उड्ढं वेहासं उव्विहइ, उव्विहित्ता तिक्खेहिं दंत-मुसलेहिं पडिच्छइ, पडिच्छेत्ता अहे धरणि-तलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेइ।

हस्तीरूपधारी उस देव ने जब श्रमणोपासक कामदेव को निर्भीकता से उपासना में लीन देखा तो अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपनी सूंड से उसको पकड़ा। पकड़कर आकाश में ऊंचा उछाला। उछालकर फिर नीचे गिरते हुए को अपने तीखे और मूसल जैसे दांतों से झेला और झेल कर नीचे जमीन पर तीन बार पैरों से रौंदा।

१०६. तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव (विउयं, कक्कसं, पगाढं, चंडं, दुक्खं, दुरहियासं वेयणं सम्मं सहइ, खमइ, तितिक्खइ,) अहियासेइ।

श्रमणोपासक कामदेव ने (सहनशीलता, क्षमा एवं तितिक्षापूर्वक तीव्र, विपुल, कठोर, प्रगाढ, रौद्र तथा कष्टप्रद) वेदना झेली।

१. देखें सूत्र-संख्या ९८
२. देखें सूत्र-संख्या ९७
३. देखें सूत्र-संख्या ९८
४. देखें सूत्र-संख्या ९७

सर्प के रूप में उपसर्ग

१०७. तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं जाहे नो संचाएइ जाव (निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा, खोभित्तए वा, विपरिणामित्तए वा, ताहे संते, तंते, परितंते) सणियं-सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता पोसह-सालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं हत्थि-रूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं सप्प-रूवं विउव्वइ, उग्ग-विसं, चंड-विसं, घोर-विसं, महाकायं, मसी-मूसा-कालगं, नयण-विस-रोस-पुण्णं, अंजण-पुंज-निगरप्पगासं, रत्तच्छं लोहिय-लोयणं, जमल-जुयल-चंचल-जीहं, धरणीयल-वेणीभूयं, उक्कड-फुड-कुडिल-जडिल-कक्कस-वियड-फुडाडोव-करण-दच्छं, लोहागर-धम्ममाण-धमधमेंतघोसं, अणागलिय-तिव्व-चंड-रोसं सप्प-रूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता जेणेव पोसह-साला जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो ! कामदेवा ! समणोवासया ! जाव (सीलाइं वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं, पोसहोववासाइं न छड्डेसि,) न भंजेसि, तो ते अज्जेव अहं सरसरस्स कायं दुरुहामि, दुरुहित्ता पच्छिमेणं भाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेमि, वेढित्ता तिक्खाहिं विस-परिगयाहिं दाढाहिं उरंसि चेव निकुट्टेमि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।

जब हस्तीरूपधारी देव श्रमणोपासक कामदेव को निर्ग्रन्थ-प्रवचन से विचलित, क्षुभित तथा विपरिणामित नहीं कर सका, तो वह श्रान्त, क्लान्त और खिन्न होकर धीरे-धीरे पीछे हटा। पीछे हट कर पोषधशाला से बाहर निकला। बाहर निकल कर विक्रियाजन्य हस्ति-रूप का त्याग किया। वैसा कर दिव्य, विकराल सर्प का रूप धारण किया।

वह सर्प उग्रविष, प्रचण्डविष, घोरविष और विशालकाय था। वह स्याही और मूस-धातु गलाने के पात्र जैसा काला था। उसके नेत्रों में विष और क्रोध भरा था। वह काजल के ढेर जैसा लगता था। उसकी आंखें लाल-लाल थीं। उसकी दुहरी जीभ चंचल थी—बाहर लपलपा रही थी। कालेपन के कारण वह पृथ्वी (पृथ्वी रूपी नारी) की वेणी—चोटी जैसा लगता था। वह अपना उत्कट—उग्र, स्फुट—देदीप्यमान, कुटिल—टेढ़ा, जटिल=मोटा, कर्कश—कठोर, विकट—भयंकर फन फैलाए हुए था। लुहार की धौंकनी की तरह वह फुंकार कर रहा था। उसका प्रचण्ड क्रोध रोके नहीं रुकता था।

वह सर्प रूप धारी देव जहां पोषधशाला थी, जहां श्रमणोपासक कामदेव था, वहां आया। आकर श्रमणोपासक कामदेव से बोला—अरे कामदेव ! यदि तुम शील, व्रत (विरमण, प्रत्याख्यान, पोषधोपवास का त्याग नहीं करते हो,) भंग नहीं करते हो, तो मैं अभी सर्राट करता हुआ तुम्हारे शरीर पर चढूंगा। चढ़ कर पिछले भाग से—पूंछ की ओर से तुम्हारे गले में तीन लपेट लगाऊंगा। लपेट लगाकर अपने तीखे, जहरीले दांतों से तुम्हारी छाती पर डंक मारूंगा, जिससे तुम आर्त ध्यान और विकट दुःख से पीडित होते हुए असमय में ही जीवन से पृथक् हो जाओगे—मर जाओगे।

१०८. तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं सप्प-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[1] विहरइ। सो वि दोच्चंपि तच्चंपि भणइ. कामदेवो वि जाव[2] विहरइ।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ९८

२. देखें सूत्र-संख्या ९८

सर्परूपधारी उस देव द्वारा यों कहे जाने पर भी कामदेव निर्भीकता से उपासनारत रहा। देव ने दूसरी बार फिर तीसरी बार भी वैसा ही कहा, पर कामदेव पूर्ववत् उपासना में लगा रहा।

१०९. तए णं से देवे सप्परूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव[1] पासइ, पासित्ता आसुरत्ते ४ कामदेवस्स सरसरस्स कायं दुरुहइ, दुरुहित्ता पच्छिम-भाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेइ, वेढित्ता तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं उरंसि चेव निकुट्टेइ।

सर्परूपधारी देव ने जब श्रमणोपासक कामदेव को निर्भय देखा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर सर्राटे के साथ उसके शरीर पर चढ़ गया। चढ़ कर पिछले भाग से उसके गले में तीन लपेट लगा दिए। लपेट लगाकर अपने तीखे, जहरीले दांतों से उसकी छाती पर डंक मारा।

११०. तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव[2] अहियासेइ।

श्रमणोपासक कामदेव ने उस तीव्र वेदना को सहनशीलता के साथ झेला।

देव का पराभव : हिंसा पर अहिंसा की विजय

१११. तए णं से देवे सप्प-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव[3] पासइ, पासित्ता जाहे नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा ताहे संते[3] सणियं-सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता पोसह-सालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं सप्प-रूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं देव-रूवं विउव्वइ।

हार-विराइय-वच्छं जाव (कडग-तुडिय-थंभिय-भुयं, अंगय-कुंडल-मट्ठ-गंडकण्णपीढ-धारिं, विचित्तहत्थाभरणं, विचित्तमाला-मउलि-मउडं, कल्लाणग-पवरवत्थ-परिहियं, कल्लाणग-पवर-मल्लाणुलेवणं, भासुर-बोंदि, पलंब-वणमालधरं, दिव्वेणं वण्णेणं, दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं रूवेणं, दिव्वेणं फासेणं, दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, दिव्वाए जुईए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेसाए) दस दिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं, पासाईयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं दिव्वं देवरूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता कामदेवस्स समणोवासयस्स पोसह-सालं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता अंतलिक्ख-पडिवन्ने सखिखिणियाइं पंच-वण्णाइं वत्थाइं पवर-परिहिए कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो ! कामदेवा समणोवासया ! धन्नेसि णं तुमं, देवाणुप्पिया ! संपुण्णे, कयत्थे, कयलक्खणे, सुलद्धे णं तव देवाणुप्पिया ! माणुस्सए जम्मजीवियफले, जस्स णं तव निग्गंथे पावयणे इमेयारूवा पडिवत्ती लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया।

एवं खलु देवाणुप्पिया ! सक्के, देविंदे, देव-राया जाव (वज्जपाणी, पुरंदरे, सयक्कऊ, सहस्सक्खे, मघवं, पागसासणे, दाहिणड्ढलोगाहिवई, बत्तीस-विमाण-सय-सहस्साहिवई, एरावणवाहणे, सुरिंदे, अरयंबर-वत्थधरे, आलइय-मालमउडे, नव-हेम-चारु-चित्त-चंचल-कुंडल-विलिहिज्जमाणगंडे, भासुरबोंदी, पलंब-वणमाले, सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडेंसए विमाणे सभाए सुहम्माए) सक्कंसि

१. देखें सूत्र-संख्या ९७

२. देखें सूत्र-संख्या १०६

३. देखें सूत्र—संख्या ९७

सीहासणंसि चउरासीईए सामाणिय-साहस्सीणं जाव (तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं, चउण्हं लोगपालाणं, अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवईणं, चउण्हं चउरासीणं आयरक्ख-देवसाहस्सीणं) अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य मज्झगए एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ—एवं खलु देवा ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चम्पाए नयरीए कामदेवे समणोवासए पोसह-सालाए पोसहिए बंभयारी जाव (उम्मुक्क-मणि-सुवण्णे, ववगय-माला-वण्णग-विलेवणे, निक्खित्त-सत्थ-मुसले, एगे, अबीए) दब्भ-संथारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। नो खलु से सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा जाव (जक्खेण वा, रक्खसेण वा, किन्नरेण वा, किंपुरिसेण वा, महोरगेण वा) गंधव्वेण वा निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा।

तए णं अहं सक्कस्स देविंदस्स देव-रण्णो एयमट्ठं असद्दहमाणे, अपत्तियमाणे, अरोएमाणे इहं हव्वमागए। तं अहो णं, देवाणुप्पिया ! इड्ढी, जुई, जसो, बलं, वीरियं, पुरिसक्कार-परक्कमे लद्धे, पत्ते, अभिसमण्णागए। तं दिट्ठा णं देवाणुप्पिया ! इड्ढी जाव (जुई, जसो, बलं, वीरियं, पुरिसक्कार-परक्कमे लद्धे, पत्ते,) अभिसमण्णागए। तं खामेमि णं, देवाणुप्पिया ! खमंतु मज्झ देवाणुप्पिया ! खंतुमरहंति णं देवाणुप्पिया ! नाइं भुज्जो करणयाए त्ति कट्टु पाय-वडिए, पंजलि-उडे एयमट्ठं भुज्जो भुज्जो खामेइ, खामित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए।

सर्परूपधारी देव ने जब देखा—श्रमणोपासक कामदेव निर्भय है, वह उसे निर्ग्रन्थ—प्रवचन से विचलित, क्षुभित एवं विपरिणामित नहीं कर सका है तो श्रान्त, क्लान्त और खिन्न होकर वह धीरे-धीरे पीछे हटा। पीछे हटकर पोषध-शाला से बाहर निकला। बाहर निकल कर देव-माया-जनित सर्प-रूप का त्याग किया। वैसा कर उसने उत्तम, दिव्य देव-रूप धारण किया।

उस देव के वक्षस्थल पर हार सुशोभित हो रहा था। (वह अपनी भुजाओं पर कंकण तथा बाहुरक्षिका—भुजाओं को सुस्थिर बनाए रखनेवाली आभरणात्मक पट्टी, अंगद—भुजबन्ध धारण किए था। उसके मृष्ट—केसर, कस्तूरी आदि से मण्डित—चित्रित कपोलों पर कर्ण-भूषण, कुण्डल शोभित थे। वह विचित्र—विशिष्ट या अनेकविध हस्ताभरण—हाथों के आभूषण धारण किए था। उसके मस्तक पर तरह-तरह की मालाओं से युक्त मुकुट था। वह कल्याणकृत्—मांगलिक, अनुपहत या अखण्डित प्रवर—उत्तम पोशाक पहने था। वह मांगलिक तथा उत्तम मालाओं एवं अनुलेपन—चन्दन, केसर आदि के विलेपन से युक्त था। उसका शरीर देदीप्यमान था। सभी ऋतुओं के फूलों से बनी माला उसके गले से घुटनों तक लटकती थी। उसने दिव्य—देवोचित वर्ण, गन्ध, रूप, स्पर्श, संघात—दैहिक गठन, संस्थान—दैहिक अवस्थिति, ऋद्धि—विमान, वस्त्र, आभूषण आदि दैविक समृद्धि, द्युति—आभा अथवा युक्ति—इष्ट परिवारादि योग, प्रभा, कान्ति, अर्चि—दीप्ति, तेज, लेश्या—आत्म-परिणति—तदनुरूप भामंडल से दसों दिशाओं को उद्योतित—प्रकाशयुक्त, प्रभासित—प्रभा या शोभा युक्त करते हुए, प्रसादित—प्रसाद या आह्लाद युक्त, दर्शनीय, अभिरूप—मनोज्ञ—मन को अपने में रमा लेनेवाला, प्रतिरूप—मन में बस जाने बाला दिव्य देवरूप धारण किया। वैसा कर,) श्रमणोपासक कामदेव की पोषधशाला में प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर आकाश

में अवस्थित हो छोटी-छोटी घण्टिकाओं से युक्त पांच[1] वर्णों के उत्तम वस्त्र धारण किए हुए वह श्रमणोपासक कामदेव से यों बोला—श्रमणोपासक कामदेव ! देवानुप्रिय ! तुम धन्य हो, पुण्यशाली हो, कृत-कृत्य हो, कृतलक्षण—शुभलक्षण वाले हो। देवानुप्रिय ! तुम्हें निर्ग्रन्थ-प्रवचन में ऐसी प्रतिपत्ति—विश्वास—आस्था सुलब्ध है, सुप्राप्त है, स्वायत्त है, निश्चय ही तुमने मनुष्य-जन्म और जीवन का सुफल प्राप्त कर लिया।

देवानुप्रिय ! बात यों हुई—शक्र—शक्तिशाली, देवेन्द्र—देवों के परम ईश्वर—स्वामी, देवराज—देवों में सुशोभित, (वज्रपाणि—हाथ में वज्र धारण किए, पुरन्दर—पुर—असुरों के नगरविशेष के दारक—विध्वंसक, शतक्रतु—पूर्वजन्म में कार्तिक श्रेष्ठी के भव में सौ बार विशिष्ट अभिग्रहों के परिपालक, सहस्राक्ष—हजार आंखों वाले—अपने पांच सौ मन्त्रियों की अपेक्षा हजार आंखों वाले, मघवा—मेघों—बादलों के नियन्ता, पाकशासन—पाकनामक शत्रु के नाशक, दक्षिणार्द्ध-लोकाधिपति—लोक के दक्षिण भाग के स्वामी, बत्तीस लाख विमानों के अधिपति, ऐरावत नामक हाथी पर सवारी करने वाले, सुरेन्द्र—देवताओं के प्रभु, आकाश की तरह निर्मल वस्त्रधारी, मालाओं से युक्त मुकुट धारण किए हुए, उज्ज्वल स्वर्ण के सुन्दर, चित्रित, चंचल—हिलते हुए कुंडलों से जिनके कपोल सुशोभित थे, देदीप्यमान शरीरधारी, लम्बी पुष्पमाला पहने हुए इन्द्र ने सौधर्म कल्प के अन्तर्गत सौधर्मावतंसक विमान में, सुधर्मा सभा में) इन्द्रासन पर स्थित होते हुए चौरासी हजार सामानिक देवों (तेतीस गुरुस्थानीय त्रायस्त्रिंश देवों, चार लोकपाल, परिवार सहित आठ अग्र-महिषियों—प्रमुख इंद्राणियों, तीन परिषदों, सात अनीकों—सेनाओं, सात अनीकाधिपतियों—सेनापतियों, तीन लाख छत्तीस हजार अंगरक्षक देवों और तथा बहुत से अन्य देवों और देवियों के बीच यों आख्यात, भाषित, प्रज्ञप्त या प्ररूपित किया—कहा।

देवो ! जम्बू द्वीप के अन्तर्गत भरत क्षेत्र में, चंपा नगरी में श्रमणोपासक कामदेव पोषधशाला में पोषध स्वीकार किए, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ (मणि-रत्न, सुवर्ण माला, वर्णक—सज्जा-हेतु मंडन—आलेखन एवं चन्दन, केसर आदि के विलेपन का त्याग किए हुए, शस्त्र, दण्ड आदि से रहित, एकाकी, अद्वितीय—बिना किसी दूसरे को साथ लिए) कुश के बिछौने पर अवस्थित हुआ श्रमण भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति के अनुरूप उपासनारत है। कोई देव, दानव (यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग), गन्धर्व द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रवचन से वह विचलित, क्षुभित तथा विपरिणामित नहीं किया जा सकता।

शक्र, देवेन्द्र, देवराज के इस कथन में मुझे श्रद्धा, प्रतीति—विश्वास नहीं हुआ। वह मुझे अरुचिकर लगा। मैं शीघ्र यहां आया। देवानुप्रिय ! जो ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य, पुरुषोचित पराक्रम तुम्हें उपलब्ध—प्राप्त तथा अभिसमन्वागत—अधिगत है, वह सब मैंने देखा। देवानुप्रिय ! मैं तुमसे क्षमा-याचना करता हूं। देवानुप्रिय ! मुझे क्षमा करो। देवानुप्रिय ! आप क्षमा करने में समर्थ हैं। मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूंगा। यों कहकर पैरों में पड़कर, उसने हाथ जोड़कर बार-बार क्षमा-याचना की। क्षमा-याचना कर, जिस दिशा से आया था, उसी दिशा की ओर चला गया।

---

१. श्वेत. पीत. रक्त. नील. कृष्ण।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में देव द्वारा पिशाच, हाथी तथा सर्प का रूप धारण करने के प्रसंग में 'विकुव्वइ'—विक्रिया या विकुर्वणा करना—क्रिया का प्रयोग है, जो उसकी देव-जन्मलभ्य वैक्रिय देह का सूचक है।

इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है—जैन-दर्शन में औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण—ये पांच प्रकार के शरीर माने गए हैं। वैक्रिय शरीर दो प्रकार का होता है—औपपातिक और लब्धि-प्रत्यय। औपपातिक वैक्रिय शरीर देव-योनि और नरक-योनि में जन्म से ही प्राप्त होता है। पूर्व-संचित कर्मों का ऐसा योग वहां होता है, जिसकी फल-निष्पत्ति इस रूप में जन्म-जात होती है। लब्धि-प्रत्यय वैक्रिय शरीर तपश्चरण आदि द्वारा प्राप्त लब्धि-विशेष से मिलता है। यह मनुष्य-योनि एवं तिर्यञ्च योनि में होता है।

वैक्रिय शरीर में अस्थि, मज्जा, मांस, रक्त आदि अशुचि-पदार्थ नहीं होते। एतद्वर्जित इष्ट, कान्त, मनोज्ञ, प्रिय एवं श्रेष्ठ पुद्गल देह के रूप में परिणत होते हैं। मृत्यु के बाद वैक्रिय-देह का शव नहीं बचता। उसके पुद्गल कपूर की तरह उड़ जाते हैं। जैसा कि वैक्रिय शब्द से प्रकट है—इस शरीर द्वारा विविध प्रकार की विक्रियाएं—विशिष्ट क्रियाएं की जा सकती हैं, जैसे—एक रूप होकर अनेक रूप धारण करना, अनेक रूप होकर एक रूप धारण करना, छोटी देह को बड़ी बनाना, बड़ी को छोटी बनाना, पृथ्वी एवं आकाश में चलने योग्य विविध प्रकार के शरीर धारण करना, अदृश्य रूप बनाना इत्यादि।

सौधर्म आदि देवलोकों के देव एक, अनेक, संख्यात, असंख्यात, स्व-सदृश, विसदृश सब प्रकार की विक्रियाएं या विकुर्वणाएं करने में सक्षम होते हैं। वे इन विकुर्वणाओं के अन्तर्गत एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सब प्रकार के रूप धारण कर सकते हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में श्रमणोपासक कामदेव को कष्ट देने के लिए देव ने विभिन्न रूप धारण किए। यह उसके उत्तर वैक्रिय रूप थे, अर्थात् मूल वैक्रिय शरीर के आधार पर बनाए गए वैक्रिय शरीर थे।

श्रमणोपासक कामदेव को पीडित करने के लिए देव ने क्यों इतने उपद्रव किए, इसका समाधान इसी सूत्र में है। वह देव मिथ्यादृष्टि था। मिथ्यात्वी होते हुए भी पूर्व जन्म में अपने द्वारा किए गए तपश्चरण से देव-योनि तो उसे प्राप्त हो सकी, पर मिथ्यात्व के कारण निर्ग्रन्थ-प्रवचन या जिन-धर्म के प्रति उसमें जो अश्रद्धा थी, वह देव होने पर भी विद्यमान रही। इन्द्र के मुख से कामदेव की प्रशंसा सुन कर तथा, उत्कट धर्मोपासना में कामदेव को तन्मय देख उसका विद्वेष भभक उठा, जिसका परिणाम कामदेव को निर्ग्रन्थ-प्रवचन से विचलित करने के लिए क्रूर तथा उग्र कष्ट देने के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

पिशाचरूपधर देव द्वारा तेज तलवार से कामदेव के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए, कामदेव अपनी उपासना से नहीं हटा। तब देव ने दुर्दान्त, विकराल हाथी का रूप धारण कर उसे आकाश में उछाला, दांतों से झेला, पैरों से रौंदा। उसके बाद भयावह सर्प के रूप में उसे उत्पीडित किया। यह सब कैसे संभव हो सका? देह के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाने पर कामदेव इस

योग्य कैसे रहा कि उसे आकाश में फेंका जा सके, रौंदा जा सके, कुचला जा सके। यहां ऐसी बात है—वह मिथ्यात्वी देव कामदेव को घोर कष्ट देना चाहता था, ताकि कामदेव अपना धर्म छोड़ दे। अथवा उसकी धार्मिक दृढता की परीक्षा करना चाहता था। उसे मारना नहीं चाहता था। वैक्रिय-लब्धिधारी देवों की यह विशेषता होती है, वे देह के पुद्गलों को जिस त्वरा से विच्छिन्न करते हैं—काट डालते हैं, तोड़-फोड़ कर देते हैं, उसी त्वरा से तत्काल उन्हें यथावत् संयोजित भी कर सकते हैं। यह सब इतनी शीघ्रता से होता है कि आक्रान्त व्यक्ति को घोर पीडा का तो अनुभव होता है, यह भी अनुभव होता है कि वह काट डाला गया है, पर देह के पुद्गलों की विच्छिन्नता या पृथक्ता की दशा अत्यन्त अल्पकालिक होती है। इसलिए स्थूल रूप में शरीर वैसा का वैसा स्थित प्रतीत होता है। कामदेव के साथ ऐसा ही घटित हुआ।

कामदेव ने घोर कष्ट सहे, पर वह धर्म से विचलित नहीं हुआ। तब देव अपने मूल रूप में उपस्थित हुआ और उसने वह सब कहा, जिससे विद्वेषवश कामदेव को कष्ट देने हेतु वह दुष्प्रेरित हुआ था। वहां इन्द्र तथा उसके देव-परिवार के वर्णन में तीन परिषदें, आठ पटरानियों के परिवार, सात सेनाएं आदि का उल्लेख है, जिनका विस्तार इस प्रकार है—

सौधर्म देवलोक के अधिपति शक्रेन्द्र की तीन परिषदें होती हैं—शमिता—आभ्यन्तर, चण्डा—मध्यम तथा जाता—बाह्य। आभ्यन्तर परिषद् में बारह हजार देव और सात सौ देवियां, मध्यम परिषद् में चौदह हजार देव और छह सौ देवियां तथा बाह्य परिषद् में सोलह हजार देव और पांच सौ देवियां होती हैं। आभ्यन्तर परिषद् में देवों की स्थिति पांच पल्योपम, देवियों की स्थिति तीन पल्योपम, मध्यम परिषद् में देवों की स्थिति चार पल्योपम, देबियों की स्थिति दो पल्योपम तथा बाह्य परिषद् में देवों की स्थिति तीन पल्योपम देवियों की स्थिति एक पल्योपम होती है।

अग्रमहिषी-परिवार—प्रत्येक अग्रमहिषी—पटरानी के परिवार में पांच हजार देवियां होती हैं। यों इन्द्र के अन्तःपुर में चालीस हजार देवियों का परिवार माना जाता है।

सेनाएं—हाथी, घोड़े, बैल, रथ तथा पैदल—ये पाँच सेनाएं लड़ने हेतु होती है तथा दो सेनाएं—गन्धर्वानीक—गाने-बजाने वालों का दल और नाट्यानीक-नाटक करने वालों का दल—आमोद-प्रमोदपूर्वक तदर्थ उत्साह बढ़ाने हेतु होती हैं।

इस सूत्र में शतक्रतु तथा सहस्राक्ष आदि इन्द्र के कुछ ऐसे नाम आए हैं, जो वैदिक परम्परा में भी विशेष प्रसिद्ध हैं। जैनपरम्परा के अनुसार इन नामों का कारण एवं इनकी सार्थकता पहले अर्थ में बतलायी जा चुकी है। वैदिक परम्परा के अनुसार इन नामों का कारण दूसरा है। वह इस प्रकार है :—

शतक्रतु—क्रतु का अर्थ यज्ञ है। सौ यज्ञ सम्पूर्ण रूप में सम्पन्न कर लेने पर इन्द्र-पद प्राप्त होता है, वैदिक परम्परा में ऐसी मान्यता है। अतः शतक्रतु सौ यज्ञ पूरे कर इन्द्र पद पाने के अर्थ में प्रचलित है।

सहस्राक्ष—इसका शाब्दिक अर्थ हजार नेत्रवाला है। इन्द्र का यह नाम पड़ने के पीछे एक पौराणिक कथा बहुत प्रसिद्ध है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में उल्लेख है—इन्द्र एक बार मन्दाकिनी के तट पर स्नान करने गया। वहाँ उसने गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या को नहाते देखा। इन्द्र की बुद्धि

कामावेश से भ्रष्ट हो गई। उसने देव-माया से गौतम ऋषि का रूप बना लिया और अहल्या का शील-भंग किया। इसी बीच गौतम वहाँ पहुंच गए। वे इन्द्र पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए, उसे फटकारते हुए कहने लगे—तुम तो देवताओं में श्रेष्ठ समझे जाते हो, ज्ञानी कहे जाते हो। पर, वास्तव में तुम नीच, अधम, पतित और पापी हो, योनि-लम्पट हो। इन्द्र की निन्दनीय योनि-लम्पटता जगत् के समक्ष प्रकट रहे, इसलिए गौतम ने उसकी देह पर सहस्र योनियां बन जाने का शाप दे डाला। तत्काल इन्द्र की देह पर हजार योनियां उद्भूत हो गईं। इन्द्र घबरा गया, ऋषि के चरणों में गिर पड़ा। बहुत अनुनय-विनय करने पर ऋषि ने इन्द्र से कहा—पूरे एक वर्ष तक तुम्हें इस घृणित रूप का कष्ट झेलना ही होगा। तुम प्रतिक्षण योनि की दुर्गन्ध में रहोगे। तदनन्तर सूर्य की आराधना से ये सहस्र योनियां नेत्र रूप में परिणत हो जायेंगी—तुम सहस्राक्ष—हजार नेत्रों वाले बन जाओगे। आगे चल कर वैसा ही हुआ, एक वर्ष तक वैसा जघन्य जीवन बिताने के बाद इन्द्र सूर्य की आराधना से सहस्राक्ष बन गया।[1]

११२. तए णं से कामदेवे समणोवासए निरुवसग्गं इइ कट्टु पडिमं पारेइ।

तब श्रमणोपासक कामदेव ने यह जानकर कि अब उपसर्ग—विघ्न नहीं रहा है, अपनी प्रतिमा का पारण—समापन किया।

भगवान् महावीर का पदार्पण : कामदेव द्वारा वन्दन-नमन

११३. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव (जेणेव चंपा नयरी, जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे) विहरइ।

उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर (जहां चंपा नगरी थी, पूर्णभद्र चैत्य था, पधारे, यथोचित स्थान ग्रहण किया, संयम एवं तप से) आत्मा को भावित करते हुए अवस्थित हुए।

११४. तए णं से कामदेवे समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं खलु समणे भगवं महावरे जाव[2] विहरइ। तं सेयं खलु मम समणं भगवं महावीरं वंदित्ता, नमंसित्ता तओ पडिणियत्तस्स पोसहं पारित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं जाव (पवर-परिहिए) अप्प-महग्घा-जाव (-भरणालंकिय-सरीरे सकोरेण्ट-मल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं) मणुस्स-वग्गुरा-परिक्खित्ते सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता चम्पं नयरिं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जहा संखो जाव (जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणाए) पज्जुवासइ।

श्रमणोपासक कामदेव ने जब यह सुना कि भगवान् महावीर पधारे हैं, तो सोचा, मेरे लिए यह श्रेयस्कर है, मैं श्रमण भगवान् महावीर को वंदन-नमस्कार कर, वापस लौट कर पोषध का

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण ४.४७. १९-३२
२. देखें सूत्र-संख्या ११३

पारण—समापन करूं। यों सोच कर उसने शुद्ध तथा सभा योग्य मांगलिक वस्त्र भली-भांति पहने, (थोड़े से बहुमूल्य आभरणों से शरीर को अलंकृत किया, कुरंट पुष्पों की माला से युक्त छत्र धारण किए हुए पुरुषसमूह से घिरा हुआ) अपने घर से निकला। निकल कर चंपा नगरी के बीच से गुजरा, जहां पूर्णभद्र चैत्य था, (जहां श्रमण भगवान् महावीर थे,) शंख श्रावक की तरह आया। आकर (तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा की, वंदन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार कर त्रिविध—कायिक, वाचिक एवं मानसिक) पर्युपासना की।

११५. तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य जाव[1] धम्मकहा समत्ता।

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक कामदेव तथा परिषद् को धर्म-देशना दी।

भगवान् द्वारा कामदेव की वर्धापना

११६. कामदेवा! इ समणे भगवं महावीरे कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—से नूणं कामदेवा! तुब्भं पुव्व-रत्तावरत्तकाल-समयंसि एगे देवे अंतिए पाउब्भूए। तएणं से देवे एगं महं दिव्वं पिसाय-रूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता आसुरत्ते एगं महं नीलुप्पल जाव (-गवल-गुलिय-अयसि-कुसुम-प्पगासं, खुरधारं) असिं गहाय तुमं एवं वयासी—हं भो कामदेवा! जाव[2] जीवियाओ ववरो-विज्जसि। तं तुमं तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[3] विहरसि।

एवं वण्णगरहिया तिण्णि वि उवसग्गा तहेव पडिउच्चारेयव्वा जाव देवो पडिगओ।

से नूणं कामदेवा! अट्ठे समट्ठे?

हंता, अत्थि।

श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेव से कहा—कामदेव! आधी रात के समय एक देव तुम्हारे सामने प्रकट हुआ था। उस देव ने एक विकराल पिशाच का रूप धारण कियां। वैसा कर, अत्यन्त क्रुद्ध हो, उसने (नीले कमल, भैंसे के सींग तथा अलसी के फूल जैसी गहरी नीली तेज धार वाली) तलवार निकाल कर तुम से कहा—कामदेव! यदि तुम अपने शील आदि व्रत भग्न नहीं करोगे तो जीवन से पृथक् कर दिए जाओगे। उस देव द्वारा यों कहे जाने पर भी तुम निर्भय भाव से उपासनारत रहे।

तीनों उपसर्ग विस्तृत वर्णन रहित, देव के वापस लौट जाने तक पूर्वोक्त रूप में यहाँ कह लेने चाहिए।

भगवान् महावीर ने कहा—कामदेव क्या यह ठीक है?

कामदेव बोला—भगवन्! ऐसा ही हुआ।

११७. अज्जो इ समणे भगवं महावीरे बहवे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं

१. देखें सूत्र-संख्या ११
२. देखें सूत्र-संख्या १०७
३. देखें सूत्र-संख्या ९८

वयासी—जइ ताव, अज्जो ! समणोवासगा, गिहिणो, गिहमज्झावसंता दिव्व-माणुस-तिरिक्ख-जोणिए उवसग्गे सम्मं सहंति जाव (खमंति, तितिक्खंति) अहियासेंति, सक्का पुणाइं, अज्जो ! समणेहिं निग्गंथेहिं दुवालसंग-गणि-पिडगं अहिज्जमाणेहिं दिव्व-माणुस-तिरिक्ख-जोणिए (उवसग्गे) सम्मं सहित्तए जाव (खमित्तए, तितिक्खित्तए) अहियासित्तए ।

भगवान् महावीर ने बहुत से श्रमणों और श्रमणियों को संबोधित कर कहा—आर्यो ! यदि श्रमणोपासक गृही घर में रहते हुए भी देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत—पशु-पक्षीकृत उपसर्गों को भली भांति सहन करते हैं (क्षमा एवं तितिक्षा भाव से झेलते हैं) तो आर्यो ! द्वादशांग-रूप गणिपिटक का—आचार आदि बारह अंगों का अध्ययन करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थों द्वारा देवकृत, मनुष्यकृत तथा तिर्यञ्चकृत उपसर्गों को सहन करना (क्षमा एवं तितिक्षा-भाव से झेलना) शक्य है ही ।

११८. तओ ते बहवे समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति ।

श्रमण भगवान् महावीर का यह कथन उन बहु-संख्यक साधु-साध्वियों ने 'ऐसा ही है भगवन् !' यों कह कर विनयपूर्वक स्वीकार किया ।

११९. तए णं से कामदेवे समणोवासए हट्ठ जाव[1] समणं भगवं महावीरं पसिणाइं पुच्छइ, अट्ठमादियइ । समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए, तामेव दिसं पडिगए ।

श्रमणोपासक कामदेव अत्यन्त प्रसन्न हुआ, उसने श्रमण भगवान् महावीर से प्रश्न पूछे, अर्थ—समाधान प्राप्त किया । श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार वंदन-नमस्कार कर, जिस दिशा से वह आया था, उसी दिशा की ओर लौट गया ।

१२०. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ चम्पाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ ।

श्रमण भगवान् महावीर ने एक दिन चंपा से प्रस्थान किया । प्रस्थान कर वे अन्य जनपदों में विहार कर गए ।

कामदेव : स्वर्गारोहण

१२१. तए णं से कामदेवे समणोवासए पढमं उवासग—पडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक कामदेव ने पहली उपासकप्रतिमा की आराधना स्वीकार की ।

१२२. तए णं से कामदेवे समणोवासए बहूहिं जाव (सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अप्पाणं) भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता, एक्कारस उवासग-पडिमाओ सम्मं काएणं फासेत्ता, मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए

१. देखें सूत्र-संख्या १२

छेवेत्ता, आलोइयपडिक्कंते, समाहिपत्ते, कालमासे कालं किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरत्थिमेणं अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। कामदेवस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता।

श्रमणोपासक कामदेव ने अणुव्रत (गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास) द्वारा आत्मा को भावित किया—आत्मा का परिष्कार और परिमार्जन किया। बीस वर्ष तक श्रमणोपासक-पर्याय—श्रावकधर्म का पालन किया। ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं का भली-भांति अनुसरण किया। एक मास की संलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन सम्पन्न कर आलोचना, प्रतिक्रमण कर मरण-काल आने पर समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। देह-त्याग कर वह सौधर्म देवलोक में सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशान-कोण में स्थित अरुणाभ विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ। वहां अनेक देवों की आयु चार पल्योपम की होती है। कामदेव की आयु भी देवरूप में चार पल्योपम की बतलाई गई है।

१२३. से णं भंते! कामदेवे ताओ देव-लोगाओ आउ-क्खएणं भव-क्खएणं ठिइ-क्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता, कहिं गमिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ?

गोयमा! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो[1]

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं बीयं अज्झयणं समत्तं ॥

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—भन्ते! कामदेव उस देव-लोक से आयु, भव एवं स्थिति के क्षय होने पर देव-शरीर का त्याग कर कहां जायगा? कहां उत्पन्न होगा?

भगवान् ने कहा—गौतम! कामदेव महाविदेह-क्षेत्र में सिद्ध होगा—मोक्ष प्राप्त करेगा।

॥ निक्षेप[2] ॥

॥ सातवें अंग उपासकदशा का द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

---

१. एवं खलु जम्बू! समणेणं जाव सम्पत्तेणं दोच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

२. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशा के द्वितीय अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

तीसरा अध्ययन

सार : संक्षेप

सहस्राब्दियों से वाराणसी भारत की एक समृद्ध और सुप्रसिद्ध नगरी रही है। आज भी शिक्षा की दृष्टि से यह अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का स्थान है। भगवान् महावीर के समय की बात है, वहां के राजा का नाम जितशत्रु था। जितशत्रु का राज्य काफी विस्तृत था। सम्बद्ध वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता था, चम्पा आदि उस समय के बड़े-बड़े नगर उसके राज्य में थे। उन दिनों नगरों के उपकण्ठ में चैत्य हुआ करते थे, जहां नगर में आने वाले आचार्य, साधु-संन्यासी आदि रुकते थे। वाराणसी में कोष्ठक नामक चैत्य था। आज भी नगरों के बाहर ऐसे बगीचे, बगीचियां, देवस्थान, विश्राम-स्थान आदि होते ही हैं।

वाराणसी में चुलनीपिता नामक एक गाथापति निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम श्यामा था। चुलनीपिता अत्यन्त समृद्ध, धन्य-धान्य-सम्पन्न गृहस्थ था। उसकी संम्पत्ति आनन्द तथा कामदेव से भी कहीं अधिक थी। आठ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं उसके निधान में थीं। ऐसा प्रतीत होता है, उन दिनों बड़े समृद्ध जन कुछ ऐसी स्थायी पूंजी रखते थे, जिसका वे किसी कार्य में उपयोग नहीं करते थे। प्रतिकूल समय में काम में लेने के लिए एक सुरक्षित निधि के रूप में होती थी। व्यापार-व्यवसाय में सम्पत्ति जहां खूब बढ़ सकती है, वहां कम भी हो सकती है, सारी की सारी समाप्त भी हो सकती है। इसलिए उनकी दृष्टि में यह आवश्यक था कि कुछ ऐसी पूंजी होनी ही चाहिए, जो अलग रखी रहे, समय पर काम आए। एक अच्छा विभाजन उन दिनों अपने पूंजी के उपयोग और विनियोग में था। चुलनीपिता ने आठ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार में लगा रखी थीं। उसकी आठ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर के उपकरण, साज-सामान तथा वैभव में प्रयुक्त थीं। एक ऐसा सन्तुलित जीवन उस समय के समृद्ध जनों का था, वे जिस अनुपात में अपनी सम्पत्ति व्यापार में लगाते, सुरक्षित रखते, उसी अनुपात में घर की शान, गरिमा, प्रभाव तथा सुविधा हेतु भी लगाते थे। उन दिनों देश की आबादी कम थी, भूमि बहुत थी, इसलिए भारत में गो-पालन का कार्य बड़े व्यापक रूप में प्रचलित था। आनन्द और कामदेव के चार और छह गोकुल होने का वर्णन आया है, वहां चुलनीपिता के दस-दस हजार गायों के आठ गोकुल थे। इस साम्पत्तिक विस्तार और चल-अचल धन से यह स्पष्ट है कि चुलनीपिता उस समय का एक अत्यन्त वैभवशाली पुरुष था।

पुराने साहित्य को जब पढ़ते हैं तो एक बात सामने आती है। अनेक पुरुष बहुत वैभव और सम्पदा के स्वामी होते थे, सब तरह का भौतिक या लौकिक सुख उन्हें प्राप्त था, पर वे सुखों के उन्माद में बह नहीं जाते थे। वे समय पर उस जीवन के सम्बन्ध में भी सोचते थे; जो धन, सम्पत्ति, वैभव, भोग तथा विलास से पृथक् है। पर, है वास्तविक और उपादेय।

भगवान् महावीर के आगमन पर जैसा आनन्द और कामदेव को अपने जीवन को नई दिशा देने का प्रतिबोध मिला, चुलनीपिता के साथ भी ऐसा ही घटित हुआ। भगवान् महावीर जब अपने जनपद-विहार के बीच वाराणसी पधारे तो चुलनीपिता ने भी भगवान् की धर्मदेशना सुनी, वह

अन्त:प्रेरित हुआ, उसने जीवन को व्रतों के सांचे में ढाला—श्रावक-धर्म स्वीकार किया। वह अपने जीवन को उत्तरोत्तर उपासना में लगाए रखने में प्रयत्नशील रहने लगा।

एक दिन की बात है, वह ब्रह्मचर्य एवं पोषध-व्रत स्वीकार किए, पोषधशाला में उपासनारत था आधी रात का समय था। उपसर्ग करने के लिए एक देव प्रकट हुआ। हाथ में तेज तलवार लिए उसने चुलनीपिता को कहा —तुम व्रतों को छोड़ दो, नहीं तो मैं तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को घर से उठा लाऊंगा। तुम्हारे ही सामने उसको काटकर तीन टुकड़े कर डालूंगा, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में उन्हें खौलाऊंगा और तुम्हारे बेटे का उबलता हुआ मांस और रक्त तुम्हारे शरीर पर छिड़कूंगा।

चुलनीपिता के समक्ष एक भीषण दृश्य था। पुत्र की हत्या की विभीषिका थी। सांसारिक प्रियजनों में पुत्र का अपना असाधारण स्थान है। पुत्र के प्रति पिता के मन में कितनी ममता होती है, यह किसी से छिपा नहीं है। भारतीय साहित्य में तो यहां तक उल्लेख है—'सर्वेभ्यो जयमन्विच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्' अर्थात् पिता यह कामना करता है, मेरा पुत्र इतनी उन्नति करे, इतना आगे बढ़ जाय कि मुझे वह पराजय दे सके। उसी प्रकार गुरु भी यह कामना करता है कि मेरा शिष्य इतना योग्य हो जाय कि मुझे वह पराभूत कर सके।

इस परिपार्श्व में जब हम सोचते हैं तो चुलनीपिता के सामने एक हृदय-द्रावक विभीषिका थी, पर उसने हृदय या भावुकता को विवेक पर हावी नहीं होने दिया, अपनी उपासना में अविचल भाव से लगा रहा। देव का क्रोध उबल पड़ा। उसने जैसा कहा था, देवमाया से क्षण भर में वैसा ही दृश्य उपस्थित कर दिया। उसी के बेटे का उबलता मांस और रक्त उसकी देह पर छिड़का। बहुत भयानक और साथ ही साथ बीभत्स कर्म यह था। पत्थर का हृदय भी फट जाय, पर चुलनीपिता अडिग रहा।

देव और विकराल हो गया। उसने फिर धमकी दी—मैंने जैसा तुम्हारे बड़े बेटे के साथ किया है, वैसा तुम्हारे मंझले बेटे के साथ भी करता हूं, मान जाओ, आराधना से हट जाओ! पर, चुलनीपिता फिर भी घबराया नहीं। तब देव ने बड़े बेटे की तरह मंझले बेटे के साथ भी वैसा ही किया।

देव ने तीसरी बार फिर चुलनीपिता को धमकी दी—तुम्हारे दो बेटे समाप्त किए जा चुके हैं, अब छोटे की बारी है। उसकी भी यही हालत होने वाली है। अब भी मान जाओ। पर, चुलनीपिता अविचल रहा। देव ने छोटे बेटे का भी काम तमाम कर दिया और वैसा ही क्रूर और नृशंस व्यवहार किया। चुलनीपिता उपासना में इतना रम गया था कि हृदय की दुर्बलताएं वह काफी हद तक जीत चुका था। इसलिए, देव का यह नृशंस कर्म उसे अपने पथ से डिगा नहीं सका।

जब देव ने देखा कि तीनों पुत्रों की नृशंस हत्या के बावजूद श्रमणोपासक चुलनीपिता निश्चल भाव से धर्मोपासना में लगा है तो उसने एक और अत्यन्त भीषण उपाय सोचा। उसने धमकी भरे शब्दों में उससे कहा—तुम यों नहीं मानोगे, अब मैं तुम्हारी माता भद्रा सार्थवाही को यहां लाता हूँ, जो तुम्हारे लिए देव और गुरु की तरह पूजनीय है, जिसने तुम्हारे लालन-पालन में अनेक कष्ट झेले हैं, जो परम धार्मिक है। मैं तुम्हारे सामने इस तेज तलवार से काटकर उसके तीन टुकड़े कर डालूंगा। जैसे तुम्हारे पुत्रों को उबलते पानी की कढ़ाही में खौलाया, उसे भी खौलाऊंगा तथा उसी तरह उसके उबलते हुए मांस और रक्त से तुम्हारा शरीर छींटूंगा।

अपने तीनों बेटों की नृशंस हत्या के समय जिसका हृदय जरा भी विचलित नहीं हुआ, अत्यन्त दृढता और तन्मयता के साथ धर्म-ध्यान में लगा रहा, जब उसके समक्ष उसकी श्रद्धेया और ममतामयी माता की हत्या का प्रश्न आया, उसके धीरज का बांध टूट गया। उसे मन ही मन लगा, यह दुष्ट मेरी आंखों के देखते ऐसा नीच कार्य करेगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं अभी इस दुष्ट को पकड़ता हूं। यों क्रुद्ध होकर चुलनीपिता उसे पकड़ने को उठा, हाथ फैलाए। वह तो देव का षड्यंत्र था। वह देव आकाश में अन्तर्धान हो गया और चुलनीपिता के हाथ में पोषधशाला का खंभा आ गया, जो उसके सामने था। चुलनीपिता हक्का-बक्का रह गया। वह जोर जोर से चिल्लाने लगा।

भद्रा सार्थवाही ने जब यह शोर सुना तो वह झट वहां आई और अपने पुत्र से बोली—क्या हुआ, ऐसा क्यों करते हो ? चुलनीपिता ने वह सारी घटना बतलाई, जो घटित हुई थी। उसकी माता ने कहा—बेटा ! यह देव द्वारा किया गया उपसर्ग था, यह सारी देवमाया थी। सब सुरक्षित हैं, किसी की हत्या नहीं हुई। क्रोध करके तुमने अपना व्रत तोड़ दिया। तुमसे यह भूल हो गई, तुम्हें इसके लिए प्रायश्चित्त करना होगा, जिससे तुम शुद्ध हो सको। चुलनीपिता ने मां का कथन शिरोधार्य किया। प्रायश्चित्त स्वीकार किया।

मानव-मन बड़ा दुर्बल है। उपासक को क्षण-क्षण सावधान रहना अपेक्षित है। थोड़ी सी सावधानी टूटते ही हृदय में दुर्बलता उभर आती है। उपासक अपने मार्ग से चलित हो जाता है। किसी से भूल होना असंभव नहीं है, पर जब भूल मालूम हो जाय तो व्यक्ति को तत्क्षण जागरूक हो जाना चाहिए, उस भूल के लिए आन्तरिक खेद अनुभव करना चाहिए। पुनः वैसा न हो, इसके लिए संकल्पबद्ध होना चाहिए। उक्त घटना इन्हीं सब बातों पर प्रकाश डालती है। अस्तु।

चुलनीपिता धर्म की उपासना में उत्तरोत्तर अग्रसर होता गया। उसने व्रताराधना से आत्मा को भावित करते हुए बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया, ग्यारह उपासक प्रतिमाओं की सम्यक् आराधना की, एक मास की अन्तिम संलेखना और एक मास का अनशन सम्पन्न कर, समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। सौधर्म देवलोक में अरुणप्रभ विमान में वह देव रूप में उत्पन्न हुआ।

—



तृतीय अध्ययन : चुलनीपिता

१२४. उक्खेवो तइयस्स अज्झयणस्स[1]। एवं खलु, जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया।

उपक्षेप[2]—उपोद्‌घातपूर्वक तृतीय अध्ययन का प्रारम्भ यों है:—

आर्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में; उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, वाराणसी नामक नगरी थी। कोष्ठकनामक चैत्य था, वहां के राजा का नाम जितशत्रु था।

श्रमणोपासक चुलनीपिता

१२५. तत्थ णं वाणारसीए नयरीए चुलणीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे, जाव[3] अपरिभूए। सामा भारिया। अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, अट्ठ वुड्ढि-पउत्ताओ, अट्ठ पवित्थर-पउत्ताओ, अट्ठ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। जहा आणंदो राईसर जाव[4] सव्व-कज्ज-वड्ढावए यावि होत्था। सामी समोसढे। परिसा निग्गया। चुलणीपिया वि, जहा आणंदो तहा निग्गओ। तहेव गिहि-धम्मं पडिवज्जइ। गोयम-पुच्छा। तहेव सेसं जहा कामदेवस्स जाव[5] पोसह-सालाए पोसहिए बंभयारी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

वाराणसी नगरी में चुलनीपिता नामक गाथापति निवास करता था। वह अत्यन्त समृद्ध एवं प्रभावशाली था। उसकी पत्नी का नाम श्यामा था। आठ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं स्थायी पूंजी के रूप में उसके खजाने में थीं, आठ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार-व्यवसाय में लगी थीं तथा आठ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव—धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि साधन-सामग्री में लगी थीं। उसके आठ गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में दस-दस हजार गाएं थीं। गाथापति आनन्द की तरह वह राजा, ऐश्वर्यशाली पुरुष आदि विशिष्ट जनों के सभी प्रकार के कार्यों का सत्परामर्श आदि द्वारा वर्धापक—आगे बढ़ाने वाला था।

---

१. जइ णं भंते ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं उवासगदसाणं दोच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते तच्चस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२. आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के द्वितीय अध्ययन का यदि यह अर्थ—आशय प्रतिपादित किया, तो भगवन् ! उन्होंने तृतीय अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया ? (कृपया कहें।)

३. देखें सूत्र-संख्या ३

४. देखें सूत्र-संख्या ५

५. देखें सूत्र-संख्या ९२

भगवान् महावीर पधारे—समवसरण हुआ। भगवान् की धर्म-देशना सुनने परिषद् जुड़ी। आनन्द की तरह चुलनीपिता भी घर से निकला—भगवान् की सेवा में आया। आनन्द की तरह उसने भी श्रावकधर्म स्वीकार किया।

गौतम ने जैसे आनन्द के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किए थे, उसी प्रकार चुलनीपिता के भावी जीवन के सम्बन्ध में भी किए। भगवान् ने समाधान दिया।

आगे की घटना गाथापति कामदेव की तरह है। चुलनीपिता पोषधशाला में ब्रह्मचर्य एवं पोषध स्वीकार कर, श्रमण भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप उपासना-रत हुआ।

उपसर्गकारी देव : प्रादुर्भाव

१२६. तए णं तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स पुव्व-रत्तावरत्तकाल-समयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भूए।

आधी रात के समय श्रमणोपासक चुलनीपिता के समक्ष एक देव प्रकट हुआ।

पुत्र-वध की धमकी

१२७. तए णं से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव[1] असिं गहाय चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो चुलणीपिया! समणोवासया! जहा कामदेवो जाव[2] न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता तओ मंस-सोल्ले करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।

उस देव ने एक बड़ी नीली तेज धार वाली तलवार निकाल कर जैसे पिशाच रूप धारी देव ने कामदेव से कहा था, वैसे ही श्रमणोपासक चुलनीपिता को कहा—श्रमणोपासक चुलनीपिता! व्रतों से हट जाओ। यदि तुम अपने व्रत नहीं तोड़ोगे, तो मैं आज तुम्हारे बड़े पुत्र को घर से निकाल लाऊंगा। निकाल कर तुम्हारे आगे उसे मार डालूंगा। मारकर उसके तीन मांस-खंड करूंगा, उबलते आद्रहण—पानी या तैल से भरी कढ़ाही में खौलाऊंगा। उसके मांस और रक्त से तुम्हारे शरीर को सींचूंगा—छींटूंगा। जिससे तुम आर्तध्यान एवं विकट दुःख से पीड़ित होकर असमय में ही प्राणों से हाथ धो बैठोगे।

चुलनीपिता की निर्भीकता

१२८. तए णं से चलणीपिया समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[3] विहरइ।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ११६

२. देखें सूत्र-संख्या १०७

३. देखें सूत्र-संख्या ९८

उस देव द्वारा यों कहे जाने पर भी श्रमणोपासक चुलनीपिता निर्भय भाव से धर्म-ध्यान में स्थित रहा।

१२९. तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव[1] पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! तं चेव भणइ, सो जाव[2] विहरइ।

जब उस देव ने श्रमणोपासक चुलनीपिता को निर्भय देखा, तो उसने उससे दूसरी बार और फिर तीसरी बार वैसा ही कहा। पर, चुलनीपिता पूर्ववत् निर्भीकता के साथ धर्म-ध्यान में स्थित रहा।

बड़े पुत्र की हत्या

१३०. तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव[3] पासित्ता आसुरत्ते[4] चुलणीपियस्स समणोवासयस्स जेट्ठं पुत्तं गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता अग्गओ घाएइ, घाएत्ता तओ मंससोल्लए करेइ, करेत्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता चुलणीपियस्स समणोवासयस्स गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ।

देव ने चुलनीपिता को जब इस प्रकार निर्भय देखा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। वह चुलनीपिता के बड़े पुत्र को उसके घर से उठा लाया और उसके सामने उसे मार डाला। मारकर उसके तीन मांस-खंड किए, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाया। उसके मांस और रक्त से चुलनीपिता के शरीर को सींचा—छींटा।

१३१. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तं उज्जलं जाव[4] अहियासेइ।

चुलनीपिता ने वह तीव्र वेदना तितिक्षापूर्वक सहन की।

मंझले व छोटे पुत्र की हत्या

१३२. तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव[5] पासइ, पासित्ता दोच्चंपि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो चुलणीपिया समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थिया ! जाव[6] न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि जहा जेट्ठं पुत्तं तहेव भणइ, तहेव करेइ। एवं तच्चंपि कणीयसं जाव अहियासेइ।

देव ने श्रमणोपासक चुलनीपिता को जब यों निर्भीक देखा तो उसने दूसरी बार कहा—मौत

१. देखें सूत्र-संख्या ९७
२. देखें सूत्र-संख्या ९७
३. देखें सूत्र-संख्या ९७
४. देखें सूत्र-संख्या १०६
५. देखें सूत्र-संख्या ९७
६. देखें सूत्र-संख्या १०७

को चाहनेवाले चुलनीपिता ! यदि तुम अपने व्रत नहीं तोड़ोगे, तो मैं तुम्हारे मंझले पुत्र को घर से उठा लाऊंगा और तुम्हारे सामने तुम्हारे बड़े बेटे की तरह उसकी भी हत्या कर डालूंगा। इस पर भी चुलनीपिता जब अविचल रहा तो देव ने वैसा ही किया। उसने तीसरी बार फिर छोटे लड़के के सम्बन्ध में वैसा ही करने को कहा। चुलनीपिता नहीं घबराया। देव ने छोटे लड़के के साथ भी वैसा ही किया। चुलनीपिता ने वह तीव्र वेदना तितिक्षापूर्वक सहन की।

मातृ-वध की धमकी

१३३. तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव[1] पासइ, पासित्ता चउत्थं पि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! अपत्थियपत्थिया ! जइ णं तुमं जाव[2] न भंजेसि, तओ अहं अज्ज जा इमा तव माया भद्दा सत्थवाही देवयगुरुजणणी, दुक्करदुक्करकारिया, तं ते साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता तओ मंससोल्लए करेमि, करेत्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।

देव ने जब श्रमणोपासक चुलनीपिता को इस प्रकार निर्भय देखा तो उसने चौथी बार उससे कहा—मौत को चाहने वाले चुलनीपिता ! यदि तुम अपने व्रत नहीं तोड़ोगे तो मैं तुम्हारे लिए देव और गुरु सदृश पूजनीय, तुम्हारे हितार्थ अत्यन्त दुष्कर कार्य करने वाली अथवा अति कठिन धर्म-क्रियाएं करने वाली तुम्हारी माता भद्रा सार्थवाही को घर से यहां ले आऊंगा। लाकर तुम्हारे सामने उसकी हत्या करूंगा, उसके तीन मांस-खंड करूंगा, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाऊंगा। उसके मांस और रक्त से तुम्हारे शरीर को सींचूंगा—छींटूंगा, जिससे तुम आर्त ध्यान एवं विकट दुःख से पीड़ित होकर असमय में ही प्राणों से हाथ धो बैठोगे।

विवेचन—

प्रस्तुत सूत्र में श्रमणोपासक चुलनीपिता की माता भद्रा सार्थवाही का एक विशेषण देव-गुरु-जननी आया है, जो भारतीय आचार-परम्परा में माता के प्रति रहे सम्मान, आदर और श्रद्धा का द्योतक है। माता का सन्तति पर निश्चय ही अपनी सेवाओं का एक ऐसा ऋण होता है, जिसे किसी भी तरह उतारा जाना सम्भव नहीं है। इसलिए यहां माता की देवतुल्य पूजनीयता एवं सम्मान-नीयता की ओर संकेत है।

डॉ. रुडोल्फ हॉर्नले ने एक पुरानी व्याख्या के आधार पर देव-गुरु का अर्थ देवताओं के गुरु-बृहस्पति किया है। यों उनके अनुसार माता बृहस्पति के समान पूजनीय है।[3]

भारत की सभी परम्पराओं के साहित्य में माता का असाधारण महत्त्व स्वीकार किया गया है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के अनुसार माता और मातृभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर माना है। मनु ने तो माता का बहुत अधिक गौरव स्वीकार किया है। उन्होंने माता को पिता से

१. देखें सूत्र-संख्या ९७
२. देखें सूत्र-संख्या १०७
३. The Uvāsagadasāo, Lecture III, Page 94

हजार गुना अधिक महत्त्व दिया है।[1]

तैत्तिरीयोपनिषद् में उल्लेख है, अध्ययन सम्पन्न कराने के पश्चात् आचार्य जब शिष्य को भावी जीवन के लिए उपदेश करता है, तो वहां वह उसे विशेष रूप से कहता है, तुम अपनी माता को देवता के तुल्य समझना, पिता को देवता के तुल्य समझना, आचार्य को देवता के तुल्य समझना, अतिथि को देवता के तुल्य समझना, अनवद्य—अनिंद्य या निर्दोष कर्म करना, इतर—निंद्य या सदोष कर्म मत करना, गुरुजनों द्वारा सेवित शुभ आचरण या उत्तम चरित्र का पालन करना।[2]

जैन-साहित्य और बौद्ध-साहित्य में भी माता का बहुत उच्च स्थान माना गया है। यहां प्रयुक्त इस विशेषण में भारतीय चिन्तनधारा के इस पक्ष की स्पष्ट झलक है।

१३४ तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[3] विहरइ।

उस देव द्वारा यों कहे जाने पर भी श्रमणोपासक चुलनीपिता निर्भयता से धर्मध्यान में स्थित रहा।

१३५. तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव[4] विहरमाणं पासइ, पासित्ता चुलणीपियं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—हं भो! चुलणीपिया! समणोवासया! तहेव जाव (अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि।

उस देव ने श्रमणोपासक चुलनीपिता को जब निर्भय देखा तो दूसरी बार, तीसरी बार फिर वैसा ही कहा—श्रमणोपासक चुलनीपिता! तुम (आर्तध्यान एवं विकट दुःख से पीड़ित होकर असमय में ही) प्राणों से हाथ धो बैठोगे।

चुलनीपिता का क्षोभ : कोलाहल

१३६. तए णं तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ५. अहो णं इमे पुरिसे अणारिए, अणारिय—बुद्धी, अणारियाइं, पावाइं कम्माइं समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएइ, घाएत्ता जहा कयं तहा चिंतेइ जाव (तओ मंससोल्लए करेइ, करेत्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता) ममं गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ, जेणं ममं मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ जाव

---

१. उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥
मनुस्मृति २. १४५

२. मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवोभव। यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि।
तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली १, अनुवाक् ११.२

३. देखें सूत्र-संख्या ९८

४. देखें सूत्र-संख्या ९७

(नीणेइ, नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएइ, घाएत्ता तओ मंस-सोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता) ममं गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ, जेणं ममं कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव जाव[1] आयंचइ, जा वि य णं इमा ममं माया भद्दा सत्थवाही देवय-गुरु-जणणी, दुक्कर-दुक्कर-कारिया. तं पि य णं इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता मम अग्गओ धाएत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए, से वि य आगासे उप्पइए, तेणं च खंभे आसाइए, महया महया सद्देणं कोलाहले कए।

उस देव ने जब दूसरी बार, तीसरी बार ऐसा कहा, तब श्रमणोपासक चुलनीपिता के मन में विचार आया—यह पुरुष बड़ा अधम है, नीच-बुद्धि है, नीचतापूर्ण पाप-कार्य करने वाला है, जिसने मेरे बड़े पुत्र को घर से लाकर मेरे आगे मार डाला (उसके तीन मांस-खण्ड किए, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाया) उसके मांस और रक्त से मेरे शरीर को सींचा—छींटा, जो मेरे मंझले पुत्र को घर से ले आया, (लाकर मेरे सामने उसकी हत्या की, उसके तीन मांस-खण्ड किए, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाया, उसके मांस और रक्त से मेरे शरीर को सींचा—छींटा,) जो मेरे छोटे पुत्र को घर से ले आया, उसी तरह उसके मांस और रक्त से मेरा शरीर सींचा, जो देव और गुरु सदृश पूजनीय, मेरे हितार्थ अत्यन्त दुष्कर कार्य करने वाली, अति कठिन क्रियाएं करने वाली मेरी माता भद्रा सार्थवाही को भी घर से लाकर मेरे सामने मारना चाहता है। इसलिए, अच्छा यही है, मैं इस पुरुष को पकड़ लूं। यों विचार कर वह पकड़ने के लिए दौड़ा। इतने में देव आकाश में उड़ गया। चुलनीपिता के पकड़ने को फैलाए हाथों में खम्भा आ गया। वह जोर-जोर से शोर करने लगा।

माता का आगमन : जिज्ञासा

१३७. तए णं सा भद्दा सत्थवाही तं कोलाहल-सद्दं सोच्चा, निसम्म जेणेव चुलणीपिया समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—किण्णं पुत्ता ! तुमं महया सद्देणं कोलाहले कए ?

भद्रा सार्थवाही ने जब वह कोलाहल सुना, तो जहां श्रमणोपासक चुलनीपिता था, वहां वह आई, उससे बोली—पुत्र ! तुम जोर-जोर से यो क्यों चिल्लाए ?

चुलनीपिता का उत्तर

१३८. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए अम्मयं भद्दं सत्थवाहिं एवं वयासी—एवं खलु अम्मो ! न जाणामि के वि पुरिसे आसुरत्ते ४, एगं महं नीलुप्पल जाव[2] असिं गहाय ममं एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थिया ! ४. जइ णं तुमं जाव (अज्ज सीलाइं, वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं, पोसहोववासाइं न छड्डेसि, न भंजेसि, तो जाव तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि।

अपनी माता भद्रा सार्थवाही से श्रमणोपासक चुलनीपिता ने कहा—मां ! न जाने कौन

१. देखें सूत्र संख्या १३६

२. देखें सूत्र-संख्या ११६

पुरुष था, जिसने अत्यन्त क्रुद्ध हो कर एक बड़ी नीली तलवार निकाल कर मुझे कहा—मृत्यु को चाहने वाले श्रमणोपासक चुलनीपिता ! यदि तुम आज शील, (व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास) का त्याग नहीं करोगे, भंग नहीं करोगे तो तुम आर्तध्यान एवं विकट दुःख से पीड़ित होकर असमय में ही प्राणों से हाथ धो बैठोगे ।

१३९. तए णं अहं तेणं पुरिसेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[1] विहरामि ।

उस पुरुष द्वारा यों कहे जाने पर भी मैं निर्भीकता के साथ अपनी उपासना में निरत रहा ।

१४०. तए णं से पुरिसे ममं अभीयं जाव[2] विहरमाणं पासइ, पासित्ता ममं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! तहेव जाव[3] गायं आयंचइ ।

जब उस पुरुष ने मुझे निर्भयतापूर्वक उपासनारत देखा तो उसने मुझे दूसरी बार, तीसरी बार फिर कहा—श्रमणोपासक चुलनीपिता ! जैसा मैंने तुम्हें कहा है, मैं तुम्हारे शरीर को मांस और रक्त से सींचता हूँ और उसने वैसा ही किया ।

१४१. तए णं अहं उज्जलं, जाव (विउलं, कक्कसं, पगाढं, चंडं, दुक्खं, दुरहियासं वेयणं सम्मं सहामि, खमामि, तितिक्खामि, अहियासेमि । एवं तहेव उच्चारेयव्वं सव्वं जाव कणीयसं जाव[4]. आयंचइ । अहं तं उज्जलं जाव[5] अहियासेमि ।

मैंने (सहनशीलता, क्षमा और तितिक्षापूर्वक वह तीव्र, विपुल—अत्यधिक, कर्कश—कठोर, प्रगाढ, रौद्र, कष्टप्रद तथा दुःसह) वेदना झेली ।

छोटे पुत्र के मांस और रक्त से शरीर सींचने तक सारी घटना उसी रूप में घटित हुई । मैं वह तीव्र वेदना सहता गया ।

१४२. तए णं से पुरिसे ममं अभीयं जाव[6] पासइ, पासित्ता ममं चउत्थं पि एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थिया ! जाव[7] न भंजेसि, तो ते अज्ज जा इमा माया गुरु जाव (जणणी दुक्कर-दुक्करकारिया, तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता तओ मंससोल्लए करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि ।

---

१. देखें सूत्र—संख्या ९८ ।
२. देखें सूत्र—संख्या ९७ ।
३. देखें सूत्र—संख्या १३६ ।
४. देखें सूत्र—संख्या १३६ ।
५. देखें सूत्र यही ।
६. देखें सूत्र—संख्या ९७ ।
७. देखें सूत्र—संख्या १०७ ।

उस पुरुष ने जब मुझे निडर देखा तो चौथी बार उसने कहा—मौत को चाहने वाले श्रमणोपासक चुलनीपिता ! तुम यदि अपने व्रत भंग नहीं करते हो तो आज (तुम्हारे लिए देव और गुरु सदृश पूजनीय, तुम्हारे हितार्थ अत्यन्त दुष्कर कार्य करने वाली—अति कठिन धर्म-क्रियाएं करने वाली तुम्हारी माता को घर से ले आऊंगा। लाकर तुम्हारे सामने उसका वध करूंगा, उसके तीन मांस-खण्ड करूंगा, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाऊंगा, उसके मांस और रक्त से तुम्हारे शरीर को सींचूंगा, जिससे तुम आर्तध्यान एवं विकट दुःखों से पीड़ित होकर असमय में ही) प्राणों से हाथ धो बैठोगे।

१४३. तए णं अहं तेणं पुरिसेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[1] विहरामि।

उस पुरुष द्वारा यों कहे जाने पर भी मैं निर्भीकतापूर्वक धर्म-ध्यान में स्थित रहा।

१४४. तए णं से पुरिसे दोच्चंपि तच्चंपि ममं एवं वयासी—हं भो ! चुलणीपिया ! समणोवासया ! अज्ज जाव[2] ववरोविज्जसि।

उस पुरुष ने दूसरी बार, तीसरी बार फिर कहा—श्रमणोपासक चुलनीपिता ! आज तुम प्राणों से हाथ धो बैठोगे।

१४५. तए णं तेणं पुरिसेणं दोच्चंपि तच्चंपि ममं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ५, अहो णं ! इमे पुरिसे अणारिए जाव (अणारिय-बुद्धी, अणारियाइं, पावाइं कम्माइं) समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव जाव कणीयसं जाव[3] आयंचइ, तुब्भे वि य णं इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उट्ठाइए। से वि य आगासे उप्पइए, मए वि य खंभे आसाइए, महया महया सद्देणं कोलाहले कए।

उस पुरुष द्वारा दूसरी बार, तीसरी बार यों कहे जाने पर मेरे मन में ऐसा विचार आया, अरे ! इस अधम, नीचबुद्धि पुरुष ने ऐसे नीचतापूर्ण पापकर्म किए, मेरे ज्येष्ठ पुत्र को, मंझले पुत्र को और छोटे पुत्र को घर से ले आया, उनकी हत्या की, उनके मांस और रक्त से मेरे शरीर को सींचा। अब तुमको भी (माता को भी) घर से लाकर मेरे सामने मार डालना चाहता है। इसलिए अच्छा यही है, मैं इस पुरुष को पकड़ लूं। यों विचार कर मैं उसे पकड़ने के लिये उठा, इतने में वह आकाश में उड़ गया। उसे पकड़ने को फैलाये हुए मेरे हाथों में खम्भा आ गया। मैंने जोर-जोर से शोर किया।

चुलनीपिता द्वारा प्रायश्चित्त

१४६. तए णं सा भद्दा सत्थवाही चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—नो खलु केइ पुरिसे तव जाव (जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएइ, नो खलु केइ पुरिसे तव मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएइ, नो खलु केइ पुरिसे तव) कणीयसं

१. देखें सूत्र—संख्या ९८।
२. देखें सूत्र—संख्या १३५।
३. देखें सूत्र—संख्या १३६।

पुत्तं साम्रो गिहाम्रो नीणेइ, नीणेत्ता तव ग्रग्गम्रो घाएइ, एस णं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ, एस णं तुमे विदरिसणे दिट्ठे । तं णं तुमं इयाणि भग्ग-व्वए भग्ग-नियमे भग्ग-पोसहे विहरसि । तं णं तुमं पुत्ता ! एयस्स ठाणस्स ग्रालोएहि जाव (पडिक्कमाहि, निंदाहि, गरिहाहि, विउट्टाहि, विसोहेहि ग्रकरणयाए, ग्रब्भुट्ठाहि ग्रहारिहं पायच्छित्तं तवो-कम्मं) पडिवज्जाहि ।

तब भद्रा सार्थवाही श्रमणोपासक चुलनीपिता से बोली—पुत्र ! ऐसा कोई पुरुष नहीं था, जो (तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को घर से लाया हो, तुम्हारे ग्रागे उसका वध किया हो, तुम्हारे मंझले पुत्र को घर से लाया हो, तुम्हारे ग्रागे उसे मारा हो,) तुम्हारे छोटे पुत्र को घर से लाया हो, तुम्हारे ग्रागे उसकी हत्या की हो । यह तो तुम्हारे लिए कोई देव-उपसर्ग था । इसलिए, तुमने यह भयंकर दृश्य देखा । ग्रब तुम्हारा व्रत, नियम ग्रौर पोषध भग्न हो गया है—खण्डित हो गया है । इसलिए पुत्र ! तुम इस स्थान—व्रत-भंग रूप ग्राचरण की ग्रालोचना करो, (प्रतिक्रमण करो—पुनः शुद्ध ग्रन्तः-स्थिति में लौटो, इस प्रवृत्ति की निन्दा करो, गर्हा करो—ग्रान्तरिक खेद ग्रनुभव करो, इसे वित्रोटित करो—विच्छिन्न करो या मिटाग्रो, इस ग्रकरणता या ग्रकार्य का विशोधन करो—इससे जनित दोष का परिमार्जन करो, यथोचित प्रायश्चित्त के लिए ग्रभ्युत्थित-उद्यत हो जाग्रो,) तदर्थं तपःकर्म स्वीकार करो ।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में देव द्वारा श्रमणोपासक चुलनीपिता के तीनों पुत्रों को उसकी ग्रांखों के सामने तलवार से काट डाले जाने तथा उबलते पानी की कढ़ाही में खौलाए जाने के सम्बन्ध में जो उल्लेख है वह कोई वास्तविक घटना नहीं थी, देव-उपसर्ग था । इसका स्पष्टीकरण कामदेव के प्रकरण में किया चुका जा है । विशेषता यह है कि ग्रन्ततः चुलनीपिता ग्रपने व्रतों से विचलित हो गया ।

व्रती या उपासक के लिए यह ग्रावश्यक है कि वह प्रतिक्षण सावधान रहे, ग्रपने नियमों के यथावत् पालन में जागरूक रहे । ऐसा होते हुए भी कुछ ऐसी मानवीय दुर्बलताएं हैं, उपासक की दृढ़ता कभी-कभी टूट जाती है ।

गुरु, पूज्यजन ग्रादि से उद्बोधित होकर ग्रथवा ग्रात्म-प्रेरित होकर उपासक सहसा सावधान होता है, जीवन में वैसा ग्रवांछनीय प्रसंग फिर न ग्राए । वह ग्रपने संकल्प को स्मरण करता है । पूर्ववत् दृढ़ता ग्रा जाए, वह (संकल्प-व्रत) ग्रागे फिर न टूटे, इसके लिए शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान है । उपासक वहां ग्रपने भीतर पैठ कर ग्रपने स्वरूप, ग्राचार, व्रत, स्थिति का ध्यान करता है । इस सन्दर्भ में ग्रालोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा ग्रादि शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग है, जो यहां भी हुग्रा है । वैसे साधारणतया ये शब्द समानार्थक जैसे हैं, परन्तु सूक्ष्मता में जाएं तो प्रत्येक शब्द की ग्रपनी विशेषता है । जैन परम्परा में ग्रात्म-शोधनमूलक इस उपक्रम का ग्रपना विशेष प्रकार है, जिसके पीछे बड़ा मनोवैज्ञानिक चिन्तन है । ग्रालोचना करने का ग्राशय गुरु के सम्मुख ग्रपनी भूल निवेदित करना है । यह बहुत लाभप्रद है । इससे भीतर का मल धुल जाता है । प्रतिक्रमण शब्द का भी ग्रपना महत्त्व है । उपासक ग्रपने ग्राप को सम्बोधित कर कहता है—ग्रात्मन् ! वापस ग्रपने ग्राप में लौटो, बहिर्मुख हो तुम कहां चले गये थे ? फिर निन्दा की बात ग्राती है, उपासक ग्रात्मा की साक्षी से भीतर ही भीतर ग्रपनी भूल की निन्दा करता है । विचार

करता है कि कैसा बुरा कार्य उससे बन पड़ा। गुरु को प्रत्यक्ष रूप में या भाव रूप में साक्ष्य बनाकर वह अपनी भूल की प्रकट रूप में निन्दा करता है, जिसे गर्हा कहा जाता है, जो आन्तरिक खेद अनुभव करने का बहुत ही प्रेरणाप्रद रूप है। जिस विचारधारा के कारण भूल बनी, उस विचारधारा को सर्वथा उच्छिन्न कर देने हेतु उपासक संकल्पबद्ध होता है। अन्ततः वह प्रायश्चित्त के रूप में कुछ तपश्चरण स्वीकार करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह एक ऐसा सुन्दर क्रम है, जिससे पुनः वैसी भूल यथासम्भव नहीं होती। जिन दुर्बलताओं के कारण वैसी भूल बनती है, वे दुर्बलताएं किसी न किसी रूप में दूर हो जाती हैं।

प्रस्तुत में चुलनीपिता की माता ने उसे कहा है—'तुम्हारा व्रत, नियम और पोषध भग्न हो गया है।' टीकाकार ने व्रतादि के भंग होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—साधारणतया श्रावक अहिंसाणुव्रत में निरपराध जीव की हिंसा का त्याग करता है किन्तु पोषध में निरपराध के साथ सापराध की हिंसा का भी त्याग होता है। चुलनीपिता ने क्रोधपूर्वक उपसर्गकारी के विनाश के लिए दौड़कर भावतः स्थूलप्राणातिपातविरमण व्रत का उल्लंघन किया। यह उसके व्रतभंग का कारण हुआ। पोषध में क्रोध करने का भी परित्याग किया जाता है, किन्तु क्रोध करने के कारण उत्तरगुणरूप नियम का भंग हुआ। अव्यापार के त्याग का उल्लंघन करने के कारण पोषध-भंग हुआ। इस प्रकार व्रत, नियम और पोषध भंग होने के कारण, पुनः विशुद्धि के लिए आलोचना आदि करना अनिवार्य था।

१४७. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए अम्मगाए भद्दाए सत्थवाहीए 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव[1] पडिवज्जइ।

श्रमणोपासक चुलनीपिता ने अपनी माता भद्रा सार्थवाही का कथन 'आप ठीक कहती हैं' यों कहकर विनयपूर्वक सुना। सुनकर उस स्थान—व्रत-भंग, नियमभंग और पोषधभंग रूप आचरण की आलोचना की, (यावत्) प्रायश्चित्त के रूप में तदनुरूप तपःक्रिया स्वीकार की।

जीवन का उपासनामय अन्त

१४८. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ, पढमं उवासग-पडिमं अहासुत्तं जहा आणंदो जाव (दोच्चं उवसग-पडिमं, एवं तच्चं, चउत्थं, पंचमं, छट्ठं, सत्तमं, अट्ठमं, नवमं, दसमं,) एक्कारसमं वि।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक चुलनीपिता ने आनन्द की तरह क्रमशः पहली, (दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, नौवीं, दसवीं तथा) ग्यारहवीं उपासक-प्रतिमा की यथाविधि आराधना की।

१४९. तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं उरालेणं जहा कामदेवो जाव (बहूहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेत्ता, बीसं वासाइं समणोवासग-परियायं

१. देखें सूत्र-संख्या ८७

पाउणित्ता, एक्कारस य उवासग-पडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय-पडिक्कंते, समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा) सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसगस्स महाविमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेणं अरुणप्पभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो[1]

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं तइयं अज्झयणं समत्तं ॥

श्रमणोपासक चुलनीपिता (अणुव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास द्वारा अनेक प्रकार से आत्मा को भावित कर, बीस वर्ष तक श्रावकधर्म का पालन कर, ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं की भली-भांति आराधना कर एक मास की संलेखना और एक मास का अनशन सम्पन्न कर, आलोचना, प्रतिक्रमण कर, मरण-काल आने पर समाधिपूर्वक देहत्याग कर—यों उग्र तपश्चरण के फल स्वरूप) सौधर्म देवलोक में सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशान कोण में स्थित अरुणप्रभ विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहां उसकी आयु-स्थिति चार पल्योपम की बतलाई गई है। महाविदेह क्षेत्र में वह सिद्ध होगा—मोक्ष प्राप्त करेगा।

॥ निक्षेप[2] ॥

॥ सातवें अंग उपासकदशा का तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

---

१. एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव संपत्तेणं तच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

२. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशा के तृतीय अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

चौथा अध्ययन

सार : संक्षेप

वाराणसी नगरी में सुरादेव नामक गाथापति था। वह बहुत समृद्धिशाली था। छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं उसके निधान में थीं, छह करोड़ व्यापार में तथा छह करोड़ घर के वैभव में। उसकी पत्नी का नाम धन्या था।

शुभ संयोगवश एक बार भगवान् महावीर वाराणसी में पधारे—समवसरण हुआ। आनन्द की तरह सुरादेव ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया। वह धर्माराधना में उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

एक दिन की घटना है, सुरादेव पोषधशाला में ब्रह्मचर्य एवं पोषध स्वीकार किए उपासनारत था। आधी रात का समय हुआ था, एक देव उसके सामने प्रकट हुआ। उसके हाथ में तेज तलवार थी। उसने सुरादेव को उपासना से हट जाने के लिए बहुत डराया-धमकाया। न मानने पर उसने उसके तीनों पुत्रों की क्रमशः उसी प्रकार हत्या कर दी, जिस प्रकार चुलनीपिता के कथानक में देव ने उसके पुत्रों को मारा था। हर बार हर पुत्र के शरीर को पांच-पांच मास खंडों में काटा, उबलते पानी की कढ़ाही में खौलाया और वह उबलता मांस व रक्त सुरादेव पर छिड़का। पर, सुरादेव की दृढ़ता नहीं टूटी। वह निर्भीकता के साथ अपनी उपासना में लगा रहा।

देव ने सोचा, पुत्रों के प्रति रही ममता पर चोट करने से यह विचलित नहीं हो रहा है, इसलिए मुझे अब इसके शरीर की ही दुर्दशा करनी होगी। मनुष्य को शरीर से अधिक प्रिय कुछ भी नहीं होता, यह सोचकर देव ने सुरादेव को अत्यन्त कठोर शब्दों में कहा कि तुम्हारे सामने मैंने तुम्हारे पुत्रों को मार डाला, तुमने परवाह नहीं की। अब देखो, मैं तुम्हारी खुद की कैसी बुरी हालत करता हूं। फिर कहता हूं, तुम व्रतों का त्याग कर दो, नहीं तो मैं तुम्हारे शरीर में एक ही साथ दमा, खांसी, बुखार, जलन, कुक्षि-शूल, भगंदर, बवासीर, अजीर्ण, दृष्टि-रोग, शिरः-शूल, अरुचि, अक्षि-वेदना, कर्ण-वेदना, खुजली, उदर-रोग और कुष्ट—ये सोलह भयानक बीमारियां पैदा किए देता हूं। इन वीमारियों से तुम्हारा शरीर सड़ जायगा, इनकी बेहद पीड़ा से तुम जीर्ण हो जाओगे।

अपनी आंखों के सामने बेटों की हत्या देख, जो सुरादेव विचलित नहीं हुआ था, अपने पर आने वाले रोगों का नाम सुनते ही उसका मन कांप गया। यह सोचते ही कि मेरा शरीर इन भीषण रोगों से असीम वेदना-पीड़ित होकर जीवित ही मृत जैसा हो जायगा, सहसा उसका धैर्य टूट गया। वैसे रोगाक्रान्त जीवन की विभीषिका ने उसे दहला दिया। उसने सोचा, जो दुष्ट मुझे ऐसा बना देना चाहता है, उसे पकड़ लेना चाहिए। पकड़ने के लिए उसने हाथ फैलाए। वह तो देवमाया का षड्यन्त्र था, कैसे पकड़ में आता? देव आकाश में लुप्त हो गया। पोषधशाला का जो खंभा सुरादेव के सामने था, उसके हाथों में आ गया। सुरादेव हक्का-बक्का रह गया। वह समझ नहीं सका, यह क्या हुआ? वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा।

सुरादेव की पत्नी धन्या ने जब यह चिल्लाहट सुनी तो वह तुरन्त पोषधशाला में आई और

अपने पति से पूछने लगी—क्या बात है ? आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? इस पर सुरादेव ने वह सारी घटना धन्या को बतलाई। धन्या बड़ी बुद्धिमती थी। उसने अपने पति से कहा—आपको धर्म से डिगाने के लिए यह देव-उपसर्ग था। आपके पुत्र सकुशल हैं। आपकी देह में रोग पैदा करने की बात धमकी के सिवाय कुछ नहीं थी। भयभीत होकर आपने अपना व्रत खंडित कर दिया, यह दोष हुआ, प्रायश्चित्त लेकर आपको शुद्ध होना चाहिए। सुरादेव ने अपनी पत्नी की बात सहर्ष स्वीकार की। अपनी भूल के लिए आलोचना की, प्रायश्चित्त ग्रहण किया।

सुरादेव का उत्तरवर्ती जीवन चुलनीपिता की तरह धर्मोपासना में अधिकाधिक गतिशील रहा। उसने व्रतों का भली-भांति अनुसरण करते हुए बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया, ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं की सम्यक् आराधना की, एक मास की अन्तिम संलेखना और एक मास का अनशन सम्पन्न कर समाधि-पूर्वक देह-त्याग किया। सौधर्म देवलोक में अरुणकान्त विमान में वह देव-रूप में उत्पन्न हुआ।

चतुर्थ अध्ययन : सुरादेव

श्रमणोपासक सुरादेव

१५०. उक्खेवग्रो[1] चउत्थस्स ग्रज्झयणस्स। एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया। सुरादेवे गाहावई ग्रड्ढे। छ हिरण्ण-कोडीग्रो जाव (निहाण-पउत्ताग्रो, छ वुड्ढि-पउत्ताग्रो, छ पवित्थर-पउत्ताग्रो।) छ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। धन्ना भारिया।

सामी समोसढे। जहा ग्राणंदो तहेव पडिवज्जइ गिहि-धम्मं। जहा कामदेवो जाव[2] समणस्स भगवग्रो महावीरस्स धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

उपक्षेप[3]—उपोद्‌घातपूर्वक चतुर्थ ग्रध्ययन का प्रारम्भ यों है :—

ग्रार्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! उस काल—वर्तमान ग्रवसर्पिणी के चौथे ग्रारे के ग्रन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, वाराणसी नामक नगरी थी। कोष्ठक नामक चैत्य था। वहां के राजा का नाम जितशत्रु था। वहां सुरादेव नामक गाथापति था। वह ग्रत्यन्त समृद्ध था। छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं स्थायी पूंजी के रूप में उसके खजाने में थीं, (छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार-व्यवसाय में लगी थीं, छः करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव—धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद ग्रादि साधन-सामग्री में लगी थीं)। उसके छह गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में दस-दस हजार गायें थीं।) उसकी पत्नी का नाम धन्या था।

भगवान् महावीर पधारे—समवसरण हुग्रा। ग्रानन्द की तरह सुरादेव ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया। कामदेव की तरह वह भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के ग्रनुरूप उपासना-रत हुग्रा।

देव द्वारा पुत्रों की हत्या

१५१. तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स पुव्व-रत्तावरत्तकाल-समयंसि एगे देवे ग्रंतियं पाउब्भवित्था। से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव[4] ग्रसिं गहाय सुरादेवं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो ! सुरादेवा समणोवासया ! ग्रपत्थिय-पत्थिया। ४, जइ णं तुमं सीलाइं जाव[5] न भंजेसि, तो ते

---

१. जइ णं भंते ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं उवासगदसाणं तच्चस्स ग्रज्झयणस्स ग्रयमट्ठे पण्णत्ते, चउत्थस्स णं भंते ! ग्रज्झयणस्स के ग्रट्ठे पण्णत्ते ?

२. देखें सूत्र-संख्या ९२

३. ग्रार्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धि-प्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के तृतीय ग्रध्ययन का यदि यह ग्रर्थ—ग्राशय प्रतिपादित किया, तो भगवन् ! उन्होंने चतुर्थ ग्रध्ययन का क्या ग्रर्थ बतलाया ? (कृपया कहें।)

४. देखें सूत्र-संख्या ११६

५. देखें सूत्र-संख्या १०७

जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता पंच सोल्लए करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।

एवं मज्झिमयं, कणीयसं; एक्केक्के पंच सोल्लया। तहेव करेइ जहा चुलणीपियस्स, नवरं एक्केक्के पंच सोल्लया।

एक दिन की बात है, आधी रात के समय श्रमणोपासक सुरादेव के समक्ष एक देव प्रकट हुआ। उसने नीली, तेज धार वाली तलवार निकालकर श्रमणोपासक सुरादेव से कहा—मृत्यु को चाहने वाले श्रमणोपासक सुरादेव! यदि तुम आज शील, व्रत आदि का भंग नहीं करते हो तो मैं तुम्हारे बड़े बेटे को घर से उठा लाऊंगा। लाकर तुम्हारे सामने उसे मार डालूंगा। मारकर उसके पांच मांस-खण्ड करूंगा, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाऊंगा, उसके मांस और रक्त से तुम्हारे शरीर को सींचूंगा, जिससे तुम असमय में ही जीवन से हाथ धो बैठोगे।

इसी प्रकार उसने मंझले और छोटे लड़के को भी मार डालने, उनको पांच-पांच मांस-खंडों में काट डालने की धमकी दी। सुरादेव के अविचल रहने पर जैसा चुलनीपिता के साथ देव ने किया था, वैसा ही उसने किया, उसके पुत्रों को मार डाला। इतना भेद रहा, बहां देव ने तीन-तीन मांस खंड किये थे, यहां देव ने पांच-पांच मांस-खंड किए।

भीषण व्याधियों की धमकी

१५२. तए णं से देवे सुरादेवं समणोवासयं चउत्थं पि एवं वयासी—हं भो! सुरादेवा समणोवासया! अपत्थिय-पत्थिया ४! जाव[३] न परिच्चयसि, तो ते अज्ज सरीरंसि जमग-समगमेव सोलस-रोगायंके पक्खिवामि, तं जहा—सासे, कासे जाव (जरे, दाहे, कुच्छिसूले, भगंदरे, अरिसए, अजीरए, दिट्ठिसूले, मुद्धसूले, अकारिए, अच्छिवेयणा, कण्णवेयणा, कंडुए, उदरे) कोढे, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट जाव (-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि।

तब उस देव ने श्रमणोपासक सुरादेव को चौथी बार भी ऐसा कहा—मृत्यु को चाहने वाले श्रमणोपासक सुरादेव! यदि अपने व्रतों का त्याग नहीं करोगे तो आज मैं तुम्हारे शरीर में एक ही साथ श्वास—दमा, कास—खांसी, (ज्वर—बुखार, दाह-देह में जलन, कुक्षि-शूल—पेट में तीव्र पीड़ा, भगंदर—गुदा पर फोड़ा, अर्श—बवासीर, अजीर्ण—बदहजमी, दृष्टिशूल-नेत्र में शूल चुभने जैसी तेज पीड़ा, मूर्द्ध-शूल—मस्तक-पीड़ा, अकारक—भोजन में अरुचि या भूख न लगना, अक्षि-वेदना—आंख दुखना, कर्ण-वेदना—कान दुखना, कण्डू—खुजली, उदर-रोग—जलोदर आदि पेट की बीमारी तथा) कुष्ट—कोढ़, ये सोलह भयानक रोग उत्पन्न कर दूंगा, जिससे तुम आर्त ध्यान तथा विकट दुःख से पीड़ित होकर असमय में ही जीवन से हाथ धो बैठोगे।

१५३. तए णं से सुरादेवे समणोवासए जाव (तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए, अतत्थे, अणुव्विग्गे, अक्खुभिए, अचलिए, असंभंते, तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए) विहरइ। एवं देवो दोच्चंपि

३. देखें सूत्र-संख्या १०७

तच्चं पि भणइ जाव (जइ णं तुमं अज्ज सीलाइं, वयाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाणाइं, पोसहोववासाइं न छड्डेसि, न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज सरीरंसि जमग-समगमेव सोलस रोगायंके पक्खिवामि जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि।

श्रमणोपासक सुरादेव (उस देव द्वारा यों कहे जाने पर भी जब भयभीत, त्रस्त, उद्विग्न, क्षुभित, चलित तथा आकुल नहीं हुआ, चुपचाप—शान्त-भाव से) धर्म-ध्यान में लगा रहा तो उस देव ने दूसरी बार, तीसरी बार फिर वैसा ही कहा—(यदि तुम आज शील, व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान तथा पोषधोपवास का त्याग नहीं करते हो—भंग नहीं करते हो तो मैं तुम्हारे शरीर में एक ही साथ सोलह भयानक रोग पैदा कर दूंगा, जिससे तुम आर्तध्यान और विकट दुःख से पीड़ित होकर) असमय में ही जीवन से हाथ धो बैठोगे।

सुरादेव का क्षोभ

१५४. तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—अहो णं इमे पुरिसे अणारिए जाव[1] समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं जाव (साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता मम अग्गओ घाएइ, घाएत्ता पंच मंस-सोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता ममं गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ, जे णं ममं मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता मम अग्गओ घाएइ, घाएत्ता पंच मंस-सोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता मम गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचइ, जे णं ममं कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता मम अग्गओ घाएइ, घाएत्ता पंच मंस-सोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहेत्ता मम गायं मंसेण य सोणिएण य) आयंचइ, जे वि य इमे सोलस रोगायंका, ते वि य इच्छइ मम सरीरगंसि पक्खिवित्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए। से वि य आगासे उप्पइए। तेण य खंभे आसाइए, महया महया सद्देणं कोलाहले कए।

उस देव द्वारा दूसरी बार, तीसरी बार यों कहे जाने पर श्रमणोपासक सुरादेव के मन में ऐसा विचार आया, यह अधम पुरुष (जो मेरे बड़े लड़के को घर से उठा लाया, मेरे आगे उसकी हत्या की, उसके पांच मांस-खंड किए, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाया, उसके मांस और रक्त से मेरे शरीर को सींचा—छींटा, जो मेरे मंझले लड़के को घर से उठा लाया, मेरे आगे उसको मारा, उसके पांच मांस-खंड किए, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाया, उसके मांस और रक्त से मेरे शरीर को सींचा—छींटा, जो मेरे छोटे लड़के को घर से उठा लाया, मेरे सामने उसका वध किया, उसके पांच मांस-खंड किए, उसके मांस और रक्त से मेरे शरीर को सींचा—छींटा,) मेरे शरीर में सोलह भयानक रोग उत्पन्न कर देना चाहता है। अतः मेरे लिए यही श्रेयस्कर है, मैं इस पुरुष को पकड़ लूं। यों सोचकर वह पकड़ने के लिए उठा। इतने में वह देव आकाश में उड़ गया। सुरादेव के पकड़ने को फैलाए हाथों में खम्भा आ गया। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा।

१५५. तए णं सा धन्ना भारिया कोलाहलं सोच्चा, निसम्म, जेणेव सुरादेवे समणोवासए,

---

१. देखें सूत्र—संख्या १४५।

तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता एवं वयासी-किण्णं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं महया महया सद्देणं कोलाहले कए ?

सुरादेव की पत्नी धन्या ने जब यह कोलाहल सुना तो जहां सुरादेव था, वह वहां आई। आकर पति से बोली—देवानुप्रिय ! आप जोर-जोर से क्यों चिल्लाए ?

जीवन का उपसंहार

१५६. तए णं से सुरादेवे समणोवासए धन्नं भारियं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिए ! के वि पुरिसे, तहेव कहेइ जहा चुलणीपिया। धन्ना वि पडिभणइ, जाव[1] कणीयसं। नो खलु देवाणुप्पिया ! तुब्भं के वि पुरिसे सरीरंसि जमग-समगं सोलस रोगायंके पक्खिवइ, एस णं के वि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ। सेसं जहा चुलणीपियस्स तहा भणइ।

एवं सेसं जहा चुलणीपियस्स निरवसेसं जाव[2] सोहम्मे कप्पे अरुण-कंते विमाणे उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो[3]

।। सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं चउत्थं अज्झयणं समत्तं ।।

श्रमणोपासक सुरादेव ने अपनी पत्नी धन्या से सारी घटना उसी प्रकार कही, जैसे चुलनीपिता ने कही थी। धन्या बोली—देवानुप्रिय ! किसी ने तुम्हारे बड़े, मंझले और छोटे लड़के को नहीं मारा। न कोई पुरुष तुम्हारे शरीर में एक ही साथ सोलह भयानक रोग ही उत्पन्न कर रहा है। यह तो तुम्हारे लिए किसी ने उपसर्ग किया है। उसने और सब वैसा ही कहा, जैसा चुलनीपिता को कहा गया था।

आगे की सारी घटना चुलनीपिता की ही तरह है। अन्त में सुरादेव देह-त्याग कर सौधर्म-कल्प में अरुणकान्त विमान में उत्पन्न हुआ। उसकी आयु-स्थिति चार पल्योपम की बतलाई गई है। महाविदेह-क्षेत्र में वह सिद्ध होगा—मोक्ष प्राप्त करेगा।

।। निक्षेप[4] ।।

।। सातवें अंग उपासकदशा का चतुर्थ अध्ययन समाप्त ।।

---

१. देखें सूत्र—संख्या १५४।

२. देखें सूत्र—संख्या १४९।

३. एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

४. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशा के चौथे अध्ययन का यही अर्थ-भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

पांचवां अध्ययन

सार : संक्षेप

उत्तर भारत में आलभिका नामक नगरी थी शंखवननामक वहां उद्यान था। जितशत्रु वहां का राजा था। उस नगरी में चुल्लशतक नामक एक समृद्धिशाली गाथापति निवास करता था। उसकी छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं खजाने में सुरक्षित थीं, उतनी ही व्यापार में लगी थीं और उतनी ही घर के वैभव तथा उपकरण में उपयोग में आ रही थीं। दस-दस हजार गायों के छह गोकुल उसके यहां थे।

श्रमण भगवान् महावीर अपने जनपद-विहार के बीच एक बार आलभिका पधारे। अन्य लोगों की तरह चुल्लशतक भी उनके दर्शन हेतु पहुंचा। उनकी धर्म-देशना से प्रभावित हुआ और उसने गृहस्थ-धर्म या श्रावक-व्रत स्वीकार किए।

गृहस्थ में रहते हुए भी चुल्लशतक व्रतों की आराधना, धर्म की उपासना में पूरी रुचि लेता था। लोक और अध्यात्म का सुन्दर समन्वय उसके जीवन में था। व्रत, साधना, अभ्यास आदि वह यथाविधि, यथासमय करता रहता था। एक दिन वह पोषधशाला में ब्रह्मचर्य एवं पोषध-व्रत स्वीकार किए धर्मोपासना में तन्मय था। आधी रात का समय था, अचानक एक देव उसके सामने प्रकट हुआ। वह चुल्लशतक को साधना से विचलित करना चाहता था। चुलनीपिता के साथ जैसा घटित हुआ था, यहां भी इस देव के हाथों चुल्लशतक के साथ घटित हुआ। देव ने उसके तीनों पुत्रों को उसके देखते-देखते मार डाला, उनके सात-सात टुकड़े कर डाले। उनका रक्त और मांस उस पर छिड़का। पर, ममता और क्रोध दोनों से ही चुल्लशतक काफी ऊंचा उठा हुआ था। इसलिए वह अपने व्रत से नहीं डिगा। धर्म-ध्यान में तन्मय रहा।

देव ने तब यह सोचकर कि संसार में हर किसी की धन के प्रति अत्यन्त आसक्ति और ममता होती है; मनुष्य और सब सह जाता है, पर धन की चोट उसके लिए भारी पड़ती है, इसलिए मुझे अब इसके साथ ऐसा ही करना चाहिए। देव क्रुद्ध और कर्कश स्वर में चुल्लशतक से बोला—मान जाओ, अपने व्रतों को तोड़ दो, देख लो—यदि नहीं तोड़ोगे, तो मैं खजाने में रखी तुम्हारी छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं को घर से निकाल लाऊंगा और उन्हें आलभिका नगरी की सड़कों और चौराहों पर चारों तरफ बिखेर दूंगा। तुम अकिंचन और दरिद्र बन जाओगे। इतने व्याकुल और दुःखी हो जाओगे कि जीवित नहीं रह सकोगे ! चुल्लशतक ऐसा कहने पर भी धर्मसाधना में स्थिर रहा।

देव ने कड़कती आवाज में दूसरी बार ऐसा कहा, तीसरी बार ऐसा कहा। चुल्लशतक, जो अब तक उपासना में स्थिर था, सहसा चौंक पड़ा। उसके सारे शरीर में बिजली सी कौंध गई और आशंकित दरिद्रता का भयानक दृश्य उसकी आंखों के सामने नाचने लगा। वह घबरा गया। उसके मन में बार-बार आने लगा—इस जगत् में ऐसा कुछ नहीं है, जो धन से न सध सके। जिसके पास

धन होता है, उसी के मित्र होते हैं, उसी के बन्धु-बान्धव होते हैं, वही मनुष्य माना जाता है, उसी को सब बुद्धिमान् कहते हैं।[1]

धन की गर्मी एक विचित्र गर्मी है, जो मानव को ओजस्वी, तेजस्वी, साहसी—सब कुछ बनाए रखती है, उसके निकल जाते ही; वही इन्द्रियां, वही नाम, वही बुद्धि, वही वाणी—इन सबके रहते मनुष्य और ही कुछ हो जाता है।[2]

घबराहट में चुल्लशतक को यह भान नहीं रहा कि वह व्रत में है। इसलिए अपना धन नष्ट कर देने पर उतारू उस पुरुष पर उसको बड़ा क्रोध आया और वह हाथ फैलाकर उसे पकड़ने के लिए झपटा। पोषधशाला में खड़े खंभे के सिवाय उसके हाथ कुछ नहीं आया। देव अन्तर्धान हो गया। चुल्लशतक किंकर्त्तव्यविमूढ-सा बन गया। वह समझ नहीं सका, यह क्या घटित हुआ। व्याकुलता के कारण वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। चिल्लाहट सुनकर उसकी पत्नी बहुला वहां आई और जब उसने अपने पति से सारी बात सुनी तो बोली—यह आपकी परीक्षा थी। देवकृत उपसर्ग था। आप खूब दृढ रहे। पर, अन्त में फिसल गए। आपका व्रत भग्न हो गया। आलोचना, प्रत्यालोचना कर, प्रायश्चित्त स्वीकार कर आत्मशोधन करें। चुल्लशतक ने वैसा ही किया और भविष्य में धर्मोपासना में सदा सुदृढ बने रहने की प्रेरणा प्राप्त की।

चुल्लशतक का उत्तरवर्ती जीवन चुलनीपिता की तरह व्रताराधना में उत्तरोत्तर उन्नतिशील रहा। उसने अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत आदि की सम्यक् उपासना करते हुए बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया। ग्यारह श्रावक-प्रतिमाओं की भली-भांति आराधना की। एक मास की अन्तिम संलेखना अनशन और समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। सौधर्म देवलोक में अरुणसिद्ध विमान में वह देव-रूप में उत्पन्न हुआ।

—

१. न हि तद्विद्यते किञ्चिद्यदर्थेन न सिद्धयति।
यत्नेन मतिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत्॥
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके, यस्यार्थाः स च पण्डितः॥
पंचतन्त्र १.२,३

२. तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम,
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव,
अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्॥
हितोपदेश १.१२७

पाँचवां अध्ययन : चुल्लशतक

श्रमणोपासक चुल्लशतक

१५७. उक्खेवो पंचमस्स अज्झयणस्स। एवं खलु, जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं आलभिया नामं नयरी। संखवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया। चुल्लसए गाहावई अड्ढे जाव[1], छ हिरण्ण-कोडीओ जाव (निहाण-पउत्ताओ, छ वड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ,) छ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। बहुला भारिया।

सामी समोसढे। जहा आणंदो तहा गिहि-धम्मं पडिवज्जइ। सेसं जहा कामदेवो जाव[2] धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

उत्क्षेप[3]—उपोद्‌घातपूर्वक पांचवें अध्ययन का आरम्भ यों है :—

आर्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान महावीर सदेह विद्यमान थे, आलभिका नामक नगरी थी। वहां शंखवन उद्यान था। वहां के राजा का नाम जितशत्रु था। उस नगरी में चुल्लशतक नामक गाथापति निवास करता था। वह बड़ा समृद्ध एवं प्रभावशाली था। (छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं उसके खजाने में रखी थीं, छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार में लगी थीं तथा छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव एवं साज-सामान में लगी थीं।) उसके छह गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में दस-दस हजार गायें थीं। उसकी पत्नी का नाम बहुला था।

भगवान् महावीर पधारे—समवसरण हुआ। आनन्द की तरह चुल्लशतक ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया। आगे का घटना-क्रम कामदेव की तरह है। वह उसी की तरह भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप उपासना-रत हुआ।

देव द्वारा विघ्न

१५८. तए णं तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स पुव्व-रत्तावरत्तकाल-समयंसि एगे देवे अंतियं जाव[4] असिं गहाय एवं वयासी—हं भो ! चुल्लसयगा समणोवासया। जाव[5] न भंजेसि तो ते अज्ज जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि। एवं जहा चुलणीपियं, नवरं एक्केक्के सत्त मंससोल्लया

---

१. जइ णं भंते ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं उवासगदसाणं चउत्थस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, पंचमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२. देखें सूत्र-संख्या ३

३. आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के चतुर्थ अध्ययन का यदि अर्थ—भाव प्रतिपादित किया तो भगवन् ! उन्होंने पंचम अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया ? (कृपया कहें।)

४. देखें सूत्र-संख्या ११६

५. देखें सूत्र-संख्या १०७

जाव[1] कणीयसं जाव[2] आयंचामि ।

एक दिन की बात है, आधी रात के समय चुल्लशतक के समक्ष एक देव प्रकट हुआ। उसने तलवार निकाल कर कहा—अरे श्रमणोपासक चुल्लशतक! यदि तुम अपने व्रतों का त्याग नहीं करोगे तो मैं आज तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को घर से उठा लाऊंगा।

चुलनीपिता के साथ जैसा हुआ था, वैसा ही घटित हुआ। देव ने बड़े, मंझले तथा छोटे—तीनों पुत्रों को क्रमशः मारा, मांस-खण्ड किए। मांस और रक्त से चुल्लशतक की देह को छींटा।

इतना ही भेद रहा, वहां देव ने पांच-पांच मांस-खंड किए थे, यहां देव ने सात-सात मांस-खंड किए।

१५९. तए णं से चुल्लसयए समणोवासए जाव[3] विहरइ।

श्रमणोपासक चुल्लशतक निर्भय भाव से उपासनारत रहा।

सम्पत्ति-विनाश की धमकी

१६०. तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं चउत्थं पि एवं वयासी—हं भो! चुल्लसयगा! समणोवासया! जाव न भंजेसि तो ते अज्ज जाओ इमाओ छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वुड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, ताओ साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता आलभियाए नयरीए सिंघाडय जाव (तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-) पहेसु सव्वओ समंता विप्पइरामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।

देव ने श्रमणोपासक चुल्लशतक को चौथी बार कहा—अरे श्रमणोपासक चुल्लशतक! तुम अब भी अपने व्रतों को भंग नहीं करोगे तो मैं खजाने में रखी तुम्हारी छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं, व्यापार में लगी तुम्हारी छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं तथा घर के वैभव और साज-सामान में लगी छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं को ले आऊंगा। लाकर आलभिका नगरी के शृंगाटक-तिकोने स्थानों, त्रिक—तिराहों, चतुष्क—चौराहों, चत्वर—जहां चार से अधिक रास्ते मिलते हों—ऐसे स्थानों, चतुर्मुख—जहाँ से चार रास्ते निकलते हों, ऐसे स्थानों तथा महापथ—बड़े रास्तों या राजमार्गों में सब तरफ—चारों ओर बिखेर दूंगा। जिससे तुम आर्तध्यान एवं विकट दुःख से पीडित होकर असमय में ही जीवन से हाथ धो बैठोगे।

१६१. तए णं से चुल्लसयए समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[4] विहरइ।

---

१. देखें सूत्र-संख्या १५४
२. देखें सूत्र-संख्या १५४
३. देखें सूत्र-संख्य ९८
४. देखें सूत्र-संख्या १५३

उस देव द्वारा यों कहे जाने पर भी श्रमणोपासक चुल्लशतक निर्भीकतापूर्वक अपनी उपासना में लगा रहा।

१६२. तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं अभीयं जाव[1] पासइ, पासित्ता दोच्चं पि तच्चं पि तहेव भणइ, जाव ववरोविज्जसि।

जब उस देव ने श्रमणोपासक चुल्लशतक को यों निर्भीक देखा तो उससे दूसरी बार, तीसरी बार फिर वैसा ही कहा और धमकाया—अरे ! प्राण खो बैठोगे !

विचलन : प्रायश्चित्त

१६३. तए णं तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए ४—अहो णं इमे पुरिसे अणारिए जहा चुलणीपिया तहा चिंतेइ जाव[2] कणीयसं जाव[3] आयंचइ, जाओ वि य णं इमाओ ममं छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, ताओ वि य णं इच्छइ ममं साओ गिहाओ नीणेत्ता, आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव[4] विप्पइरित्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए, जहा सुरादेवो। तहेव भारिया पुच्छइ, तहेव कहेइ।

उस देव ने जब दूसरी बार, तीसरी बार श्रमणोपासक चुल्लशतक को ऐसा कहा, तो उसके मन में चुलनीपिता की तरह विचार आया, इस अधम पुरुष ने मेरे बड़े, मंझले और छोटे-तीनों पुत्रों को बारी-बारी से मार कर, उनके मांस और रक्त से सींचा। अब यह मेरी खजाने में रखी छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं, व्यापार में लगी छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं तथा घर के वैभव एवं साज-सामान में लगी छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं को निकाल लाना चाहता है और उन्हें आलभिका नगरी के तिकोने आदि स्थानों में बिखेर देना चाहता है। इसलिए, मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं इस पुरुष को पकड़ लूं। यों सोचकर वह उसे पकड़ने के लिए सुरादेव की तरह दौड़ा।

आगे वैसा ही घटित हुआ, जैसा सुरादेव के साथ घटित हुआ था। सुरादेव की पत्नी की तरह उसकी पत्नी ने भी उससे सब पूछा। उसने सारी बात बतलाई।

दिव्य-गति

१६४. सेसं जहा चुलणीपियस्स जाव[5] सोहम्मे कप्पे अरुणसिद्धे विमाणे उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। सेसं तहेव जाव (से णं भंते ! चुल्लसयए ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गमिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ? गोयमा !) महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ९७
२. देखें सूत्र-संख्या १५४
३. देखें सूत्र-संख्या १५४
४. देखें सूत्र-संख्या १६०
५. देखें सूत्र-संख्या १४९

निक्खेवो[1]

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पंचमं अज्झयणं समत्तं ॥

आगे की घटना चुलनीपिता की तरह है। देह-त्याग कर चुल्लशतक सौधर्म देवलोक में अरुण-सिद्ध विमान में देव के रूप में उत्पन्न हुआ। वहां उसकी आयुस्थिति चार पल्योपम की बतलाई गई है। आगे की घटना भी वैसी ही है। (भगवन्! चुल्लशतक उस देवलोक से आयु, भव एवं स्थिति का क्षय होने पर देव-शरीर का त्याग कर कहाँ जायगा? कहां उत्पन्न होगा? गौतम!) वह महाविदेहक्षेत्र में सिद्ध होगा—मोक्ष प्राप्त करेगा।

॥ निक्षेप[2] ॥

॥ सातवें अंग उपासकदशा का पांचवां अध्ययन समाप्त ॥

---

१. एवं खलु जम्बू! समणेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

२. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने उपासकदशा के पांचवें अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

छठा अध्ययन

सार : संक्षेप

काम्पिल्यपुर में कुंडकौलिक नामक गाथापति निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम पूषा था। काम्पिल्यपुर भारत का एक प्राचीन नगर था। भगवान् महावीर के समय में वह बहुत समृद्ध एवं प्रसिद्ध था। उत्तर प्रदेश में बूढ़ी गंगा के किनारे बदायूं और फर्रुखाबाद के बीच कम्पिल नामक आज भी एक गांव है, जो इतिहासकारों के अनुसार काम्पिल्यपुर का वर्तमान रूप है। काम्पिल्यपुर आगम-वाङ्मय में अनेक स्थानों पर संकेतित, भगवान् महावीर के समसामयिक राजा जितशत्रु के राज्य में था। वहाँ सहस्राम्रवन नामक उद्यान था। संभवतः आम के हजार पेड़ होने के कारण उद्यानों के ऐसे नाम रखे जाते रहे हों।

गाथापति कुंडकौलिक एक समृद्ध एवं सुखी गृहस्थ था। उसकी अठारह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं में छह करोड़ मुद्राएं सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रखी थीं, छह करोड़ व्यापार में एवं छह करोड़ घर के वैभव तथा साज-सामान में लगी थीं। दस-दस हजार गायों के छह गोकुल उसके पास थे।

ऐसा प्रसंग बना, एक समय भगवान् महावीर काम्पिल्यपुर पधारे। अन्यान्य लोगों की तरह गाथापति कुंडकौलिक भी भगवान् के सान्निध्य में पहुंचा, धर्मदेशना सुनी, प्रभावित हुआ, श्रावक-धर्म स्वीकार किया। जहां जीवन में, अब से पूर्व लौकिक भाव था, उसमें अध्यात्म का समावेश हुआ। कुंडकौलिक स्वीकृत व्रतों का भली-भांति पालन करता हुआ एक उत्तम धार्मिक गृहस्थ का जीवन जीने लगा।

एक दिन की बात है, वह दोपहर के समय धर्मोपासना की भावना से अशोक वाटिका में गया। वहां अपनी अंगूठी और उत्तरीय उतार कर पृथ्वीशिलापट्टक पर रखे, स्वयं धर्म-ध्यान में संलग्न हो गया। उसकी श्रद्धा को विचलित करने के लिए एक देव वहां प्रकट हुआ। उसका ध्यान बटाने के लिए देव ने वह अंगूठी और दुपट्टा उठा लिया और आकाश में स्थित हो गया। देव ने कुंडकौलिक से कहा—देखो, मंखलिपुत्र गोशालक के धर्म-सिद्धान्त बहुत सुन्दर हैं। वहां प्रयत्न, पुरुषार्थ, कर्म—इनका कोई महत्त्व नहीं है। जो कुछ होने वाला है, सब निश्चित है। भगवान् महावीर के धार्मिक सिद्धान्त उत्तम नहीं हैं। वहां तो उद्यम, प्रयत्न, पुरुषार्थ—सबका स्वीकार है, और जो कुछ होता है, वह सब उनके अनुसार नियत नहीं है। अब दोनों का अन्तर तुम स्वयं देख लो। गोशालक के सिद्धान्त के अनुसार पुरुषार्थ, प्रयत्न आदि जो कुछ किया जाता है, सब निरर्थक है, करने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि, अन्त में होगा वही, जो होने वाला है।

यह सुनकर कुंडकौलिक बोला—देव ! जरा एक बात बतलाओ। तुमने यह जो दिव्य ऋद्धि, द्युति, कान्ति, वैभव, प्रभाव प्राप्त किया है, वह सब क्या पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से प्राप्त किया अथवा अपुरुषार्थ व अप्रयत्न से ? क्या प्रयत्न एवं पुरुषार्थ किए बिना ही यह सब पाया है ?

देव बोला—कुंडकौलिक ! यह मैंने बिना पुरुषार्थ और बिना प्रयत्न ही पाया है।

इस पर कुंडकौलिक ने कहा—देव ! यदि ऐसा हुआ है तो बतलाओ, जो अन्य प्राणी पुरुषार्थ एवं प्रयत्न नहीं करते रहे हैं, वे तुम्हारी तरह देव क्यों नहीं हुए ? यदि तुम कहो कि यह

दिव्य ऋद्धि एवं वैभव तुम्हें पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से मिला है, तो फिर तुम गोशालक के सिद्धान्त को, जिसमें पुरुषार्थ व प्रयत्न का स्वीकार नहीं है, सुन्दर कैसे कह सकते हो ? और भगवान् महावीर के सिद्धान्त को, जिसमें पुरुषार्थ व प्रयत्न का स्वीकार है, असुन्दर कैसे बतला सकते हो ? तुम्हारा कथन मिथ्या है।

कुंडकौलिक का युक्तियुक्त एवं तर्कपूर्ण कथन सुनकर देव से कुछ उत्तर देते नहीं बना। वह सहम गया। उसने वह अंगूठी एवं दुपट्टा चुपचाप पृथ्वीशिलापट्टक पर रख दिया और अपना सा मुँह लिए वापस लौट गया।

शुभ संयोगवश भगवान् महावीर अपने जनपद-विहार के बीच पुनः काम्पिल्यपुर पधारे। ज्योंही कुंडकौलिक को ज्ञात हुआ, वह भगवान् को वंदन करने गया। उनका सान्निध्य प्राप्त किया, धर्म-देशना सुनी।

भगवान् महावीर तो सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी थे। जो कुछ घटित हुआ था, उन्हें सब ज्ञात था। उन्होंने कुंडकौलिक को सम्बोधित कर अशोकवाटिका में घटित सारी घटना बतलाई और उससे पूछा—क्यों ? क्या यह सब घटित हुआ ? कुंडकौलिक ने अत्यन्त विनय और आदरपूर्वक कहा—प्रभो ! आप सब कुछ जानते हैं। जैसा आपने कहा—अक्षरशः वैसा ही हुआ।

कुंडकौलिक की धार्मिक आस्था और तत्त्वज्ञता पर भगवान् प्रसन्न थे। उन्होंने उसे वर्धापित करते हुए कहा—कुंडकौलिक तुम धन्य हो, तुमने बहुत अच्छा किया।

वहाँ उपस्थित साधु-साध्वियों को प्रेरणा देने हेतु भगवान् ने उनसे कहा—गृहस्थ में रहते हुए भी कुंडकौलिक कितना सुयोग्य तत्त्ववेत्ता है ! इसने अन्य मतानुयायी को युक्ति और न्याय से निरुत्तर कर दिया।

भगवान् ने यह आशा व्यक्त की कि बारह अंगों का अध्ययन करने वाले साधु-साध्वी तो ऐसा करने में सक्षम हैं ही। उनमें तो ऐसी योग्यता होनी ही चाहिए।

कुंडकौलिक की घटना को इतना महत्त्व देने का भगवान् का यह अभिप्राय था, प्रत्येक धर्मोपासक अपने धर्म-सिद्धान्तों पर दृढ तो रहे ही, साथ ही साथ उसे अपने सिद्धान्तों का ज्ञान भी हो तथा उन्हें औरों के समक्ष उपस्थित करने की योग्यता भी, ताकि उनके साथ धार्मिक चर्चा करने वाले अन्य मतानुयायी व्यक्ति उन्हें प्रभावित न कर सकें। प्रत्युत उनके युक्तियुक्त एवं तर्कपूर्ण विश्लेषण पर वे निरुत्तर हो जाएं। वास्तव में भगवान् महावीर द्वारा सभी धर्मोपासकों को तत्त्वज्ञान में गतिमान् रहने की यह प्रेरणा थी।

कुंडकौलिक भगवान् को वंदन, नमन कर वापस अपने स्थान पर लौट आया। भगवान् महावीर अन्य जनपदों में विहार कर गए। कुंडकौलिक उत्तरोत्तर साधना-पथ पर अग्रसर होता रहा। यों चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। पन्द्रहवें वर्ष उसने अपने बड़े पुत्र को गृहस्थ एवं परिवार का उत्तरदायित्व सौंप कर अपने आपको सर्वथा साधना में लगा दिया। उसके परिणाम उत्तरोत्तर पवित्र होते गए। उसने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की उपासना की। अन्ततः एक मास की संलेखना और एक मास के अनशन द्वारा समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। वह अरुणध्वज विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ है।

छठा अध्ययन : कुंडकौलिक

श्रमणोपासक कुंडकौलिक

१६५. छट्ठस्स उक्खेवओ[1]। एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं कम्पिल्लपुरे नयरे, सहस्संबवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया। कुंडकोलिए गाहावई। पूसा भारिया। छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वुड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, छ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं।

सामी समोसढे। जहा कामदेवो तहा सावयधम्मं पडिवज्जइ। सा चेव वत्तव्वया जाव[2] पडिलाभेमाणे विहरइ।

उपक्षेप[3]—उपोद्घातपूर्वक छठे अध्ययन का प्रारम्भ यों है—

आर्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, काम्पिल्यपुरनामक नगर था। वहां सहस्राम्रवन नामक उद्यान था। जितशत्रु वहां का राजा था। उस नगर में कुंडकौलिक नामक गाथापति निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम पूषा था। छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं सुरक्षित धन के रूप में उसके खजाने में थीं, छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार-व्यवसाय में लगी थीं, छह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव—धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि साधन-सामग्री में लगी थीं। उसके छह गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में दस-दस हजार गायें थीं।

भगवान् महावीर पधारे—समवसरण हुआ। कामदेव की तरह कुंडकौलिक ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

श्रमण निर्ग्रन्थों को शुद्ध आहार-पानी आदि देते हुए धर्माराधना में निरत रहने तक का घटनाक्रम पूर्ववर्ती वर्णन जैसा ही है। यों कुण्डकौलिक धर्म की उपासना में निरत था।

विवेचन

काम्पिल्यपुर भारतवर्ष का एक प्राचीन नगर था। महाभारत आदिपर्व (१३७·७३), उद्योग-पर्व (१८९·१३, १९२·१४), शान्तिपर्व (१३९·५) में काम्पिल्य का उल्लेख आया है। आदिपर्व और उद्योगपर्व के अनुसार यह उस समय के दक्षिण पांचाल प्रदेश का एक नगर था। यह राजा द्रुपद की राजधानी था। द्रौपदी का स्वयंवर यहीं हुआ था।

नायाधम्मकहाओ (१६वें अध्ययन) में भी पांचाल देश के राजा द्रुपद के यहां काम्पिल्यपुर

---

१. जइ णं भंते ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं उवासगदसाणं पंचमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, छट्ठस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२. देखें सूत्र—संख्या ६४

३. आर्य सुधर्मा ने जम्बू से पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के पांचवें अध्ययन का यदि यह अर्थ—भाव प्रतिपादित किया तो भगवन् ! उन्होंने छठे अध्ययन का क्या अर्थ—भाव बतलाया ? (कृपया कहें।)

में द्रौपदी के जन्म आदि का वर्णन है।

इस समय यह बदायूं और फर्रुखाबाद के बीच बूढ़ी गंगा के किनारे कम्पिल नामक ग्राम के रूप में अवस्थित है। कभी यह जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा था। आगमों में प्राप्त संकेतों से प्रकट होता है, भगवान् महावीर के समय में यह बहुत ही समृद्ध नगर था।

अशोक-वाटिका में ध्यान-निरत

१६६. तए णं से कुंडकोलिए समणोवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्ह-कालसमयंसि जेणेव असोगवणिया, जेणेव पुढवि-सिला-पट्टए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता नाम-मुद्दगं च उत्तरिज्जगं च पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ, ठवेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

एक दिन श्रमणोपासक कुंडकौलिक दोपहर के समय अशोक-वाटिका में गया। उसमें जहां पृथ्वी-शिलापट्टक था, वहां पहुंचा। अपने नाम से अंकित अंगूठी और दुपट्टा उतारा। उन्हें पृथ्वी-शिलापट्टक पर रखा। रखकर, श्रमण भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप उपासना-रत हुआ।

देव द्वारा नियतिवाद का प्रतिपादन

१६७. तए णं तस्स कुंडकोलियस्स समणोवासयस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था।

श्रमणोपासक कुंडकौलिक के समक्ष एक देव प्रकट हुआ।

१६८. तए णं से देवे नाम-मुद्दं च उत्तरिज्जं च पुढवि-सिला-पट्टयाओ गेण्हइ, गेण्हित्ता सखिंखिणि अंतलिक्ख-पडिवन्ने कुंडकोलियं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो! कुंडकोलिया! समणोवासया! सुन्दरी णं देवाणुप्पिया! गोसालस्स मंखली-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती-नत्थि उट्ठाणे इ वा, कम्मे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कार-परक्कमे इ वा, नियया सव्व-भावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती—अत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव (कम्मे इ वा, बले इ वा, पुरिसक्कार-) परक्कमे इ वा, अणियया सव्व-भावा।

उस देव ने कुंडकौलिक की नामांकित मुद्रिका और दुपट्टा पृथ्वीशिलापट्टक से उठा लिया। वस्त्रों में लगी छोटी-छोटी घंटियों की झनझनाहट के साथ वह आकाश में अवस्थित हुआ, श्रमणोपासक कुंडकौलिक से बोला—कुंडकौलिक! देवानुप्रिय! मंखलिपुत्र गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा सुन्दर है। उसके अनुसार उत्थान—साध्य के अनुरूप ऊर्ध्वगामी प्रयत्न, कर्म, बल—दैहिक शक्ति, वीर्य—आन्तरिक शक्ति, पुरुषकार—पौरुष का अभिमान, पराक्रम—पौरुष के अभिमान के अनुरूप उत्साह एवं ओजपूर्ण उपक्रम—इनका कोई स्थान नहीं है। सभी भाव—होनेवाले कार्य नियत—निश्चित है। उत्थान (कर्म, बल, वीर्य, पौरुष) पराक्रम इन सबका अपना अस्तित्व है, सभी भाव नियत नहीं हैं—भगवान् महावीर की यह धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-प्ररूपणा असुन्दर या अशोभन है।

विवेचन

मंखलिपुत्र गोशालक का भगवती सूत्र के १५वें शतक में विस्तार से वर्णन है। आगमोत्तर साहित्य में भी आवश्यक-निर्युक्ति आदि में उससे सम्बद्ध घटनाओं का उल्लेख है। बौद्ध साहित्य में मज्झिमनिकाय, अंगुत्तर निकाय, संयुत्त निकाय आदि ग्रन्थों में उसका वर्णन है। दीघनिकाय पर बुद्धघोष द्वारा रचित सुमंगलविलासिनी टीका के 'सामञ्ञफलसुत्तवण्णन' में गोशालक के सिद्धान्तों की विशद चर्चा है। गोशालक भगवान् महावीर के समसामयिक अवैदिक परम्परा के छह प्रमुख आचार्यों में था।

भगवती सूत्र में उल्लेख है, मंख (डाकोत) जातीय मंखलि नामक एक व्यक्ति था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। मंखलि भिक्षोपजीवी था। वह इस निमित्त एक चित्रपट हाथ में लिए रहता था। अपनी गर्भवती पत्नी भद्रा के साथ भिक्षार्थ घूमता हुआ वह एक बार सरवण नामक गांव में पहुंचा। वहां और स्थान न मिलने से वह चातुर्मास व्यतीत करने के लिए गोवहुलनामक ब्राह्मण की गोशाला में टिका। गर्भकाल पूरा होने पर भद्रा ने एक सुन्दर एवं सुकुमार शिशु को जन्म दिया। गोबहुल की गोशाला में जन्म लेने के कारण शिशु का नाम गोशाल या गोशालक रखा गया।

गोशालक क्रमशः बड़ा हुआ, पढ़-लिखकर योग्य हुआ। वह भी स्वतन्त्र रूप से चित्रपट हाथ में लिए भिक्षा द्वारा अपनी आजीविका चलाने लगा।

एक बार भगवान् महावीर राजगृह के बाहर नालन्दा के बुनकरों की तन्तुवायशाला के एक भाग में अपना चातुर्मासिक प्रवास कर रहे थे। संयोगवश, गोशालक भी वहां पहुंचा। अन्य स्थान न मिलने पर उसने उसी तन्तुवायशाला में चातुर्मास किया। वहां रहते वह भगवान् के अनुपम अतिशय-शाली व्यक्तित्व तथा समय-समय पर घटित दिव्य घटनाओं से विशेष प्रभावित हुआ। उसने भगवान् के पास दीक्षित होना चाहा। भगवान् ने उसे दीक्षा देना स्वीकार नहीं किया। जब उसने आगे भी निरन्तर अपना प्रयास चालू रखा और पीछे ही पड़ गया, तब भगवान् ने उसे शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया। वह छह वर्ष तक भगवान् के साथ रहा। उनसे विपुल तेजोलेश्या प्राप्त की, फिर वह भगवान् से पृथक् हो गया। स्वयं अपने को अर्हत्, तीर्थंकर, जिन और केवली कहने लगा।

आगे चलकर एक ऐसा प्रसंग बना, द्वेष एवं जलन वश उसने भगवान् पर तेजोलेश्या का प्रक्षेप किया। सर्वथा सम्पूर्ण रूप में अहिंसक होने के कारण भगवान् समभाव से उसे सह गए। तेजोलेश्या भगवान् महावीर को पराभूत नहीं कर सकी। वापस लौटी, गोशालक की देह में प्रविष्ट हो गई। गोशालक पित्तज्वर और घोर दाह से युक्त हो सात दिन बाद मर गया।

भगवती में आए वर्णन का यह अति संक्षिप्त सारांश है।

प्रस्तुत प्रसंग में आई कुंडकौलिक की घटना तब की है, जब गोशालक भगवान् महावीर से पृथक् था तथा अपने को अर्हत्, जिन, केवली कहता हुआ जनपद विहार करता था।

कुंडकौलिक का प्रश्न

१६६. तए णं से कुंडकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—जइ णं देवा! सुन्दरी गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती-नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव (कम्मे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कार-परक्कमे इ वा,) नियया सव्व-भावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

धम्मपण्णत्ती-अत्थि उट्ठाणें इ वा जाव[1] अणियया सव्व-भावा। तुमे णं देवा! इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी, दिव्वा देव-ज्जुई, दिव्वे देवाणुभावे किणा लद्धे, किणा पत्ते, किणा अभिसमण्णागए? किं उट्ठाणेणं जाव (कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं) पुरिसक्कारपरक्कमेणं? उदाहु अणुट्ठाणेणं जाव (अकम्मेणं, अबलेणं, अवीरिएणं) अपुरिसक्कारपरक्कमेणं?

तब श्रमणोपासक कुंडकौलिक ने देव से कहा—उत्थान (कर्म, बल, वीर्य, पौरुष एवं पराक्रम) का कोई अस्तित्व नहीं है, सभी भाव नियत हैं—गोशालक की यह धर्म-शिक्षा यदि उत्तम है और उत्थान आदि का अपना महत्त्व है, सभी भाव नियत नहीं है—भगवान् महावीर की यह धर्म-प्ररूपणा अनुत्तम है—अच्छी नहीं है, तो देव! तुम्हें जो ऐसी दिव्य ऋद्धि, द्युति तथा प्रभाव उपलब्ध, संप्राप्त और स्वायत्त है, वह सब क्या उत्थान (कर्म, बल, वीर्य), पौरुष और पराक्रम से प्राप्त हुआ है, अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपौरुष या अपराक्रम से? अर्थात् कर्म, बल आदि का उपयोग न करने से ये मिले हैं?

देव का उत्तर

१७०. तए णं से देवे कुंडकोलियं समणोवासयं एवं वयासी - एवं खलु देवाणुप्पिया! मए इमेयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेणं जाव[2] अपुरिसक्कारपरक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया।

वह देव श्रमणोपासक कुंडकौलिक से बोला—देवानुप्रिय! मुझे यह दिव्य ऋद्धि, द्युति एवं प्रभाव—यह सब बिना उत्थान, पौरुष एवं पराक्रम से ही उपलब्ध हुआ है।

कुंडकौलिक द्वारा खंडन

१७१. तए णं से कुंडकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—जइ णं देवा! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेणं जाव[3] अपुरिसक्कार-परक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया? जेसिं णं जीवाणं नत्थि उट्ठाणे इ वा, परक्कमे इ वा, ते किं न देवा? अह णं, देवा! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ उट्ठाणेणं जाव[4] परक्कमेणं लद्धा, पत्ता, अभिसमण्णागया, तो जं वदसि—सुन्दरी णं गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्मपण्णत्ती—नत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव[5] नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती-अत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव[6] अणियया सव्व-भावा, तं ते मिच्छा।

तब श्रमणोपासक कुंडकौलिक ने उस देव से कहा—देव! यदि तुम्हें यह दिव्य ऋद्धि प्रयत्न, पुरुषार्थ, पराक्रम आदि किए बिना ही प्राप्त हो गई, तो जिन जीवों में उत्थान, पराक्रम आदि

---

१. देखें सूत्र—संख्या १६८
२. देखें सूत्र—संख्या १६९
३. देखें सूत्र—संख्या १६९
४. देखें सूत्र—संख्या १६९
५. देखें सूत्र—संख्या १६९
६. देखें सूत्र—संख्या १६८

नहीं हैं, वे देव क्यों नहीं हुए ? देव ! तुमने यदि दिव्य ऋद्धि उत्थान, पराक्रम आदि द्वारा प्राप्त की है तो "उत्थान आदि का जिसमें स्वीकार नहीं है, सभी भाव नियत हैं, गोशालक की यह धर्म-शिक्षा सुन्दर है तथा जिसमें उत्थान आदि का स्वीकार है, सभी भाव नियत नहीं है, भगवान् महावीर की वह शिक्षा असुन्दर है" तुम्हारा यह कथन असत्य है ।

देव की पराजय

१७२. तए णं से देवे कुंडकोलिएणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिए, जाव (कंखिए, विइगिच्छा-समावन्ने,) कलुस-समावन्ने नो संचाएइ कुंडकोलियस्स समणोवासयस्स किंचि पामोक्ख-माइक्खित्तए ; नाम-मुद्दयं च उत्तरिज्जयं च पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ, ठवेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए, तामेव दिसिं पडिगए ।

श्रमणोपासक कुंडकौलिक द्वारा यों कहे जाने पर वह देव शंका (कांक्षा व संशय) युक्त तथा कालुष्य युक्त—ग्लानि युक्त या हतप्रभ हो गया, कुछ उत्तर नहीं दे सका । उसने कुंडकौलिक की नामांकित अंगूठी और दुपट्टा वापस पृथ्वीशिलापट्टक पर रख दिया तथा जिस दिशा से आया था, वह उसी दिशा की ओर लौट गया ।

भगवान् द्वारा कुंडकौलिक की प्रशंसा : श्रमण-निर्ग्रन्थों को प्रेरणा

१७३. तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे ।

उस काल और उस समय भगवान् महावीर का काम्पिल्यपुर में पदार्पण हुआ ।

१७४. तए णं से कुंडकोलिए समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे हट्ठ जहा कामदेवो तहा निग्गच्छइ जाव[1] पज्जुवासइ । धम्मकहा ।

श्रमणोपासक कुंडकौलिक ने जब यह सब सुना तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और भगवान् के दर्शन के लिए कामदेव की तरह गया, भगवान् की पर्युपासना की, धर्म-देशना सुनी ।

१७५. 'कुंडकोलिया !' इ समणे भगवं महावीरे कुंडकोलियं समणोवासयं एवं वयासी— से नूणं कुंडकोलिया ! कल्लं तुब्भं पुव्वावरण्ह-काल-समयंसि असोग-वणियाए एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था । तए णं से देवे नाम-मुद्दं च तहेव जाव (नो संचाएइ तुब्भे किंचि पामोक्खमाइक्खित्तए, नाममुद्दगं च उत्तरिज्जगं च पुढविसिलापट्टए ठवेइ, ठवेत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए, तामेव दिसं) पडिगए । से नूणं कुंडकोलिया ! अट्ठे समट्ठे ? हन्ता अत्थि । तं धन्नेसि णं तुमं कुडकोलिया ! जहा कामदेवो ।

अज्जो ! इ समणे भगवं महावीरे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी— जइ ताव, अज्जो ! गिहिणो गिहिमज्झावसंता णं अन्न-उत्थिए अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य वागरणेहि य निप्पट्ठ-पसिणवागरणे करेंति, सक्का पुणाइं, अज्जो ! समणेहिं निग्गंथेहिं

१. देखें सूत्र—संख्या ११४

दुवालसंगं गणि-पिडगं अहिज्जमाणेहिं अन्न-उत्थिया अट्ठेहि य जाव (हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य वागरणेहि य) निप्पट्ठ-पसिणवागरणा करित्तए।

भगवान् महावीर ने श्रमणोपासक कुंडकौलिक से कहा—कुंडकौलिक! कल दोपहर के समय अशोकवाटिका में एक देव तुम्हारे समक्ष प्रकट हुआ। वह तुम्हारी नामांकित अंगूठी और दुपट्टा लेकर आकाश में चला गया। आगे जैसा घटित हुआ था, भगवान् ने बतलाया। (जब वह देव तुमको कुछ उत्तर नहीं दे सका तो तुम्हारी नामांकित अंगूठी और दुपट्टा वापस रख कर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा की ओर लौट गया।)

कुंडकौलिक! क्या यह ठीक है? कुंडकौलिक ने कहा—भगवन्! ऐसा ही हुआ। तब भगवान् ने जैसा कामदेव से कहा था, उसी प्रकार उससे कहा—कुंडकौलिक! तुम धन्य हो।

श्रमण भगवान् महावीर ने उपस्थित श्रमणों और श्रमणियों को सम्बोधित कर कहा—आर्यो! यदि घर में रहने वाले गृहस्थ भी अन्य मतानुयायियों को अर्थ, हेतु, प्रश्न, युक्ति तथा उत्तर द्वारा निरुत्तर कर देते हैं तो आर्यो! द्वादशांगरूप गणिपिटक का—आचार आदि बारह अंगों का अध्ययन करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ तो अन्य मतानुयायियों को अर्थ (हेतु, प्रश्न, युक्ति तथा विश्लेषण) द्वारा निरुत्तर करने में समर्थ हैं ही।

१७६. तए णं समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति।

श्रमण भगवान् महावीर का यह कथन उन साधु-साध्वियों ने 'ऐसा ही है भगवन्!'—यों कह कर विनयपूर्वक स्वीकार किया।

१७७. तए णं से कुंडकोलिए समणोवासए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठमादियइ, अट्ठमादित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

श्रमणोपासक कुंडकौलिक ने श्रमण भगवान् महावीर को वंदन-नमस्कार किया, प्रश्न पूछे, समाधान प्राप्त किया तथा जिस दिशा से वह आया था, उसी दिशा की ओर लौट गया।

१७८. सामी बहिया जणवय-विहारं विहरइ।

भगवान् महावीर अन्य जनपदों में विहार कर गए।

शान्तिमय देहावसान

१७९. तए णं तस्स कुंडकोलियस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील जाव[1] भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अन्नया कयाइ जहा कामदेवो तहा जेट्ठपुत्तं ठवेत्ता तहा पोसहसालाए जाव[2] धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। एवं एक्कारस

१. देखें सूत्र-संख्या १२२
२. देखें सूत्र-संख्या १४९

उवासग-पडिमाओ तहेव जाव[1] सोहम्मे कप्पे अरुणज्झए विमाणे जाव (से णं भंते ! कुंडकोलिए ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गमिहिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ? गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, बुज्झिहिइ । मुच्चिहिइ, सव्वदुक्खाण) अंतं काहिइ ।

निक्खेवो[2]

।। सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं छट्ठं अज्झयणं समत्तं ।।

तदनन्तर श्रमणोपासक कुंडकौलिक को व्रतों की उपासना द्वारा आत्म-भावित होते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। जब पन्द्रहवां वर्ष आधा व्यतीत हो चुका था, एक दिन आधी रात के समय उसके मन में विचार आया, जैसा कामदेव के मन में आया था। उसी की तरह अपने बड़े पुत्र को अपने स्थान पर नियुक्त कर वह भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति के अनुरूप पोषध-शाला में उपासनारत रहने लगा। उसने ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं की आराधना की। आगे का वृत्तान्त भी कामदेव जैसा ही है। अन्त में देह-त्याग कर वह अरुणध्वज विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ। (भगवन् ! कुंडकौलिक उस देवलोक से आयु, भव एवं स्थिति का क्षय होने पर देव-शरीर का त्याग कर कहां जायगा ? कहां उत्पन्न होगा ? गौतम ! वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होगा, सब दुःखों का] अन्त करेगा।)

।। निक्षेप[3] ।।

।। सातवें अंग उपासकदशा का छठा अध्ययन समाप्त ।।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ९२

२. एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

३. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के छठे अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

सातवां अध्ययन

सार : संक्षेप

भगवान् महावीर का समय विभिन्न धार्मिक मतवादों, विविध सम्प्रदायों तथा बहुविध कर्म-कांडों से संकुल था। उत्तर भारत में उस समय अवैदिक विचारधारा के अनेक आचार्य थे, जो अपने सिद्धान्तों का प्रसार करते हुए घूमते थे। उनमें से अनेक अपने आपको अर्हत्, जिन, केवली या सर्वज्ञ कहते थे। सुत्तनिपात सभियसुत्त में वैसे ६३ सम्प्रदाय होने का उल्लेख है। जैनों के दूसरे अंग सूत्रकृतांग आगम में भगवान् महावीर के समसामयिक सैद्धान्तिकों के चार वर्ग बतलाए हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी तथा अज्ञानवादी। कहा गया है कि वे अपने समवसरण—सिद्धान्त या वाद का भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन करते थे।[1] सूत्रकृतांगवृत्ति में ३६३ धार्मिक मतवादों के होने का उल्लेख है। अर्थात् ये विभिन्न मतवादी प्रायशः इन चार वादों में बंटे हुए थे।

बौद्ध वाङ्मय में मुख्य रूप से छह श्रमण सम्प्रदायों का उल्लेख है, जिनके निम्नांकित आचार्य या संचालक बतलाए गए हैं :—

पूरणकस्सप, मंखलिगोसाल, अजितकेसकंबलि, पकुध कच्चायन, निगंठ नातपुत्त, संजय वेलट्ठिपुत्त।

इनके सैद्धान्तिक वाद क्रमशः अक्रियावाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अन्योन्यवाद, चातुर्याम-संवरवाद तथा विक्षेपवाद बतलाए गए हैं। बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर के लिए 'निगंठनातपुत्त' का प्रयोग हुआ है।

मंखलिपुत्र गोशालक का जैन और बौद्ध दोनों साहित्यों में नियतिवादी के रूप में विस्तार से वर्णन हुआ है। पांचवें अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में १५वें शतक में गोशालक का विस्तार से वर्णन है।

गोशालक को अष्टांग निमित्त का कुछ ज्ञान था। उसके द्वारा वह लोगों को लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, जीवन एवं मरण के विषय में सही उत्तर दे सकता था। अतः जो भी उसके पास आते, वह उन्हें उस प्रकार की बातें बताता। लोगों को तो चमत्कार चाहिए।

यों प्रभावित हो उसके सहस्रों अनुयायी हो गए थे। पोलासपुर में सकडालपुत्र नामक एक कुंभकार गोशालक के प्रमुख अनुयायियों में था।

सकडालपुत्र एक समृद्ध एवं सम्पन्न गृहस्थ था। उसकी एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रखी थीं, एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार में लगी थीं, एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव एवं उपकरणों में लगी थीं। उसके दस हजार गायों का एक गोकुल था।

सकडालपुत्र का प्रमुख व्यवसाय मिट्टी के बर्तन तैयार कराना और बेचना था। पोलासपुर

---

१. चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति।
किरियं अकिरियं विणियं ति तइयं अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव ॥
सूत्रकृतांग १.१२.१

नगर के बाहर उसकी पांच सौ कर्मशालाएं थीं, जहां अनेक वैतनिक कर्मचारी काम करते थे। प्रातः काल होते ही वे वहां आ जाते और अनेक प्रकार के छोटे-बड़े बर्तन बनाने में लग जाते। बर्तनों की बिक्री की दूसरी व्यवस्था थी। सकडालपुत्र ने अनेक ऐसे व्यक्ति वेतन पर नियुक्त कर रखे थे, जो नगर के राजमार्गों. चौराहों, मैदानों तथा सार्वजनिक स्थानों में बर्तनों की बिक्री करते थे।

सकडालपुत्र की पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। वह गृहकार्य में सुयोग्य तथा अपने पति के सुखदुःख में सहभागिन थी।

सकडालपुत्र अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति अत्यन्त निष्ठावान् था, तदनुसार धर्मोपासना में भी अपना समय लगाता था। [वह युग ही कुछ ऐसा था, जो व्यक्ति जिन विचारों में आस्था रखता, तदनुसार जीवन में साधना भी करता। आस्था केवल कहने की नहीं होती।]

एक दिन की घटना है, सकडालपुत्र दोपहर के समय अपनी अशोकवाटिका में गया और वहां अपनी मान्यता के अनुसार धर्माराधना में निरत हो गया। थोड़ी ही देर बाद एक देव वहां प्रकट हुआ। सकडालपुत्र के सामने अन्तरिक्ष-स्थित देव ने उसे सम्बोधित कर कहा—कल प्रातः यहां महामाहन, अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक, त्रैलोक्यपूजित, अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आएंगे। तुम उनकी वंदना-पर्युपासना करना और उन्हें स्थान, पाट, बाजोट आदि हेतु आमंत्रित करना। देव यों कहकर चला गया। सकडालपुत्र ने सोचा—देव ने बड़ी अच्छी सूचना की। मेरे धर्माचार्य मंखलिपुत्र गोशालक कल यहां आएंगे। वे ही तो जिन, अर्हत् और केवली हैं, इसलिए मैं अवश्य ही उनकी वन्दना एवं पर्युपासना करूंगा। उनके उपयोग की वस्तुओं हेतु उन्हें आमंत्रित करूंगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल भगवान् महावीर वहां पधारे। सहसाम्रवन उद्यान में टिके। अनेक श्रद्धालु जन उनके दर्शन हेतु गए। सकडालपुत्र भी यह सोच कर कि उसके आचार्य गोशालक पधारे हैं, दर्शन हेतु गया।

भगवान् महावीर का धर्मोपदेश हुआ। अन्य लोगों के साथ सकडालपुत्र ने भी सुना। भगवान् जानते थे कि सकडालपुत्र सुलभबोधि है। उसे सद्धर्म की प्रेरणा देनी चाहिए। अतः उन्होंने उसे सम्बोधित कर कहा—कल दोपहर में अशोकवाटिका में देव ने तुम्हें जिसके आगमन की सूचना की थी, वहां देव का अभिप्राय मुझ से था। सकडालपुत्र भगवान् के अपरोक्ष ज्ञान से प्रभावित हुआ और मन ही मन प्रसन्न हुआ। वह उठा, भगवान् को विधिवत् वन्दन किया और अपनी कर्मशालाओं में पधारने तथा अपेक्षित सामग्री ग्रहण करने की प्रार्थना की। भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और वहां पधारे।

सकडालपुत्र भगवान् महावीर के व्यक्तित्व और उनके अतीन्द्रिय ज्ञान से प्रभावित तो था, पर उसकी सैद्धान्तिक आस्था मंखलिपुत्र गोशालक में थी, यह भगवान् जानते थे। भगवान् अनुकूल अवसर देख उसे सद्बोध देना चाहते थे। एक दिन की बात है, सकडालपुत्र अपनी कर्मशाला के भीतर हवा लगने हेतु रखे हुए बर्तनों को धूप में देने के लिए बाहर रखवा रहा था। भगवान् को यह अवसर अनुकूल प्रतीत हुआ। उन्होंने उससे पूछा—ये बर्तन कैसे बने? सकडालपुत्र बोला—भगवन्! पहले मिट्टी एकत्र की, उसे भिगोया, उसमें राख तथा गोबर मिलाया, गूंधा, सबको एक किया, फिर उसे चाक पर चढ़ाया और भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्तन बनाए।

भगवान् महावीर—सकडालपुत्र ! एक बात बताओ। तुम्हारे ये बर्तन प्रयत्न, पुरुषार्थ तथा उद्यम से बने हैं या अप्रयत्न, अपुरुषार्थ और अनुद्यम से ?

सकडालपुत्र—भगवन् ! अप्रयत्न, अपुरुषार्थ और अनुद्यम से। क्योंकि प्रयत्न, पुरुषार्थ और उद्यम का कोई महत्त्व नहीं है। जो कुछ होता है, सब निश्चित है।

भगवान् महावीर—सकडालपुत्र ! जरा कल्पना करो कोई पुरुष तुम्हारे हवा लगे, सूखे बर्तनों को चुरा ले, उन्हें बिखेर दे, तोड़ दे, फोड़ दे या तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ बलात्कार करे, तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे।

सकडालपुत्र—भगवन् ! मैं उसको फटकारूंगा, बुरी तरह पीटूंगा, अधिक क्या, जान से मार डालूंगा।

भगवान् महावीर—सकडालपुत्र ! ऐसा क्यों ? तुम तो प्रयत्न और पुरुषार्थ को नहीं मानते। सब भावों को नियत मानते हो। तब फिर जो पुरुष वैसा करता है उसमें उसका क्या कर्तृत्व है ? वैसा तो पहले से ही नियत है। उसे दोषी भी कैसे मानोगे ? यदि तुम कहो कि वह तो प्रयत्नपूर्वक वैसा करता है, तो प्रयत्न और पुरुषार्थ को न मानने का, सब कुछ नियत मानने का तुम्हारा सिद्धान्त गलत है, असत्य है।

सकडालपुत्र एक मेधावी और समझदार पुरुष था। इस थोड़ी सी बातचीत से यथार्थ तत्त्व उसकी समझ में आ गया। उसने संबोधि प्राप्त कर ली। उसका मस्तक श्रद्धा से भगवान् महावीर के चरणों में झुक गया। जैसा उस समय के विवेकी पुरुष करते थे, उसने भगवान महावीर से बारह प्रकार का श्रावकधर्म स्वीकार किया। उसकी प्रेरणा से उसकी पत्नी अग्निमित्रा ने भी वैसा ही किया। यों पतिपत्नी सद्धर्म को प्राप्त हुए तथा अपने गृहस्थ जीवन के साथ-साथ धार्मिक आराधना में भी अपने समय का सदुपयोग करने लगे।

सकडालपुत्र मंखलिपुत्र गोशालक का प्रमुख श्रावक था। जब गोशालक ने यह सुना तो साम्प्रदायिक मोहवश उसे यह अच्छा नहीं लगा। उसने मन ही मन सोचा, मुझे सकडालपुत्र को पुनः समझाना चाहिए और अपने मत में वापस लाना चाहिए। इस हेतु वह पोलासपुर में आया। आजीविकों के उपाश्रय में रुका। अपने पात्र, उपकरण आदि वहां रखे तथा अपने कुछ शिष्यों के साथ सकडालपुत्र के यहां पहुंचा। सकडालपुत्र तो सत् तत्त्व और सद्गुरु प्राप्त कर चुका था, इसलिए गोशालक के आने पर पहले वह जो श्रद्धा, आदर एवं सम्मान दिखाता था, उसने वैसा नहीं किया, चुपचाप बैठा रहा। गोशालक खूब चालाक था, झट समझ गया। उसने युक्ति निकाली। सकडालपुत्र को प्रसन्न करने के लिए उसने भगवान् महावीर की खूब गुण-स्तवना की। गोशालक के इस कूटनीतिक व्यवहार को वह समझ नहीं सका। गोशालक की मंशा यह थी कि किसी प्रकार पुनः मुझे सकडालपुत्र के साथ धार्मिक बातचीत का अवसर मिल जाय तो मैं इसकी मति बदलूं। सकडालपुत्र ने भगवान् महावीर के प्रति गोशालक द्वारा दिखाए गए आदर-भाव के कारण शिष्टतावश अनुरोध किया—आप मेरी कर्मशाला में रुकें, आवश्यक वस्तुएं लें। गोशालक तो बस यही चाहता था। उसने झट स्वीकार कर लिया और वहां गया। वहां के प्रवास के बीच उसको सकडालपुत्र के साथ तात्त्विक वार्तालाप करने का अनेक बार अवसर मिला। उसने सकडालपुत्र को बदलने का बहुत प्रयास किया, पर वह सर्वथा विफल रहा। सकडालपुत्र तो खूब विवेक और समझदारी के साथ

यथार्थ तत्त्व प्राप्त कर चुका था, वह विचलित कैसे होता ? निराश होकर गोशालक वहां से विहार कर गया। सकडालपुत्र पूर्ववत् अपने सांसारिक उत्तरदायित्व के निर्वाह के साथ-साथ धर्मोपासना में लगा रहा।

यों चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। पन्द्रहवां वर्ष आधा बीत चुका था। एक बार आधी रात के समय सकडालपुत्र अपनी धर्माराधना में निरत था, एक मिथ्यात्वी देव उसे व्रत-च्युत करने के लिए आया, व्रत छोड़ देने के लिए उसके पुत्रों को मार डालने की धमकी दी। सकडालपुत्र अविचल रहा। तब उसने उसीके सामने क्रमशः उसके तीनों बेटों को मार-मार कर प्रत्येक के नौ-नौ मांस-खंड किए, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाया और उनका मांस व रक्त उसके शरीर पर छींटा। पर, सकडालपुत्र आत्म-बल और धैर्य के साथ यह सब सह गया, उसकी आस्था नहीं डगमगाई।

फिर भी देव निराश नहीं हुआ। उसने सोचा कि सकडालपुत्र के जीवन में अग्निमित्रा का बहुत बड़ा महत्त्व है, वह केवल पतिपरायणा पत्नी ही नहीं है, सुख दुःख में सहयोगिनी है और सबसे बड़ी बात यह है कि वह उसके धार्मिक जीवन की अनन्य सहायिका है। यह सोचकर उसने सकडाल-पुत्र के समक्ष उसकी पत्नी अग्निमित्रा को मार डालने और वैसी ही दुर्दशा करने की धमकी दी। जो सकडालपुत्र तीनों बेटों की हत्या अपनी आंखों के आगे देख अविचलित रहा, वह इस धमकी से क्षुभित हो गया। उसमें क्रोध जागा और उसने सोचा, इस दुष्ट को मुझे पकड़ लेना चाहिए। वह झट पकड़ने के लिए उठा, पर उस देव-षड्यन्त्र में कौन किसे पकड़ता ? देव लुप्त हो गया। सकडाल-पुत्र के हाथों में सामने का खम्भा आया। यह सब अनहोनी घटनाएं देख सकडालपुत्र घबरा गया और उसने जोर से कोलाहल किया। अग्निमित्रा ने जब यह सुना तो तत्क्षण वहां आई, पति की सारी बात सुनी और बोली—परीक्षा की अन्तिम चोट में आप हार गए। वह मिथ्यादृष्टि देव आखिर आपका व्रत भंग करने में सफल हो गया। इस भूल के लिए आप प्रायश्चित्त कीजिए। सकडालपुत्र ने वैसा ही किया।

सकडालपुत्र का अन्तिम जीवन भी बहुत ही प्रशस्त रहा। उसने एक मास की अन्तिम संलेखना और अनशन के साथ समाधि-मरण प्राप्त किया। देहत्याग कर वह अरुणभूत विमान में चार पल्योपमस्थितिक देव हुआ।

सातवां अध्ययन : सकडालपुत्र

आजीविकोपासक सकडालपुत्र

१८०. सत्तमस्स उक्खेवो[1]। पोलासपुरे नामं नयरे। सहस्संबवणे उज्जाणे। जियसत्तू राया।

उत्क्षेप[2]—उपोद्घातपूर्वक सातवें अध्ययन का प्रारम्भ यों है :—

आर्य सुधर्मा ने कहा—पोलासपुरनामक नगर था। वहां सहस्राम्रवननामक उद्यान था। जितशत्रु वहां का राजा था।

१८१. तत्थ णं पोलासपुरे नयरे सद्दालपुत्ते नामं कुंभकारे आजीविओवासए परिवसइ। आजीविय-समयंसि लद्धट्ठे, गहियट्ठे पुच्छियट्ठे, विणिच्छियट्ठे, अभिगयट्ठे, अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते य अयमाउसो! आजीविय-समए अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे त्ति आजीविय-समएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

पोलासपुर में सकडालपुत्रनामक कुम्हार रहता था, जो आजीविक-सिद्धान्त या गोशालक-मत का अनुयायी था। वह लब्धार्थ—श्रवण आदि द्वारा आजीविक मत के यथार्थ तत्त्व को प्राप्त किए हुए, गृहीतार्थ—उसे ग्रहण किए हुए, पृष्टार्थ—जिज्ञासा या प्रश्न द्वारा उसे स्थिर किए हुए, विनिश्चितार्थ—निश्चित रूप में आत्मसात् किए हुए, अभिगतार्थ—स्वायत्त किए हुए था। वह अस्थि और मज्जा पर्यन्त अपने धर्म के प्रति प्रेम व अनुराग से भरा था। उसका यह निश्चित विश्वास था कि आजीविक मत ही अर्थ—प्रयोजनभूत है, यही परमार्थ है। इसके सिवाय अन्य अनर्थ-अप्रयोजनभूत हैं। यों आजीविक मत के अनुसार वह आत्मा को भावित करता हुआ धर्मानुरत था।

विवेचन

इस सूत्र में सकडालपुत्र के लब्धार्थ, गृहीतार्थ, पृष्टार्थ, विनिश्चितार्थ तथा अभिगतार्थ विशेषण आए हैं, जिनसे प्रकट होता है कि वह जिस मत में विश्वास करता था, उसने उसके सिद्धान्तों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। जिज्ञासाओं और प्रश्नों द्वारा उसने तत्त्व की गहराई तक पहुंचने का प्रयास किया था। उनके अपने विचारों के अनुसार आजीविक मत सत्य और यथार्थ था। इसीलिए वह उसके प्रति अत्यन्त आस्थावान् था, जो अस्थि-मज्जा-प्रेमानुरागरक्त विशेषण से प्रकट है। इससे यह भी अनुमित होता है कि उस समय के नागरिक अपने व्यावसायिक, लौकिक जीवन के संचालन के साथ-साथ तात्त्विक एवं धार्मिक दृष्टि से भी गहराई में जाते थे।

---

१. जइ णं भंते! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं उवासगदसाणं छट्ठस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, सत्तमस्स णं भंते! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते?

२. आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के छठे अध्ययन का यदि यह अर्थ—भाव प्रतिपादित किया, तो भगवन्! उन्होंने सातवें अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया? (कृपया कहें।)

सम्पत्ति : व्यवसाय

१८२. तस्स णं सद्दालपुत्तस्स ग्राजीविग्रोवासगस्स एक्का हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एक्का वुड्ढि-पउत्ता, एक्का पवित्थर-पउत्ता, एक्के वए, दस-गोसाहस्सिएणं वएणं।

ग्राजीविक मतानुयायी सकडालपुत्र की एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रखी थीं। एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार में लगी थीं तथा एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव—साधन-सामग्री में लगी थीं। उसके एक गोकुल था, जिसमें दस हजार गायें थीं।

१८३. तस्स णं सद्दालपुत्तस्स ग्राजीविग्रोवासगस्स ग्रग्गिमित्ता नामं भारिया होत्था।

ग्राजीविकोपासक सकडालपुत्र की पत्नी का नाम ग्रग्निमित्रा था।

१८४. तस्स णं सद्दालपुत्तस्स ग्राजीविग्रोवासगस्स पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया पंच कुंभकारावण-सया होत्था। तत्थ णं बहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लिं बहवे करए य वारए य पिहडए य घडए य ग्रद्ध-घडए य कलसए य ग्रलिंजरए य जंबूलए य उट्टियाग्रो य करेंति। ग्रन्ने य से बहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लिं तेहिं बहूहिं करएहि य जाव (वारएहि य पिहडएहि य घडएहि य ग्रद्ध-घडएहि य कलसएहि य ग्रलिंजरएहि य जंबूलएहि य) उट्टियाहि य राय-मग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।

पोलासपुर नगर के बाहर ग्राजीविकोपासक सकडालपुत्र कुम्हारगिरी के पांच सौ ग्रापण—व्यवसाय-स्थान—बर्तन बनाने की कर्मशालाएं थीं। वहां भोजन तथा मजदूरी रूप वेतन पर काम करने वाले बहुत से पुरुष प्रतिदिन प्रभात होते ही, करक—करवे, वारक—गडुए, पिठर—ग्राटा गूंधने या दही जमाने के काम में ग्रानेवाली परातें या कूंडे, घटक—तालाब ग्रादि से पानी लाने के काम में ग्राने वाले घड़े, ग्रर्द्ध घटक—ग्रधघड़े—छोटे घड़े, कलशक—कलसे, बड़े घड़े, ग्रलिंजर—पानी रखने के बड़े मटके, जंबूलक—सुराहियां, उष्ट्रिका—तैल, घी ग्रादि रखने में प्रयुक्त लम्बी गर्दन ग्रौर बड़े पेट वाले बर्तन—कूंपे बनाने में लग जाते थे। भोजन व मजदूरी पर काम करने वाले दूसरे बहुत से पुरुष सुबह होते ही बहुत से करवे (गडुए, परातें या कूंडे, घड़े, ग्रधघड़े, कलसे बड़े मटके, सुराहियां) तथा कूंपों के साथ सड़क पर ग्रवस्थित हो, उनकी बिक्री में लग जाते थे।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र के सकडालपुत्र की कर्मशालाएं नगर से बाहर होने का जो उल्लेख है, उससे यह प्रकट होता है कि कुम्हारों की कर्मशालाएं व ग्रलाव नगरों से बाहर होते थे, जिससे ग्रलावों से उठने वाले धुंए के कारण वायु-दूषण न हो, नगरवासियों को ग्रसुविधा न हो। फिर सकडालपुत्र के तो पांच सौ कर्मशालाएं थीं, बर्तन पकाने में बहुत धुंग्रा उठता था, इसलिए निर्माण का सारा कार्य नगर से बाहर होता था। बिक्री का कार्य सड़कों व चौराहों पर किया जाता था। ग्राज भी प्रायः ऐसा ही है। कुम्हारों के घर शहरों तथा गांवों के एक किनारे होते हैं, जहां वे ग्रपने बर्तन बनाते हैं, पकाते हैं। बर्तन बेचने का काम ग्राज भी सड़कों ग्रौर चौराहों पर देखा जाता है।

देव द्वारा सूचना

१८५. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्ह-काल-समयंसि जेणेव असोग-वणिया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

एक दिन आजीविकोपासक सकडालपुत्र दोपहर के समय अशोकवाटिका में गया, मंखलिपुत्र गोशालक के पास अंगीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति—धर्म-शिक्षा के अनुरूप वहां उपासनारत हुआ।

१८६. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था।

आजीविकोपासक सकडालपुत्र के समक्ष एक देव प्रकट हुआ।

१८७. तए णं से देवे अंतलिक्ख-पडिवन्ने सखिंखिणियाइं जाव (पंचवण्णाइं वत्थाइं पवर) परिहिए सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—एहिइ णं देवाणुप्पिया! कल्लं इहं महा-माहणे, उप्पन्नणाण-दंसणधरे, तीय-पडुपन्न-मणागय-जाणए, अरहा, जिणे, केवली, सव्वण्णू, सव्वदरिसी, तेलोक्क-वहिय-महिय-पूइए, सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे, वंदणिज्जे नमंसणिज्जे जाव (सक्कारणिज्जे, सम्माणणिज्जे, कल्लाणं, मगलं, देवयं, चेइयं) पज्जुवासणिज्जे, तच्च-कम्म-संपया-संपउत्ते। तं णं तुमं वंदेज्जाहि, जाव (णमंसेज्जाहि, सक्कारेज्जाहि, सम्माणेज्जाहि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं) पज्जुवासेज्जाहि, पाडिहारिएणं पीढ-फलग-सिज्जा-संथारएणं उवनिमंतेज्जाहि। दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ, वइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए।

छोटी-छोटी घंटियों से युक्त पांच वर्णों के उत्तम वस्त्र पहने हुए आकाश में अवस्थित उस देव ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र से कहा—देवानुप्रिय! कल प्रातःकाल यहां महामाहन—महान् अहिंसक, अप्रतिहत ज्ञान, दर्शन के धारक, अतीत, वर्तमान एवं भविष्य—तीनों काल के ज्ञाता, अर्हत्—परम पूज्य, परम समर्थ, जिन—राग-द्वेष-विजेता, केवली-परिपूर्ण, शुद्ध एवं अनन्त ज्ञान आदि से युक्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीनों लोक अत्यन्त हर्षपूर्वक जिनके दर्शन की उत्सुकता लिए रहते हैं, जिनकी सेवा एवं उपासना की वांछा लिए रहते हैं, देव, मनुष्य तथा असुर सभी द्वारा अर्चनीय—अर्चायोग्य—पूजायोग्य, वन्दनीय—स्तवनयोग्य, नमस्करणीय, (सत्करणीय—सत्कार या आदर करने योग्य, सम्माननीय—सम्मान करने योग्य, कल्याणमय, मंगलमय, इष्ट देव स्वरूप अथवा दिव्य तेज तथा शक्तियुक्त, ज्ञानस्वरूप) पर्युपासनीय—उपासना करने योग्य, तथ्य कर्म-सम्पदा-संप्रयुक्त—सत्कर्म रूप—सम्पत्ति से युक्त भगवान् पधारेंगे। इसलिए तुम उन्हें वन्दन करना (नमस्कार, सत्कार तथा सम्मान करना। वे कल्याणमय, मंगलमय, देवस्वरूप तथा ज्ञान स्वरूप हैं। उनकी पर्युपासना करना), प्रातिहारिक—ऐसी वस्तुएं जिन्हें श्रमण उपयोग में लेकर वापस कर देते हैं, पीठ—पाट, फलक—बाजोट, शय्या—ठहरने का स्थान, संस्तारक—बिछाने के लिए घास आदि हेतु उन्हें आमंत्रित करना। यों दूसरी बार व तीसरी बार कह कर जिस दिशा से प्रकट हुआ था, वह देव उसी दिशा की ओर लौट गया।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आए 'महामाहण' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य अभयदेव सूरि ने वृत्ति

में लिखा है–जो व्यक्ति यों निश्चय करता है, मैं किसी को नहीं मारूं, अर्थात् जो मन, वचन एवं काय द्वारा सूक्ष्म तथा स्थूल समस्त जीवों की हिंसा से निवृत्त हो जाता है तथा किसी की हिंसा मत करो यों दूसरों को उपदेश करता है, वह माहन कहा जाता है। ऐसा पुरुष महान् होता है, इसलिए वह महामाहन है, अर्थात् महान् अहिंसक है।

अन्य आगमों में भी जहां महामाहण शब्द आया है, इसी रूप में व्याख्या की गई है। इसकी व्याख्या का एक रूप और भी है। प्राकृत में 'ब्राह्मण' के लिए बम्हण तथा बम्भण के साथ-साथ माहण शब्द भी है। इसके अनुसार महामाहण का अर्थ महान् ब्राह्मण होता है। ब्राह्मण शब्द भारतीय साहित्य में गुण-निष्पन्नता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व लिए हुए है। ब्राह्मण में एक ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना है, जो पवित्रता, सात्त्विकता, सदाचार, तितिक्षा, तप आदि सद्‌गुणों के समवाय का प्रतीक हो। शाब्दिक दृष्टि से इसका अर्थ ज्ञानी है। व्याकरण में कृदन्त के प्रकरण में अण् प्रत्यय के योग से इसकी सिद्धि होती है।[1] उसके अनुसार इसकी व्युत्पत्ति[2]—जो ब्रह्म—वेद या शुद्ध चैतन्य को जानता है अथवा उसका अध्ययन करता है, वह ब्राह्मण है। गुणात्मक दृष्टि से वेद, जो विद् धातु से बना है, उत्कृष्ट ज्ञान का प्रतीक है। यों ब्राह्मण एक उच्च ज्ञानी और चरित्रनिष्ठ व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

जन्मगत जातीय व्यवस्था को एक बार हम छोड़ देते हैं, वह तो एक सामाजिक क्रम था। वस्तुतः इस उच्च और प्रशस्त अर्थ में 'ब्राह्मण' शब्द को केवल वैदिक वाङ्‌मय में ही नहीं, जैन और बौद्ध वाङ्‌मय में भी स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र का एक प्रसंग है—

ब्राह्मण वंश में उत्पन्न जयघोष मुनि एक बार अपने जनपद-विहार के बीच वाराणसी आए। नगर के बाहर मनोरम नामक उद्यान में रुके। उस समय विजयघोष नामक एक वेदवेत्ता ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था। जयघोष मुनि एक मास की तपस्या के पारणे हेतु भिक्षा के लिए विजयघोष के यहां पहुंचे। विजयघोष ने कहा—यहां बना भोजन तो ब्राह्मण को देने के लिए है। इस पर जयघोष मुनि ने उससे कहा—विजयघोष! तुम ब्राह्मणत्व का शुद्ध स्वरूप नहीं जानते। जरा सुनो, मैं बतलाता हूं, ब्राह्मण कौन होता—

"जो अपने स्वजन, कुटुम्बी जन आदि में आसक्त नहीं होता, प्रव्रजित होने में अधिक सोच-विचार नहीं करता तथा जो आर्य—उत्तम धर्ममय वचनों में रमण करता है, हम उसी को ब्राह्मण कहते हैं।

जिस प्रकार अग्नि में तपाया हुआ सोना शुद्ध एवं निर्मल होता है, उसी प्रकार जो राग, द्वेष तथा भय आदि से रहित है, हमारी दृष्टि में वही ब्राह्मण है।

जो इन्द्रिय-विजेता है, तपश्चरण में संलग्न है, फलतः कृश हो गया है, उग्र साधना के कारण जिसके शरीर में रक्त और मांस थोड़ा रह गया है, जो उत्तम व्रतों द्वारा निर्वाण प्राप्त करने पर आरूढ है, वास्तव में वही ब्राह्मण है।

जो त्रस—चलने फिरने वाले, स्थावर—एक जगह स्थित रहने वाले प्राणियों को सूक्ष्मता से जानकर तीन योग—मन, वचन एवं काया द्वारा उनकी हिंसा नहीं करता, वही ब्राह्मण है।

---

१. कर्मण्यण्। पाणिनीय अष्टाध्यायी। ३। २। १।

२. ब्रह्म-वेदं, शुद्धं चैतन्यं वा वेत्ति अधीते वा इति ब्राह्मणः।

जो क्रोध, हास्य, लोभ तथा भय से असत्य-भाषण नहीं करता, हम उसी को ब्राह्मण कहते हैं।

जो सचित्त या अचित्त, थोड़ी या बहुत कोई भी वस्तु बिना दी हुई नहीं लेता, ब्राह्मण वही है।

जो मन, वचन एवं शरीर द्वारा देव, मनुष्य तथा तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का सेवन नहीं करता, वास्तव में वही ब्राह्मण है।

कमल यद्यपि जल में उत्पन्न होता है, पर उसमें लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो काम-भोगों से अलिप्त रहता है, वही ब्राह्मण है।

जो अलोलुप, भिक्षा पर निर्वाह करने वाला, गृह-त्यागी तथा परिग्रह-त्यागी होता है, गृहस्थों के साथ आसक्ति नहीं रखता, वही ब्राह्मण है।

जो जातीय जनों और बन्धुजनों का पूर्व संयोग छोड़कर त्यागमय जीवन अपना लेता है, लौटकर फिर भोगों में आसक्त नहीं होता, हमारी दृष्टि में वही ब्राह्मण है।"[1]

यहां ब्राह्मण के व्यक्तित्व का जो शब्द-चित्र उपस्थित किया गया है, उससे स्पष्ट है, जयघोष मुनि के शब्दों में महान् त्यागी, आध्यात्मिक साधना के पथ पर सतत गतिशील, निरपवाद रूप में व्रतों का परिपालक साधक ही वस्तुतः ब्राह्मण होता है।

बौद्धों के धम्मपद का अन्तिम वर्ग या अध्याय ब्राह्मणवग्ग है, जिसमें ब्राह्मण के स्वरूप, गुण, चरित्र आदि का वर्णन है। वहां कहा गया है—

"जिसके पार—नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा, काया तथा मन, अपार—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श तथा पारापार—मैं और मेरा—ये सब नहीं हैं, अर्थात् जो एषणाओं और भोगों से ऊंचा उठा हुआ है, निर्भय है, अनासक्त है, वह ब्राह्मण है।

ब्राह्मण के लिए यह बात कम श्रेयस्कर नहीं है कि वह अपना मन प्रिय भोगों से हटा लेता है। जहां मन हिंसा से निवृत्त हो जाता है, वहां दुःख स्वयं ही शान्त हो जाता है।

जिसके मन, वचन तथा शरीर से दुष्कृत—अशुभ कर्म या पाप नहीं होते, जो इन तीनों ही स्थानों से संवृत—संयम युक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

जो फटे-पुराने चिथड़ों को धारण किए रहता है, कृश है, उग्र तपश्चरण द्वारा जिसकी देह पर नाड़ियां उभर आई हैं, एकाकी वन में ध्यान-निरत रहता है, मेरी दृष्टि में वही ब्राह्मण है।

जो सभी संयोजनों—बन्धनों को छिन्न कर डालता है, जो कहीं भी परित्रास—भय नहीं पाता, जो आसक्ति और ममता से अतीत है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं।

जो आक्रोश—क्रोध या गाली-गलौज, वध एवं बन्धन को, मन को जरा भी विकृत किए बिना सह जाता है, क्षमा-बल ही जिसकी बलवान् सेना है, वास्तव में वही ब्राह्मण है।

जो क्रोध-रहित, व्रतयुक्त, शीलवान्, बहुश्रुत, संयमानुरत तथा अन्तिम शरीरवान् है—शरीर त्याग कर निर्वाणगामी है, वही वास्तव में ब्राह्मण है।

१. उत्तराध्ययन सूत्र २५। २०-२९।

जो कमल के पत्ते पर पड़े जल और आरे की नोक पर पड़ी सरसों की तरह भोगों में लिप्त नहीं होता, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं।

जो गम्भीर-प्रज्ञाशील, मेधावी एवं मार्ग-अमार्ग का ज्ञाता है, जिसने उत्तम अर्थ—सत्य को प्राप्त कर लिया है, वही वास्तव में ब्राह्मण है।

जो त्रस और स्थावर—चर-अचर सभी प्राणियों की हिंसा से विरत है, न स्वयं उन्हें मारता है, न मारने की प्रेरणा करता है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं।"[1]

उत्तराध्ययन तथा धम्मपद के प्रस्तुत विवेचन की तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही स्थानों पर ब्राह्मण के तपोमय, ज्ञानमय तथा शीलमय व्यक्तित्व के विश्लेषण में दृष्टिकोण की समानता रही है।

गुण-निष्पन्न ब्राह्मणत्व के विवेचन में वैदिक वाङ्मय में भी हमें अनेक स्थानों पर उल्लेख प्राप्त होते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रसंगों में विवेचन हुआ है।

ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण का लक्षण बताते हुए एक स्थान पर कहा गया है :—

"ब्राह्मण गन्ध, रस, विषय-सुख एवं आभूषणों की कामना न करे। वह सम्मान, कीर्ति तथा यश की चाह न रखे। द्रष्टा ब्राह्मण का यही आचार है।

जो समस्त प्राणियों को अपने कुटुम्ब की भांति समझता है, जानने योग्य तत्त्व का ज्ञाता होता है, कामनाओं से वर्जित होता है, वह ब्राह्मण कभी मरता नहीं अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है।

जब मन, वाणी और कर्म द्वारा किसी भी प्राणी के प्रति विकारयुक्त भाव नहीं करता, तभी व्यक्ति ब्रह्मभाव या ब्राह्मणत्व प्राप्त करता है।

कामना ही इस संसार में एक मात्र बन्धन है, अन्य कोई बन्धन नहीं है। जो कामना के बन्धन से मुक्त हो जाता है, वह ब्रह्मभाव—ब्राह्मणत्व प्राप्त करने में समर्थ होता है।

जिससे बिना भोजन के ही मनुष्य परितृप्त हो जाता है, जिसके होने पर धनहीन पुरुष भी पूर्ण सन्तोष का अनुभव करता है, घृत आदि स्निग्ध पौष्टिक पदार्थ सेवन किए बिना ही जहां मनुष्य अपने में अपरिमित शक्ति का अनुभव करता है, वैसे ब्रह्मभाव को जो अधिगत कर लेता है, वही वेदवेत्ता ब्राह्मण है।

कर्मों का अतिक्रम कर जानेवाले—कर्मों से मुक्त, विषय वासनाओं से रहित, आत्मगुण को प्राप्त किए हुए ब्राह्मण को जरा और मृत्यु नहीं सताते।"[2]

इसी प्रकार इसी पर्व के ६२वें अध्याय में, ७६वें अध्याय में तथा और भी बहुत से स्थानों पर ब्राह्मणत्व का विवेचन हुआ है। प्रस्तुत विवेचन की गहराई में यदि हम जाएं तो स्पष्ट रूप में यह प्रतीत होगा कि महाभारतकार व्यासदेव की ध्वनि भी उत्तराध्ययन एवं धम्मपद से कोई भिन्न नहीं है।

---

१. धम्मपद ब्राह्मणवग्गो ३, ८, ९, १३, १५, १७, १८, १९, २१, २३।

२. महाभारत शान्तिपर्व २५१. १, ३, ६, ७, १८, २२

भारतीय समाज-व्यवस्था के नियामक मनु ने ब्राह्मण का अत्यन्त उत्तम चरित्रशील पुरुष के रूप में उल्लेख किया है तथा उसके चरित्र से शिक्षा लेने की प्रेरणा दी है।[1]

इन विवेचनों को देखते समझा जा सकता है पुरातन भारतीय वर्णव्यवस्था का आधार गुण कर्म था, आज की भांति वंशपरम्परा नहीं।

सकडालपुत्र की कल्पना

१८८. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तेणं देवेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—चिंतिए, पत्थिएमणोगए संकप्पे समुप्पन्ने—एवं खलु ममं धम्मायरिए धम्मो-वएसए गोसाले मंखलिपुत्ते, से णं महामाहणे उप्पन्न-णाण-दंसणधरे जाव[2] तच्च-कम्म-संपया-संपउत्ते, से णं कल्लं इहं हव्वमागच्छिहिस्सइ। तए णं तं अहं वंदिस्सामि जाव (सक्कारेस्सामि, सम्माणेस्सामि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं) पज्जुवासिस्सामि पाडिहारिएणं जाव (पीढ-फलग-सेज्जा-संथारएणं) उवनिमंतिस्सामि।

उस देव द्वारा यों कहे जाने पर आजीविकोपासक सकडालपुत्र के मन में ऐसा विचार आया मनोरथ, चिन्तन और संकल्प उठा—मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, महामाहन, अप्रतिम ज्ञान-दर्शन के धारक, (अतीत, वर्तमान एवं भविष्य—तीनों काल के ज्ञाता, अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीनों लोक अत्यन्त हर्षपूर्वक जिनके दर्शन की उत्सुकता लिए रहते हैं, जिनकी सेवा एवं उपासना की वांछा लिए रहते हैं, देव, मनुष्य तथा असुर—सभी द्वारा अर्चनीय, वन्दनीय, सत्करणीय, सम्माननीय, कल्याणमय, मंगलमय, देवस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, पर्युपासनीय,) सत्कर्म-सम्पत्तियुक्त मंखलिपुत्र गोशालक कल यहां पधारेंगे। तब मैं उनकी वंदना, (सत्कार एवं सम्मान करूंगा। वे कल्याणमय, मंगलमय, देवस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप हैं) पर्युपासना करूंगा तथा प्रातिहारिक (पीठ, फलक, संस्तारक) हेतु आमंत्रित करूंगा।

भगवान् महावीर का सान्निध्य

१८९. तए णं कल्लं जाव[3] जलंते समणे भगवं महावीरे जाव[4] समोसरिए। परिसा निग्गया जाव[5] पज्जुवासइ।

तत्पश्चात् अगले दिन प्रातः काल भगवान् महावीर पधारे। परिषद् जुड़ी, भगवान् की पर्युपासना की।

१९०. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव (जेणव पोलासपुरे नयरे, जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे, तेणेव उवागच्छइ,

---

१. मनुस्मृति २·२०
२. देखो सूत्र-संख्या १८७
३. देखें सूत्र-संख्या ६६
४. देखें सूत्र-संख्या ९
५. देखें सूत्र-संख्या ११

उवागच्छित्ता अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं, तवसा अप्पाणं भावेमाणे) विहरइ, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि जाव (नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं) पज्जुवासामि एवं संपेहेइ, संपेहित्ता ण्हाए जाव (कयवलिकम्मे, कयकोउयमंगल-) पायच्छित्ते सुद्ध-प्पावेसाइं जाव (मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए) अप्पमहग्घाभरणालंकिय-सरीरे, मणुस्सवग्गुरा-परिगए साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे, जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता जाव (णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे, णमंसमाण अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे) पज्जुवासइ।

आजीविकोपासक सकडालपुत्र ने यह सुना कि भगवान् महावीर पोलासपुर नगर में पधारे हैं। (सहस्राम्रवन उद्यान में यथोचित स्थान ग्रहण कर संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए - अवस्थित हैं)। उसने सोचा-मैं जाकर भगवान् की वन्दना, (नमस्कार, सत्कार एवं सम्मान करूं। वे कल्याणमय, मंगलमय, देवस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप हैं।) पर्युपासना करूं। यों सोच कर उसने स्नान किया, (नित्य-नैमित्तिक कार्य किए, देह-सज्जा तथा दुःस्वप्न आदि दोष-निवारण हेतु चन्दन, कुंकुम, दधि, अक्षत आदि द्वारा मंगल-विधान किया) शुद्ध, सभायोग्य (मांगलिक एवं उत्तम) वस्त्र पहने। थोड़े से बहुमूल्य आभूषणों से देह को अलंकृत किया, अनेक लोगों को साथ लिए वह अपने घर से निकला, पोलासपुर नगर के बीच से गुजरा, सहस्राम्रवन उद्यान में, जहां भगवान् महावीर विराजित थे, आया। आकर तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया, (वन्दन-नमस्कार कर भगवान् के न अधिक निकट, न अधिक दूर, सम्मुख अवस्थित हो, नमन करते हुए, सुनने की उत्कंठा लिए विनयपूर्वक हाथ जोड़े,) पर्युपासना की।

१९१. तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य महइ जाव[1] धम्मकहा समत्ता।

तब श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र को तथा विशाल परिषद् को धर्म-देशना दी।

१९२. सद्दालपुत्ता! इ समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी-से नूणं, सद्दालपुत्ता! कल्लं तुमं पुव्वावरण्ह-काल-समयंसि जेणेव असोग-वणिया जाव[2] विहरसि। तए णं तुब्भं एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था। तए णं से देवे अंतलिक्ख-पडिवन्ने एवं वयासी—हं भो! सद्दाल-पुत्ता! तं चेव सव्वं जाव[3] पज्जुवासिस्सामि से नूणं, सद्दालपुत्ता! अट्ठे समट्ठे? हंता! अत्थि। नो खलु, सद्दालपुत्ता! तेणं देवेणं गोसालं मंखलि-पुत्तं पणिहाय एवं वुत्ते।

श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र से कहा—सकडालपुत्र! कल

---

१. देखें सूत्र—संख्या ११

२. देखें सूत्र—संख्या १८५

३. देखें सूत्र—संख्या १८८

दोपहर के समय तुम जब अशोकवाटिका में थे तब एक देव तुम्हारे समक्ष प्रकट हुआ, आकाशस्थित देव ने तुम्हें यों कहा—कल प्रातः अर्हत्, केवली आएंगे।

भगवान् ने सकडालपुत्र को उसके द्वारा वंदन, नमन, पर्युपासना करने के निश्चय तक का सारा वृत्तान्त कहा। फिर उससे पूछा—सकडालपुत्र! क्या ऐसा हुआ? सकडालपुत्र बोला—ऐसा ही हुआ। तब भगवान् ने कहा—सकडालपुत्र! उस देव ने मंखलिपुत्र गोशालक को लक्षित कर वैसा नहीं कहा था।

सकडाल पर प्रभाव

१९३. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासयस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४ (चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे)—एस णं समणे भगवं महावीरे महामाहणे, उप्पन्न-णाणदंसणधरे, जाव[1] तच्च-कम्म-संपया-संपउत्ते। तं सेयं खलु ममं समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता पाडिहारिएणं पीढ-फलग जाव (-सेज्जा-संथारएणं) उवनिमंतित्तए। एवं संपेहेइ, संपेहित्ता उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु भंते! ममं पोलासपुरस्स नयरस्स बहिया पंच कुंभकारावणसया। तत्थ णं तुब्भे पाडिहारियं पीढ जाव (-फलग-सेज्जा-) संथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरह।

श्रमण भगवान् महावीर द्वारा यों कहे जाने पर आजीविकोपासक सकडालपुत्र के मन में ऐसा विचार आया—श्रमण भगवान् महावीर ही महामाहन, उत्पन्न ज्ञान, दर्शन के धारक तथा सत्कर्म-सम्पत्ति-युक्त हैं। अतः मेरे लिए यह श्रेयस्कर है कि मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार कर प्रातिहारिक पीठ, फलक (शय्या तथा संस्तारक) हेतु आमंत्रित करूं। यों विचार कर वह उठा, श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और बोला - भगवन्! पोलासपुर नगर के बाहर मेरी पांच-सौ कुम्हारगिरी की कर्मशालाएं हैं। आप वहां प्रातिहारिक पीठ, (फलक, शय्या) संस्तारक ग्रहण कर विराजें।

भगवान् का कुंभकारापण में पदार्पण

१९४. तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पंचकुंभकारावणसएसु फासुएसणिज्जं पाडिहारियं पीढ-फलग जाव (-सेज्जा) संथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरइ।

भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र का यह निवेदन स्वीकार किया तथा उसकी पांच सौ कुम्हारगिरी की कर्मशालाओं में प्रासुक, शुद्ध प्रातिहारिक पीठ, फलक (शय्या), संस्तारक ग्रहण कर भगवान् अवस्थित हुए।

नियतिवाद पर चर्चा

१९५. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ वायाहययं कोलाल-भंडं अंतो सालाहिंतो बहिया नीणेइ, नीणेत्ता, आयवंसि दलयइ।

---

१. देखें सूत्र-संख्या १८८

एक दिन आजीविकोपासक सकडालपुत्र हवा लगे हुए मिट्टी के बर्तन कर्मशाला के भीतर से बाहर लाया और उसने उन्हें धूप में रखा।

१९६. तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्ता ! एस णं कोलालभंडे कओ[1] ?

भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र से कहा—सकडालपुत्र ! ये मिट्टी के बर्तन कैसे बने ?

१९७. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—एस णं भंते ! पुव्विं मट्टिया आसी, तओ पच्छा उदएणं निमिज्जइ, निमिज्जित्ता छारेण य करिसेण य एगयाओ मीसिज्जइ, मीसिज्जित्ता चक्के आरोहिज्जइ, तओ बहवे करगा य जाव[2] उट्टियाओ य कज्जंति।

आजीविकोपासक सकडालपुत्र श्रमण भगवान् महावीर से बोला—भगवन् ! पहले मिट्टी को पानी के साथ गूंधा जाता है, फिर राख और गोबर के साथ उसे मिलाया जाता है, यों मिला कर उसे चाक पर रखा जाता है, तब बहुत से करवे, (गडुए परातें या कूंडे, घड़े, अधघड़े, कलसे, बड़े मटके, सुराहियां) तथा कूंपे बनाए जाते हैं।

१९८. तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्ता ! एस णं कोलाल-भंडे किं उट्ठाणेणं जाव[3] पुरिसक्कार-परक्कमेणं कज्जंति उदाहु अणुट्ठाणेणं जाव[4] अपुरिसक्कार-परक्कमेणं कज्जंति ?

तब श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र से पूछा—सकडालपुत्र ! ये मिट्टी के बर्तन क्या प्रयत्न, पुरुषार्थ एवं उद्यम द्वारा बनते हैं, अथवा प्रयत्न, पुरुषार्थ एवं उद्यम के बिना बनते हैं ?

१९९. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—भंते ! अणुट्ठाणेणं जाव[5] अपुरिसक्कार-परक्कमेणं। नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव[6] परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा।

आजीविकोपासक सकडालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर से कहा—भगवन् ! प्रयत्न, पुरुषार्थ

---

१. 'कहंकतो ?'—अंगसुत्ताणि पृ. ४९५.

२. देखें सूत्र-१८४

३. देखें सूत्र-संख्या १६९

४. देखें सूत्र-संख्या १६९

५. देखें सूत्र-संख्या १६९

६. देखें सूत्र-संख्या १६९

तथा उद्यम के बिना बनते हैं। प्रयत्न, पुरुषार्थ एवं उद्यम का कोई अस्तित्व या स्थान नहीं है, सभी भाव—होने वाले कार्य नियत—निश्चित हैं।

२००. तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्ता ! जइ णं तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलालभंडं अवहरेज्जा वा विक्खिरेज्जा वा भिंदेज्जा वा अच्छिंदेज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा, अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरेज्जा, तस्स णं तुमं पुरिसस्स किं दंडं वत्तेज्जासि ?

भंते ! अहं णं तं पुरिसं आओसेज्जा वा हणेज्जा वा बंधेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा।

सद्दालपुत्ता ! नो खलु तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलालभंडं अवहरइ वा जाव (विक्खिरइ वा भिंदइ वा अच्छिंदइ वा) परिट्ठवेइ वा, अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ, नो वा तुमं तं पुरिसं आओसेज्जसि वा हणेज्जसि वा जाव (बंधेज्जसि वा महेज्जसि वा तज्जेज्जसि वा तालेज्जसि वा निच्छोडेज्जसि वा निब्भच्छेज्जसि वा) अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जसि; जइ नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव[1] परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा।

अह णं तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं जाव (वा पक्केल्लयं वा कोलालभंडं अवहरइ वा विक्खिरइ वा भिंदइ वा अच्छिंदइ वा) परिट्ठवेइ वा, अग्गिमित्ताए वा जाव (भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे) विहरइ, तुमं वा तं पुरिसं आओसेसि वा जाव (हणेसि वा बंधेसि वा महेसि वा तज्जेसि वा तालेसि वा निच्छोडेसि वा निब्भच्छेसि वा अकाले चेव जीवियाओ) ववरोवेसि। तो जं वदसि—नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव[2] नियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा।

तब श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र से कहा—सकडापुत्र ! यदि कोई पुरुष तुम्हारे हवा लगे हुए या धूप में सुखाए हुए मिट्टी के बर्तनों को चुरा ले या बिखेर दे या उनमें छेद कर दे या उन्हें फोड़ दे या उठाकर बाहर डाल दे अथवा तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ विपुल भोग भोगे, तो उस पुरुष को तुम क्या दंड दोगे ?

सकडालपुत्र बोला—भगवन् ! मैं उसे फटकारूंगा या पीटूंगा या बांध दूंगा या रौंद डालूंगा या तर्जित करूंगा —धमकाऊंगा या थप्पड़- घूंसे मारूंगा या उसका धन आदि छीन लूंगा या कठोर वचनों से उसकी भर्त्सना करूंगा या असमय में ही उसके प्राण ले लूंगा।

भगवान् महावीर बोले— सकडालपुत्र! यदि प्रयत्न, पुरुषार्थ एवं उद्यम नहीं है, सभी होने वाले कार्य निश्चित हैं तो कोई पुरुष तुम्हारे हवा लगे हुए या धूप में सुखाए हुए मिट्टी के बर्तनों को नहीं चुराता है (नहीं बिखेरता है, न उनमें छेद करता है, न उन्हें फोड़ता है) न उन्हें उठाकर बाहर डालता है और न तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ विपुल भोग ही भोगता है, न तुम उस पुरुष को फटकारते हो, न पीटते हो (न बांधते हो, न रौंदते हो, न तर्जित करते हो, न थप्पड़-घूंसे मारते हो, न उसका धन छीनते हो, न कठोर वचनों से उसकी भर्त्सना करते हो) न असमय में ही उसके प्राण लेते हो (क्योंकि यह सब जो हुआ, नियत था)।

---

१. देखें सूत्र-संख्या १६९
२. देखें सूत्र-संख्या १६९

यदि तुम मानते हो कि वास्तव में कोई पुरुष तुम्हारे हवा लगे हुए या धूप में सुखाए मिट्टी के बर्तनों को (चुराता है या बिखेरता है या उनमें छेद करता है या उन्हें फोड़ता है या) उठाकर बाहर डाल देता है अथवा तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ विपुल भोग भोगता है, तुम उस पुरुष को फटकारते हो (या पीटते हो या बांधते हो या रौंदते हो या तर्जित करते हो या थप्पड़-घूंसे मारते हो, या उसका धन छीन लेते हो या कठोर वचनों से उसकी भर्त्सना करते हो) या असमय में ही उसके प्राण ले लेते हो, तब तुम प्रयत्न, पुरुषार्थ आदि के न होने की तथा होने वाले सब कार्यों के नियत होने की जो बात कहते हो, वह असत्य है।

बोधिलाभ

२०१. एत्थ णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए संबुद्धे।

इससे आजीविकोपासक सकडालपुत्र को संबोध प्राप्त हुआ।

२०२. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं, भंते ! तुब्भं अंतिए धम्मं निसामेत्तए।

सकडालपुत्र ने श्रमण भगवन् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और उनसे कहा—भगवन् ! मैं आपसे धर्म सुनना चाहता हूं।

२०३. तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य जाव[1] धम्मं परिकहेइ।

तब श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सकडालपुत्र को तथा उपस्थित परिषद् को धर्मोपदेश दिया।

सकडालपुत्र एवं अग्निमित्रा द्वारा व्रत-ग्रहण

२०४. तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा, निसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव[2] हियए जहा आणंदो तहा गिहि-धम्मं पडिवज्जइ। नवरं एगा हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एगा हिरण्णकोडी वुड्ढि-पउत्ता, एगा हिरण्ण-कोडी पवित्थर-पउत्ता, एगे वए, दस गो-साहस्सिएणं वएणं जाव समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव पोलासपुरे नयरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे, जेणेव अग्गिमित्ता भारिया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता, अग्गिमित्तं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिए ! समणे भगवं महावीरे जाव[3] समोसढे, तं गच्छाहि णं तुमं, समणं भगवं महावीरं वंदाहि जाव[4] पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहि-धम्मं पडिवज्जाहि।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ११

२. देखें सूत्र-संख्या १२

३. देखें सूत्र-संख्या ९

४. देखें सूत्र-संख्या ५८

आजीविकोपासक सकडालपुत्र श्रमण भगवान् महावीर से धर्म सुनकर अत्यन्त प्रसन्न एवं संतुष्ट हुआ और उसने आनन्द की तरह श्रावक-धर्म स्वीकार किया। आनन्द से केवल इतना अन्तर था, सकडालपुत्र के परिग्रह के रूप में एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रखी थीं, एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार में लगी थीं तथा एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव—साधन-सामग्री में लगी थीं। उसके एक गोकुल था, जिसमें दस हजार गायें थीं।

सकडालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर को वंदन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार कर वह वहां से चला, पोलासपुर नगर के बीच से गुजरता हुआ, अपने घर अपनी पत्नी अग्निमित्रा के पास आया और उससे बोला—देवानुप्रिये ! श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं, तुम जाओ, उनकी वंदना, पर्युपासना करो, उनसे पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का श्रावक-धर्म स्वीकार करो।

२०५. तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया सद्दालपुत्तस्स समणोवासगस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएण पडिसुणेइ।

श्रमणोपासक सकडालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा ने 'आप ठीक कहते हैं' यों कहकर विनय-पूर्वक अपने पति का कथन स्वीकार किया।

२०६. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए कोडुम्बियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव, भो देवाणुप्पिया ! लहुकरण-जुत्त-जोइयं, समखुर-वालिहाण-समलिहिय-सिंगएहिं, जंबूणया-मय-कलाव-जोत्त-पइविसिट्ठिएहिं, रययामय-घंटसुत्त-रज्जुग-वरकंचण-खइय-नत्था-पग्गहोग्गहियएहिं, नीलुप्पल-कयामेलएहिं, पवर-गोण-जुवाणएहिं, नाणा-मणि-कणग-घंटिया-जालपरिगयं, सुजाय-जुग-जुत्त-उज्जुग-पसत्थसुविरइय-निम्मियं, पवर-लक्खणोववेयं जुत्तामेव धम्मियं जाण-प्पवरं उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।

तब श्रमणोपासक सकडालपुत्र ने अपने सेवकों को बुलाया और कहा—देवानुप्रियो ! तेज चलने वाले, एक जैसे खुर, पूंछ तथा अनेक रंगों से चित्रित सींग वाले, गले में सोने के गहने और जोत धारण किए, गले से लटकती चाँदी की घंटियों सहित नाक में उत्तम सोने के तारों से मिश्रित पतली सी सूत की नाथ से जुड़ी रास के सहारे वाहकों द्वारा सम्हाले हुए, नीले कमलों से बने आभरणयुक्त मस्तक वाले, दो युवा बैलों द्वारा खींचे जाते, अनेक प्रकार की मणियों और सोने की बहुत सी घंटियों से युक्त, बढ़िया लकड़ी के एकदम सीधे, उत्तम और सुन्दर बने हुए जुए सहित, श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त धार्मिक—धार्मिक कार्यों में उपयोग में आने वाला यान प्रवर—श्रेष्ठ रथ तैयार करो, तैयार कर शीघ्र मुझे सूचना दो।

२०७. तए णं ते कोडुंबिय-पुरिसा जाव (सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया, पीइमणा, परमसोमणस्सिया, हरिसवसविसप्पमाणहियया, करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु 'एवं सामि !' त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता खिप्पामेव लहुकरणजुत्तजोइयं जाव धम्मियं जाणप्पवरं उवट्ठवेत्ता तमाणत्तियं) पच्चप्पिणंति !

श्रमणोपासक सकडालपुत्र द्वारा यों कहे जाने पर सेवकों ने (अत्यन्त प्रसन्न होते हुए, चित्त में आनन्द एवं प्रीति का अनुभव करते हुए, अतीव सौम्य मानसिक भावों से युक्त तथा हर्षातिरेक से विकसित हृदय हो, हाथ जोड़े, सिर के चारों ओर घुमाए तथा अंजलि बांधे 'स्वामी' यों आदरपूर्ण शब्द से सकडालपुत्र को सम्बोधित—प्रत्युत्तरित करते हुए उसका कथन स्वीकृतिपूर्ण भाव से विनयपूर्वक सुना। सुनकर तेज चलने वाले बैलों द्वारा खींचे जाते उत्तम यान को शीघ्र ही उपस्थित किया।

२०८. तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया ण्हाया जाव (कयबलिकम्मा, कयकोउय-मंगल-) पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं जाव (मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिया) अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा, चेडिया-चक्कवाल-परिकिण्णा धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता पोलासपुरं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मियाओ जाणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता चेडिया-चक्कवाल-परिवुडा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो जाव (आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता) वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने नाइदूरे जाव (सुस्सूसमाणा, नमंसमाणा अभिमुहे विणएणं) पंजलिउडा ठिइया चेव पज्जुवासइ।

तब सकडालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा ने स्नान किया, (नित्य-नैमिद्धक कार्य किए, देह-सज्जा की, दुःस्वप्न आदि दोष-निवारण हेतु मंगल-विधान किया) शुद्ध, सभायोग्य (मांगलिक, उत्तम) वस्त्र पहने, थोड़े से बहुमूल्य आभूषणों से देह को अलंकृत किया। दासियों के समूह से घिरी वह धार्मिक उत्तम रथ पर सवार हुई, सवार होकर पोलासपुर नगर के बीच से गुजरती, सहस्राम्रवन उद्यान में आई, धार्मिक उत्तम रथ से नीचे उतरी, दासियों के समूह से घिरी जहां भगवान् महावीर विराजित थे, वहां गई, जाकर (तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की,) वंदन-नमस्कार किया, भगवान् के न अधिक निकट न अधिक दूर सम्मुख अवस्थित हो नमन करती हुई, सुनने की उत्कंठा लिए, विनयपूर्वक हाथ जोड़े पर्युपासना करने लगी।

२०९. तए णं समणे भगवं महावीरे अग्गिमित्ताए तीसे य जाव[1] धम्मं कहेइ।

श्रमण भगवान् महावीर ने अग्निमित्रा को तथा उपस्थित परिषद् को धर्मोपदेश दिया।

२१०. तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा, निसम्म हट्ठ-तुट्ठा समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ; वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—सद्दहामि णं, भंते ! निग्गंथं पावयणं जाव (पत्तियामि णं, भंते ! निग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, एवमेयं, भंते ! तहमेयं, भंते ! अवितहमेयं, भंते ! इच्छियमेयं, भंते ! पडिच्छियमेयं भंते ! इच्छिय-पडिच्छियमेयं, भंते !) से जहेयं तुब्भे वयह। जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे उग्गा, भोगा जाव (राइण्णा, खत्तिया, माहणा, भडा, जोहा, पसत्थारो, मल्लई, लेच्छई, अण्णे य बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभिइया मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं) पव्वइया, नो खलु अहं तहा संचाएमि देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडा भवित्ता जाव

१. देखें सूत्र-संख्या ११

(अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए।) अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त-सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहि-धम्मं पडिवज्जिस्सामि।

अहासुहं, देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।

सकडालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का श्रवण कर हर्षित एवं परितुष्ट हुई। उसने भगवान् को वंदन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार कर वह बोली—भगवन् ! मुझे निर्ग्रन्थ-प्रवचन में श्रद्धा है (विश्वास है, निर्ग्रन्थ-प्रवचन मुझे रुचिकर है, भगवन् ! यह ऐसा ही है, यह तथ्य है, सत्य है, इच्छित है, प्रतीच्छित है, इच्छित-प्रतीच्छित है,) जैसा आपने प्रतिपादित किया, वैसा ही है। देवानुप्रिय ! जिस प्रकार आपके पास बहुत से उग्र—आरक्षक-अधिकारी, भोग—राजा के मन्त्री-मण्डल के सदस्य (राजन्य—राजा के परामर्शक मण्डल के सदस्य, क्षत्रिय—क्षत्रिय वंश के राज-कर्मचारी, ब्राह्मण, सुभट, योद्धा—युद्धोपजीवी—सैनिक, प्रशास्ता—प्रशासन-अधिकारी, मल्लकि—मल्ल-गणराज्य के सदस्य, लिच्छिवि—लिच्छिवि गणराज्य के सदस्य तथा अन्य अनेक राजा, ऐश्वर्यशाली, तलवर, माडंबिक, कौटुम्बिक, धनी, श्रेष्ठी, सेनापति एवं सार्थवाह) आदि मुंडित होकर, गृहवास का परित्याग कर अनगार या श्रमण के रूप में प्रव्रजित हुए। मैं उस प्रकार मुंडित होकर (गृहवास का परित्याग कर अनगार-धर्म में) प्रव्रजित होने में असमर्थ हूं। इसलिए आपके पास पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का श्रावक-धर्म ग्रहण करना चाहती हूं।

अग्निमित्रा के यों कहने पर भगवान् ने कहा—देवानुप्रिये ! जिससे तुमको सुख हो, वैसा करो, विलम्ब मत करो।

विवेचन

इस सूत्र में आए मल्लकि और लिच्छिवि नाम भारतीय इतिहास के एक बड़े महत्त्वपूर्ण समय की ओर संकेत करते हैं। वैसे आज बोलचाल में यूरोप को, विशेषत: इंग्लैण्ड को प्रजातन्त्र का जन्मस्थान (mother of democracy) कह दिया जाता है, पर भारतवर्ष में प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का सफल प्रयोग सहस्राब्दियों पूर्व हो चुका था। भगवान् महावीर एवं बुद्ध के समय आज के पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में अनेक ऐसे राज्य थे, जहाँ उस समय की अपनी एक विशेष गणतन्त्रात्मक प्रणाली से जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि शासन करते थे। शब्द उनके लिए भी राजा था, पर वह वंश-क्रमागत राज्य के स्वामी का द्योतक नहीं था। भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ तथा बुद्ध के पिता शुद्धोधन दोनों के लिए राजा शब्द आया है, पर वे संघ-राज्यों के निर्वाचित राजा या शासन-परिषद् के सदस्य थे, जिन पर एक क्षेत्र-विशेष के शासन का उत्तरदायित्व था।

प्राचीन पालि तथा प्राकृत ग्रन्थों में इन संघ-राज्यों का अनेक स्थानों पर वर्णन आया है। कुछ संघ मिल कर अपना एक वृहत् संघ भी बना लेते थे। ऐसे संघों में वंज्जिसंघ प्रसिद्ध था, जिसमें मुख्यत: लिच्छिवि, नाय (ज्ञातृक) तथा वज्जि आदि सम्मिलित थे। उस समय के संघ-राज्यों में कपिलवस्तु के शाक्य, पावा तथा कुशीनारा के मल्ल, पिप्पलिवन के मौर्य, मिथिला के विदेह, वैशाली के लिच्छिवि तथा नाय बहुत प्रसिद्ध थे। यहां प्रयुक्त मल्लकि शब्द मल्ल संघ-राज्य से सम्बद्ध जनों के लिए तथा लिच्छिवि शब्द लिच्छिवि संघ-राज्य से सम्बद्ध जनों के लिए है। भगवान् महावीर के

पिता सिद्धार्थ लिच्छिवि और नाय संघ से सम्बद्ध थे। लिच्छिवि संघ-राज्य के प्रधान चेटक थे, जिनकी बहिन त्रिशला का विवाह सिद्धार्थ से हुआ था। अर्थात्, चेटक भगवान् महावीर के मामा थे। कल्प सूत्र में एक ऐसे संघीय समुदाय का उल्लेख है, जिसमें नौ मल्लकि, नौ लिच्छिवि तथा काशी, कोसल के १८ गणराज्य सम्मिलित थे। यह संगठन चेटक के नेतृत्व में हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य कुणिक अजातशत्रु के आक्रमण का सामना करना था।

इन संघराज्यों की संसदों, व्यवस्था, प्रशासन इत्यादि का जो वर्णन हम पालि, प्राकृत ग्रन्थों में पढ़ते हैं, उससे प्रकट होता है कि हमारे देश में जनतन्त्रात्मक प्रणाली के सन्दर्भ में सहस्रों वर्ष पूर्व बड़ी गहराई से चिन्तन हुआ था। संघ की एक सभा होती थी, वह शासन और न्याय दोनों का काम करती थी। संघ का प्रधान, जो अध्यक्षता करता था, मुख्य राजा कहलाता था। संघ की एक राजधानी होती थी, जहां सभाओं का आयोजन होता था। लिच्छिवियों की राजधानी वैशाली थी। उस समय हमारा देश धन, धान्य और समृद्धि में चरम उत्कर्ष पर था। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय वैशाली बड़ी समृद्ध और उन्नत नगरी थी। एक तिब्बती उल्लेख के अनुसार वैशाली तीन भागों में विभक्त थी, जिनमें क्रमशः सात हजार, चौदह हजार तथा इक्कीस हजार घर थे। वैशाली उस समय की महानगरी थी, इसलिए ये तीन विभाग संभवतः वैशाली, कुंडपुर और वाणिज्यग्राम हों। भगवान् महावीर का एक विशेष नाम वेसालिय (वैशाली से सम्बद्ध) भी है। भगवान् महावीर लिच्छिवि संघ के अन्तर्गत नाय (ज्ञात) संघ से सम्बद्ध थे।

२११. तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुवइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालस-विहं सावग-धम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता तमेव धम्मियं जाण-प्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया, तामेव दिसिं पडिगया।

तब अग्निमित्रा ने श्रमण भगवान् महावीर के पास पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, रूप बारह प्रकार का श्रावकधर्म स्वीकार किया, श्रमण भगवान् महावीर को वंदन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार कर उसी उत्तम धार्मिक रथ पर सवार हुई तथा जिस दिशा से आई थी उसी की ओर लौट गई।

भगवान् का प्रस्थान

२१२. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ पोलासपुराओ नयराओ सहस्संबवणाओ पडिनिग्गच्छइ, पडिनिग्गच्छित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर पोलासपुर नगर से सहस्राम्रवन उद्यान से प्रस्थान कर एक दिन अन्य जनपदों में विहार कर गए।

२१३. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव[1] विहरइ।

तत्पश्चात् सकडालपुत्र जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता श्रमणोपासक हो गया। धार्मिक जीवन जीने लगा।

गोशालक का आगमन

२१४. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—एवं खलु सद्दालपुत्ते आजीविय-समयं वमित्ता समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठि पडिवन्ने। तं गच्छामि णं सद्दालपुत्तं आजीविओ-

१. देखें सूत्र-संख्या ६४

वासयं समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठि वामेत्ता पुणरवि आजीविय-दिट्ठि गेण्हावित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता आजीविय-संघसंपरिवुडे जेणेव पोलासपुरे नयरे, जेणेव आजीवियसभा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आजीवियसभाए भंडग-निक्खेवं करेइ, करेत्ता कइवएहिं आजीविएहिं सद्धिं जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छइ।

कुछ समय बाद मंखलिपुर गोशालक ने यह सुना कि सकडालपुत्र आजीविक-सिद्धान्त को छोड़ कर श्रमण-निर्ग्रन्थों की दृष्टि—दर्शन या मान्यता स्वीकार कर चुका है, तब उसने विचार किया कि मैं आजीविकोपासक सकडालपुत्र के पास जाऊं और श्रमण निर्ग्रन्थों की मान्यता छुड़ाकर उसे फिर आजीविक-सिद्धान्त ग्रहण करवाऊं। यों विचार कर वह आजीविक संघ के साथ पोलासपुर नगर में आया, आजीविक-सभा में पहुंचा, वहां अपने पात्र, उपकरण रखे तथा कतिपय आजीविकों के साथ जहां सकडालपुत्र था, वहां गया।

सकडालपुत्र द्वारा उपेक्षा

२१५. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलि-पुत्तं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता नो आढाइ, नो परिजाणाइ, अणाढायमाणे, अपरिजाणमाणे तुसिणीए संचिट्ठइ।

श्रमणोपासक सकडालपुत्र ने मंखलिपुत्र गोशालक को आते हुए देखा। देखकर न उसे आदर दिया और न परिचित जैसा व्यवहार ही किया। आदर न करता हुआ, परिचित का सा व्यवहार न करता हुआ, अर्थात् उपेक्षाभावपूर्वक वह चुपचाप बैठा रहा।

गोशालक द्वारा भगवान् का गुण-कीर्तन

२१६. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणे अपरिजाणिज्जमाणे पीढ-फलग-सिज्जा-संथारट्ठयाए समणस्स भगवओ महावीरस्स गुणकित्तणं करेमाणे सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महामाहणे ?

श्रमणोपासक सकडालपुत्र से आदर न प्राप्त कर, उसका उपेक्षा भाव देख, मंखलिपुत्र गोशालक पीठ, फलक, शय्या तथा संस्तारक आदि प्राप्त करने हेतु श्रमण भगवान् महावीर का गुण-कीर्तन करता हुआ श्रमणोपासक सकडालपुत्र से बोला—देवानुप्रिय ! क्या यहां महामाहन आए थे ?

२१७. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—के णं, देवाणुप्पिया ! महामाहणे ?

श्रमणोपासक सकडालपुत्र ने मंखलिपुत्र गोशालक से कहा— देवानुप्रिय ! कौन महामाहन ? (आपका किससे अभिप्राय है ?)

२१८. तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—समणे भगवं महावीरे महामाहणे।

से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महामाहणे ?

एवं खलु, सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्न-णाण-दंसणधरे जाव[1] महिय-पूइए जाव[2] तच्च-कम्म-संपया-संपउत्ते। से तेणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महामाहणे।

आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महागोवे ?

---

१. देखें सूत्र-संख्या १८८

२. देखें सूत्र-संख्या १८८

के णं, देवाणुप्पिया ! महागोवे।

समणे भगवं महावीरे महागोवे।

से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! जाव (एवं वुच्चइ—समणे भगवं महावीरे) महागोवे।

एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे, विणस्समाणे, खज्जमाणे, छिज्जमाणे, भिज्जमाणे,लुप्पमाणे, विलुप्पमाणे, धम्ममएणं दंडेणं सारक्खमाणे, संगोवेमाणे, निव्वाण-महावाडं साहत्थिं संपावेइ। से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महागोवे।

आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महासत्थवाहे ?

के णं, देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ?

सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे।

से केणट्ठेणं ?

एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे, विणस्समाणे, जाव (खज्जमाणे, छिज्जमाणे, भिज्जमाणे, लुप्पमाणे,) विलुप्पमाणे धम्ममएणं पंथेणं सारक्खमाणे निव्वाण-महापट्टणाभिमुहे साहत्थिं संपावेइ। से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे।

आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महाधम्मकही !

के णं देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही ?

समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही।

से केणट्ठेणं समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही ?

एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे महइ-महालयंसि संसारंसि बहवे जीवे नस्समाणे, विणस्समाणे, खज्जमाणे, छिज्जमाणे, भिज्जमाणे, लुप्पमाणे, विलुप्पमाणे, उम्मग्गपडिवन्ने, सप्पह-विप्पणट्ठे मिच्छत्त-बलाभिभूए, अट्ठविह-कम्म-तम-पडल-पडोच्छन्ने, बहूहिं अट्ठेहि य जाव[1] वागरणेहि य चाउरंताओ संसारकंताराओ साहत्थिं नित्थारेइ। से तेणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही।

आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महानिज्जामए ?

के णं, देवाणुप्पिया ! महानिज्जामए ?

समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए।

से केणट्ठेणं ?

एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसार-महा-समुद्दे बहवे जीवे नस्समाणे, विणस्समाणे जाव[2] विलुप्पमाणे बुड्डमाणे, निबुड्डमाणे, उप्पियमाणे धम्ममईए नावाए निव्वाण-तीराभिमुहे साहत्थिं संपावेइ। से तेणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए।

मंखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सकडालपुत्र से कहा—श्रमण भगवान् महावीर महामाहन है।

---

१. देखें सूत्र-संख्या १७५

२. देखें सूत्र यही

सकडालपुत्र—देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर को महामाहन किस अभिप्राय से कहते हो ?

गोशालक—सकडालपुत्र ! श्रमण भगवान् महावीर अप्रतिहत ज्ञान दर्शन के धारक हैं, तीनों लोकों द्वारा सेवित एवं पूजित हैं, सत्कर्मसम्पत्ति से युक्त हैं, इसलिए मैं उन्हें महामाहन कहता हूं।

गोशालक ने फिर कहा—क्या यहां महागोप आए थे ?

सकडालपुत्र—देवानुप्रिय ! कौन महागोप ? (महागोप से आपका क्या अभिप्राय ?)

गोशालक—श्रमण भगवान् महावीर महागोप हैं।

सकडालपुत्र—देवानुप्रिय ! उन्हें आप किस अर्थ में महागोप कह रहे हैं ?

गोशालक—देवानुप्रिय ! इस संसार रूपीं भयानक वन में अनेक जीव नश्यमान हैं—सन्मार्ग से च्युत हो रहे हैं, विनश्यमान है—प्रतिक्षण मरण प्राप्त कर रहे हैं, खाद्यमान है—मृग आदि की योनि में शेर-बाघ आदि द्वारा खाए जा रहे हैं, छिद्यमान हैं—मनुष्य आदि योनि में तलवार आदि से काटे जा रहे हैं, भिद्यमान हैं— भाले आदि द्वारा बींधे जा रहे हैं, लुप्यमान हैं—जिनके कान, नासिका आदि का छेदन किया जा रहा है, विलुप्यमान हैं— जो विकलांग किए जा रहे हैं, उनका धर्म रूपी दंड से रक्षण करते हुए, संगोपन करते हुए—बचाते हुए, उन्हें मोक्ष रूपी विशाल बाड़े में सहारा देकर पहुंचाते हैं। सकडालपुत्र ! इसलिए श्रमण भगवान् महावीर को मैं महागोप कहता हूं।

गोशालक ने फिर कहा —देवानुप्रिय ! क्या महासार्थवाह आए थे ?

सकडालपुत्र —महासार्थवाह आप किसे कहते हैं ?

गोशालक—सकडालपुत्र ! श्रमण भगवान् महावीर महासार्थवाह हैं।

सकडालपुत्र— किस प्रकार ?

गोशालक—देवानुप्रिय ! इस संसार रूपी भयानक वन में बहुत से जीव नश्यमान, विनश्यमान, (खाद्यमान, छिद्यमान, भिद्यमान, लुप्यमान) एवं विलुप्यमान हैं, धर्ममय मार्ग द्वारा उनकी सुरक्षा करते हुए—धर्म मार्ग पर उन्हें आगे बढ़ाते हुए, सहारा देकर मोक्ष रूपी महानगर में पहुंचाते हैं। सकडालपुत्र ! इस अभिप्राय से मैं उन्हें महासार्थवाह कहता हूं।

गोशालक—देवानुप्रिय ! क्या महाधर्मकथी यहां आए थे ?

सकडालपुत्र— देवानुप्रिय ! कौन महाधर्मकथी ? (आपका किनसे अभिप्राय हैं ?)

गोशालक—श्रमण भगवान् महावीर महाधर्मकथी हैं।

सकडालपुत्र—श्रमण भगवान् महावीर महाधर्मकथी किस अर्थ में हैं ?

गोशालक—देवानुप्रिय ! इस अत्यन्त विशाल संसार में बहुत से प्राणी नश्यमान, विनश्यमान, खाद्यमान, छिद्यमान, भिद्यमान, लुप्यमान, हैं, विलुप्यमान हैं, उन्मार्गगामी हैं, सत्पथ से भ्रष्ट हैं, मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, आठ प्रकार के कर्म रूपी अन्धकार-पटल के पर्दे से ढके हुए हैं, उनको अनेक प्रकार से सत् तत्त्व समझाकर. विश्लेषण कर, चार—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नरक गतिमय संसार रूपी भयावह वन से सहारा देकर निकालते हैं, इसलिए देवानुप्रिय ! मैं उन्हें महाधर्मकथी कहता हूं।

गोशालक ने पुनः पूछा—देवानुप्रिय ! क्या यहां महानिर्यामक आए थे ?

सकडालपुत्र—देवानुप्रिय ! कौन महानिर्यामक ?

गोशालक—श्रमण भगवान् महावीर महानिर्यामक हैं।

सकडालपुत्र—किस प्रकार ?

गोशालक—देवानुप्रिय ! संसार रूपी महासमुद्र में बहुत से जीव नश्यमान, विनश्यमान एवं विलुप्यमान हैं, डूब रहे हैं, गोते खा रहे हैं, बहते जा रहे हैं, उनको सहारा देकर धर्ममयी नौका द्वारा मोक्ष रूपी किनारे पर ले जाते हैं। इसलिए मैं उनको महानिर्यामक- कर्णधार या महान् खेवैया कहता हूं।

विवेचन

इस सूत्र में भगवान् महावीर की अनेक विशेषताओं को सूचित करने वाले कई विलेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनमें 'महागोप' तथा 'महासार्थवाह' भी हैं। ये दोनों बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

भगवान् महावीर का समय एक ऐसा युग था, जिसमें गोपालन का देश में वहुत प्रचार था। उस समय के बड़े गृहस्थ हजारों की संख्या में गायें रखते थे। जैसा पहले वर्णित हुआ है, गोधन जहां समृद्धि का द्योतक था, उपयोगिता और अधिक से अधिक लोगों को काम देने की दृष्टि से भी उसका महत्त्व था। ऐसे गो-प्रधान युग में गायों की देखभाल करने वाले का—गोप का, भी कम महत्त्व नहीं था। भगवान् 'महागोप' के रूपक द्वारा यहां जो वर्णित हुए हैं, उसके पीछे समाज की गोपालनप्रधान वृत्ति का संकेत है। गायों को नियंत्रित रखने वाला गोप उन्हें उत्तम घास आदि चरने के लोभ में भटकने नहीं देता, खोने नहीं देता, चरा कर उन्हें सायंकाल उनके बाड़े में पहुंचा देता है, उसी प्रकार भगवान् के भी ऐसे लोक-संरक्षक एवं कल्याणकारी रूप की परिकल्पना इसमें है, जो प्राणियों को संसार में भटकने से बचाकर मोक्ष रूप बाड़े में निर्विघ्न पहुंचा देते हैं।

'महासार्थवाह' शब्द भी अपने आप में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सार्थवाह उन दिनों उन व्यापारियों को कहा जाता था, जो दूर-दूर भू-मार्ग से या जल-मार्ग से लम्बी यात्राएं करते हुए व्यापार करते थे। वे यदि भूमार्ग से वैसी यात्राओं पर जाते तो अनेक गाड़े-गाड़ियां माल से भर कर ले जाते, जहां लाभ मिलता बेच देते, वहां दूसरा सस्ता माल भर लेते। यदि ये यात्राएं समुद्री मार्ग से होतीं तो जहाज ले जाते। यात्राएं काफी लम्बे समय की होती थीं, जहाज में बेचने के माल के साथ-साथ उपयोग की सारी चीजें भी रखी जातीं, जैसे पीने का पानी, खाने की चीजें, औषधियां आदि। इन यात्राओं का संचालक सार्थवाह कहा जाता था।

ऐसे सार्थवाह की खास विशेषता यह होती, जब वह ऐसी व्यापारिक यात्रा करना चाहता, सारे नगर में खुले रूप में घोषित करवाता, जो भी व्यापार हेतु इस यात्रा में चलना चाहे, अपने सामान के साथ गाड़े-गाड़ियों या जहाज में आ जाय, उसकी सब व्यवस्थाएं सार्थवाह की ओर से होंगी। आगे पैसे की कमी पड़ जाय तो सार्थवाह उसे भी पूरी करेगा। इससे थोड़े माल वाले छोटे व्यापारियों को बड़ी सुविधा होती, क्योंकि अकेले यात्रा करने के साधन उनके पास होते नहीं थे,

लम्बी यात्राओं में लूट-खसोट का भी भय था, जो सार्थ में नहीं होता, क्योंकि सार्थवाह आरक्षकों का एक शस्त्र-सज्जित दल भी अपने साथ लिए रहता था।

यों छोटे व्यापारी अपने अल्पतम साधनों से भी दूर-दूर व्यापार कर पाने में सहारा पा लेते। सामाजिकता की दृष्टि से वास्तव में यह परम्परा बड़ी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण थी। इसीलिए उन दिनों सार्थवाह की बड़ी सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान था।

जैन आगमों में ऐसे अनेक सार्थवाहों का वर्णन है। उदाहरणार्थ, नायाधम्मकहाओ के १५वें अध्ययन में धन्य सार्थवाह का वर्णन है। जब वह चंपा से—अहिच्छत्रा की व्यापारिक यात्रा करना चाहता है तो वह नगर में सार्वजनिक रूप में इसी प्रकार की घोषणा कराता है कि उसके सार्थ में जो भी चलना चाहे, सहर्ष चले।

आचार्य हरिभद्र ने समरादित्यकथा के चौथे भव में धन नामक सार्थवाहपुत्र की ऐसी ही यात्रा की चर्चा की है, जब वह अपने निवास-स्थान सुशर्मनगर से ताम्रलिप्ति जा रहा था। उसने भी इसी प्रकार से अपनी यात्रा की घोषणा करवाई।

भगवान् महावीर को 'महासार्थवाह' के रूपक से वर्णित करने के पीछे महासार्थवाह शब्द के साथ रहे सामाजिक सम्मान का सूचन है। जैसे महासार्थवाह सामान्य जनों को अपने साथ लिए चलता है, बहुत बड़ी व्यापारिक मंडी पर पहुंचा देता है, वैसे ही भगवान् महावीर संसार में भटकते प्राणियों को मोक्ष—जो जीवन-व्यापार का अन्तिम लक्ष्य है, तक पहुंचने में सहारा देते हैं।

२१६. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—तुब्भे णं देवाणप्पिया ! इयच्छेया जाव (इयदच्छा, इयपट्ठा,) इयनिउणा, इय-नयवादी, इय-उवएसलद्धा, इय-विण्णाण-पत्ता, पभू णं तुब्भे मम धम्मायरिएणं धम्मोवएसएणं भगवया महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए ?

नो तिणट्ठे समट्ठे !

से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ नो खलु पभू तुब्भे ममं धम्मायरिएणं जाव (धम्मोवएसएणं, समणेणं भगवया) महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए ?

सद्दालपुत्ता ! से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे जुगवं जाव (बलवं, अप्पायंके, थिरग्गहत्थे, पडिपुण्णपाणिपाए, पिट्ठंतरोरुसंघायपरिणए, घणनिचियवट्टपालिखंधे, लंघण-पवण-जइण-वायाम-समत्थे, चम्मेट्ठ-दुघण-मुट्ठिय-समाहय-निचिय-गत्ते, उरस्सबलसमन्नागए, तालजमलजुयलबाहू, छेए, दक्खे, पत्तट्ठे,) निउण-सिप्पोवगए एगं महं अयं वा, एलयं वा, सूयरं वा, कुक्कुडं वा, तित्तिरं वा, वट्टयं वा, लावयं वा, कवोयं वा, कविजलं वा, वायसं वा, सेणयं वा हत्थंसि वा, पायंसि वा, खुरंसि वा, पुच्छंसि वा, पिच्छंसि वा, सिंगंसि वा, विसाणंसि वा, रोमंसि वा जहिं जहिं गिण्हइ, तहिं तहिं निच्चलं निप्फंदं धरेइ। एवामेव समणे भगवं महावीरे ममं बहूहिं अट्ठेहि य हेऊहि य जाव (पसिणेहि य कारणेहि य) वागरणेहि य जहिं जहिं गिण्हइ, तहिं तहिं निप्पट्ठ-पसिण-वागरणं करेइ। से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ नो खलु पभू अहं तव धम्मायरिएणं, जाव[1] महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए।

---

१. देखें सूत्र यही

तत्पश्चात् श्रमणोपासक सकडालपुत्र ने मंखलिपुत्र गोशालक से कहा—देवानुप्रिय ! आप इतने छेक विचक्षण (दक्ष-चतुर, प्रष्ठ—वाग्मी—वाणी के धनी) निपुण—सूक्ष्मदर्शी, नयवादी-नीति-वक्ता, उपदेशलब्ध—आप्तजनों का उपदेश प्राप्त किए हुए—बहुश्रुत, विज्ञान-प्राप्त—विशेष बोधयुक्त हैं, क्या आप मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक भगवान् महावीर के साथ तत्त्वचर्चा करने में समर्थ हैं ?

गोशालक—नहीं, ऐसा संभव नहीं है।

सकडालपुत्र—देवानुप्रिय ! कैसे कह रहे हैं कि आप मेरे धर्माचार्य (धर्मोपदेशक श्रमण भगवान्) महावीर के साथ तत्त्वचर्चा करने में समर्थ नहीं हैं ?

गोशालक—सकडालपुत्र ! जैसे कोई बलवान्, नीरोग, उत्तम लेखक की तरह अंगुलियों की स्थिर पकड़वाला, प्रतिपूर्ण—परिपूर्ण, परिपुष्ट हाथ-पैरवाला, पीठ, पार्श्व, जंघा आदि सुगठित अंगयुक्त—उत्तम संहननवाला, अत्यन्त सघन, गोलाकार तथा तालाब की पाल जैसे कन्धोंवाला, लंघन-अतिक्रमण—कूद कर लम्बी दूरी पार करना, प्लवन—ऊंचाई में कूदना आदि वेगपूर्वक या शीघ्रता से किए जाने वाले व्यायामों में सक्षम, ईंटों के टुकड़ों से भरे हुए चमड़े के कूंपे, मुग्दर आदि द्वारा व्यायाम का अभ्यासी, मौष्टिक—चमड़े के रस्सी में पिरोए हुए मुट्ठी के परिमाण वाले गोलाकार पत्थर के टुकड़े—व्यायाम करते समय इनसे ताडित होने से जिसके अङ्ग चिह्नित हैं—यों व्यायाम द्वारा जिसकी देह सुदृढ तथा सामर्थ्यशाली है, आन्तरिक उत्साह व शक्तियुक्त, ताड़ के दो वृक्षों की तरह सुदृढ एवं दीर्घ भुजाओं वाला, सुयोग्य, दक्ष—शीघ्रकारी, प्राप्तार्थ—कर्म-निष्णात, निपुण-शिल्पोपगत—शिल्प या कला की सूक्ष्मता तक पहुंचा हुआ कोई युवा पुरुष एक बड़े बकरे, मेंढे, सूअर मुर्गे, तीतर, बटेर, लवा, कबूतर, पपीहे, कौए या बाज के पंजे, पैर, खुर, पूंछ, पंख, सींग, रोम जहां से भी पकड़ लेता है, उसे वहीं निश्चल—गतिशून्य तथा निष्पन्द—हलन-चलन रहित कर देता है, इसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर मुझे अनेक प्रकार के तात्त्विक अर्थों, हेतुओं (प्रश्न, कारणों) तथा विश्लेषणों द्वारा जहां-जहां पकड़ लेंगे, वहीं वहीं मुझे निरुत्तर कर देंगे। सकडालपुत्र ! इसीलिए कहता हूं कि तुम्हारे धर्माचार्य भगवान् महावीर के साथ मैं तत्त्वचर्चा करने में समर्थ नहीं हूं।

गोशालक का कुंभकारापण में आगमन

२२०. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलि-पुत्तं एवं वयासी—जम्हा णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव (धम्मोवएसगस्स, समणस्स भगवओ) महावीरस्स संतेहिं, तच्चेहिं, तहिएहिं, सब्भूएहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेह, तम्हा णं अहं तुब्भे पाडिहारिएणं पीढ जाव (-फलग-सेज्जा-) संथारएणं उवनिमंतेमि, नो चेव णं धम्मोत्ति वा, तवोत्ति वा। तं गच्छह णं तुब्भे मम कुंभारावणेसु पाडिहारियं पीढ-फलग जाव (सेज्जा-संथारयं) ओगिण्हित्ताणं विहरह।

तब श्रमणोपासक सकडालपुत्र ने गोशालक मंखलिपुत्र से कहा—देवानुप्रिय ! आप मेरे धर्माचार्य (धर्मोपदेशक श्रमण भगवान्) महावीर का सत्य, यथार्थ, तथ्य तथा सद्भूत भावों से गुण-कीर्तन कर रहे हैं, इसलिए मैं आपको प्रातिहारिक पीठ (फलक, शय्या) तथा संस्तारक हेतु आमंत्रित करता हूँ, धर्म या तप मानकर नहीं। आप मेरे कुंभकारापण—बर्तनों की कर्मशाला में प्रातिहारिक पीठ, फलक (शय्या तथा संस्तारक) ग्रहण कर निवास करें।

२२१. तए णं से गोसाले मंखलि-पुत्ते सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ,

पडिसुणेत्ता कुंभारावणेसु पाडिहारियं पीढ जाव (-फलग-सेज्जा-संथारयं) ओगिण्हित्ताणं विहरइ।

मंखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सकडालपुत्र का यह कथन स्वीकार किया और वह उसकी कर्म-शालाओं में प्रातिहारिक पीठ (फलक, शय्या, संस्तारक) ग्रहण कर रह गया।

निराशापूर्ण गमन

२२२. तए णं से गोसाले मंखलि-पुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं जाहे नो संचाएइ बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य सण्णवणाहि य विण्णवणाहि य निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा, ताहे संते, तंते, परितंते पोलासपुराओ नयराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ।

मंखलिपुत्र गोशालक आख्यापना—अनेक प्रकार से कहकर, प्रज्ञापना—भेदपूर्वक तत्त्व निरूपण कर, संज्ञापना—भली भांति समझा कर तथा विज्ञापना—उसके मन के अनुकूल भाषण करके भी जब श्रमणोपासक सकडालपुत्र को निर्ग्रन्थ-प्रवचन से विचलित, क्षुभित तथा विपरिणामित—विपरीत परिणाम युक्त नहीं कर सका—उसके मनोभावों को बदल नहीं सका तो वह श्रान्त, क्लान्त और खिन्न होकर पोलासपुर नगर से प्रस्थान कर अन्य जनपदों में विहार कर गया।

देवकृत उपसर्ग

२२३. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील-जाव[1] भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स पुव्व-रत्तावरत्त-काले जाव[2] पोसहसालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

तदनन्तर श्रमणोपासक सकडालपुत्र को व्रतों की उपासना द्वारा आत्म-भावित होते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। जब पन्द्रहवां वर्ष चल रहा था, तब एक बार आधी रात के समय वह श्रमण भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्मप्रज्ञप्ति के अनुरूप पोषधशाला में उपासनारत था।

२२४. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था।

अर्ध-रात्रि में श्रमणोपासक सकडालपुत्र के समक्ष एक देव प्रकट हुआ।

२२५. तए णं से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव[3] असिं गहाय सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी-जहा चुलणीपियस्स तहेव देवो उवसग्गं करेइ। नवरं एक्केक्के पुत्ते नव मंस-सोल्लए करेइ जाव[4] कनीयसं घाएइ, घाएत्ता जाव[5] आयंचइ।

---

१. देखें सूत्र-संख्या १२२
२. देखें सूत्र-संख्या ९२
३. देखें सूत्र-संख्या ११६
४. देखें सूत्र-संख्या १३६
५. देखें सूत्र-संख्या १३६

उस देव ने एक बड़ी, नीली तलवार निकाल कर श्रमणोपासक सकडालपुत्र से उसी प्रकार कहा, वैसा ही उपसर्ग किया, जैसा चुलनीपिता के साथ देव ने किया था। सकडालपुत्र के बड़े, मंझले व छोटे बेटे की हत्या की, उनका मांस व रक्त उस पर छिड़का। केवल यही अन्तर था कि यहां देव ने एक एक पुत्र के नौ नौ मांस-खं किए।

२२६. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए अभीए जाव[1] विहरइ।

ऐसा होने पर भी श्रमणोपासक सकडालपुत्र निर्भीकतापूर्वक धर्म-ध्यान में लगा रहा।

२२७. तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं अभीयं जाव[2] पासित्ता चउत्थं पि सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो! सद्दालपुत्ता! समणोवासया! अपत्थियपत्थिया! जाव[3] न भंजेसि तओ जा इमा अग्गिमित्ता भारिया धम्म-सहाइया, धम्म-विइज्जिया, धम्माणुरागरत्ता, समसुह-दुक्ख-सहाइया, तं ते साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता नव मंससोल्लए करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट जाव (वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ) ववरोविज्जसि।

उस देव ने जब श्रमणोपासक सकडालपुत्र को निर्भीक देखा, तो चौथी बार उसको कहा—मौत को चाहनेवाले श्रमणोपासक सकडालपुत्र! यदि तुम अपना व्रत नहीं तोड़ते हो तो तुम्हारी धर्म-सहायिका—धार्मिक कार्यों में सहयोग करनेवाली, धर्मवैद्या—धार्मिक जीवन में शिथिलता या दोष आने पर प्रेरणा द्वारा धार्मिक स्वास्थ्य प्रदान करने वाली, अथवा धर्मद्वितीया-धर्म की संगिनी-साथिन, धर्मानुरागरक्ता—धर्म के अनुराग में रंगी हुई, समसुखदुःख-सहायिका—तुम्हारे सुख और दुःख में समान रूप से हाथ बंटाने वाली पत्नी अग्निमित्रा को घर से ले आऊंगा, लाकर तुम्हारे आगे उसकी हत्या करूंगा, नौ मांस-खंड करूंगा, उबलते पानी से भरी कढ़ाही में खौलाऊंगा, खौलाकर उसके मांस और रक्त से तुम्हारे शरीर को सींचूंगा, जिससे तुम आर्तध्यान और विकट दुःख से पीडित होकर (असमय में ही) प्राणों से हाथ धो बैठोगे।

विवेचन

इस सूत्र में अग्निमित्रा का एक विशेषण 'धम्मविइज्जिया' है, जिसका संस्कृतरूप 'धर्मवैद्या' भी है। भारतीय साहित्य का अपनी कोटि का यह अनुपम विशेषण है, सम्भवतः किन्हीं अन्यों द्वारा अप्रयुक्त भी। दैहिक जीवन में जैसे आधि, व्याधि, वेदना, पीडा रोग आदि उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार धार्मिक जीवन में भी अस्वस्थता, रुग्णता, पीडा आ सकती है। धर्म के प्रति उत्साह में शिथिलता आना रुग्णता है, कुंठा आना अस्वस्थता है, धर्म की बात अप्रिय लगना पीडा है। शरीर के रोगों को मिटाने के लिए सुयोग्य चिकित्सक चाहिए, उसी प्रकार धार्मिक आरोग्य देने के लिए भी वैसे ही कुशल व्यक्ति की आवश्यकता होती है। अग्निमित्रा वैसी ही कौशल—सम्पन्न 'धर्मवैद्या' थी।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ९८

२. देखें सूत्र-संख्या ९७

३. देखें सूत्र-संख्या १०७

पत्नी से पति को सेवा, प्यार, ममता—ये सब तो प्राप्य हैं, पर आवश्यक होने पर धार्मिक प्रेरणा, आध्यात्मिक उत्साह, साधन का सम्बल प्राप्त हो सके, यह एक अनूठी बात होती है। बहुत कम पत्नियां ऐसी होंगी, जो अपने पति के जीवन में सूखते धार्मिक स्रोत को पुनः सजल बना सकें। अग्निमित्रा की यह अद्भुत विशेषता थी। अत एव उसके लिए प्रयुक्त 'धर्म-वैद्या' विशेषण अत्यन्त सार्थक है। यही कारण है, जो सकडालपुत्र तीनों बेटों की निर्मम, नृशंस हत्या के समय अविचल, अडोल रहता है, वह अग्निमित्रा की हत्या की बात सुनते ही कांप जाता है, धीरज छोड़ देता है, क्षुब्ध हो जाता है। शायद सकडालपुत्र के मन में आया हो—अग्निमित्रा का, जो मेरे धार्मिक जीवन की अनन्य सहयोगिनी ही नहीं, मेरे में आनी वाली धार्मिक दुर्बलताओं को मिटा कर मुझे धर्मिष्ठ बनाए रखने में अनुपम प्रेरणादायिनी है, यों दुःखद अन्त कर दिया जायगा ? मेरे भावी जीवन में यों घोर अन्धकार छा जायगा।

२२८. तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव[1] विहरइ।

देव द्वारा यों कहे जाने पर भी सकडालपुत्र निर्भीकतापूर्वक धर्म-ध्यान में लगा रहा।

२२९. तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—हं भो! सद्दालपुत्ता! समणोवासया! तं चेव भणइ।

तब उस देव ने श्रमणोपासक सकडालपुत्र को पुनः दूसरी बार, तीसरी बार वैसा ही कहा।

अन्तःशुद्धि : आराधना : अन्त

२३०. तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स अयं अज्झत्थिए समुप्पन्ने ४ एवं जहा चुलणीपिया तहेव चिंतेइ। जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं ममं मज्झिमयं पुत्तं, जेणं ममं कणीयसं पुत्तं जाव[2] आयंचइ, जा वि य णं ममं इमा अग्गिमित्ता भारिया सम-सुह-दुक्खसहाइया, तं पि य इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएत्तए। तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए। जहा चुलणीपिया तहेव सव्वं भाणियव्वं। नवरं अग्गिमित्ता भारिया कोलाहलं सुणित्ता भणइ। सेसं जहा चुलणीपिया वत्तव्वया, नवरं अरुणभूए विमाणे उववन्ने जाव (चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता) महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो[3]

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं सत्तमं अज्झयणं समत्तं ॥

उस देव द्वारा पुनः दूसरी बार, तीसरी बार वैसा कहे जाने पर श्रमणोपासक सकडालपुत्र के मन में चुलनीपिता की तरह विचार उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा—जिसने मेरे बड़े पुत्र को, मंझले पुत्र को तथा छोटे पुत्र को मारा, उनका मांस और रक्त मेरे शरीर पर छिड़का, अब मेरी सुख दुःख में

---

१. देखें सूत्र—संख्या ९८

२. देखें सूत्र—संख्या १३६

३. एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

सहयोगिनी पत्नी अग्निमित्रा को घर से ले आकर मेरे आगे मार देना चाहता है, अतः मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं इस पुरुष को पकड़ लूं। यों विचार कर वह दौड़ा।

आगे की घटना चुलनीपिता की तरह ही समझनी चाहिये।

सकडालपुत्र की पत्नी अग्निमित्रा ने कोलाहाल सुना। शेष घटना चुलनीपिता की तरह ही कथनीय है। केवल इतना भेद है; सकडालपुत्र अरुणभूत विमान में उत्पन्न हुआ। (वहां उसकी आयु चार पल्योपम की बतलाई गई।)महाविदेह क्षेत्र में वह सिद्ध—मुक्त होगा।

"निक्षेप"[१]

सातवें अंग उपासकदशा का सातवां अध्ययन समाप्त॥

---

१. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू! सिद्धि प्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के सातवें अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

आठवां अध्ययन

सार : संक्षेप

भगवान् महावीर के समय में राजगृह उत्तर भारत का सुप्रसिद्ध नगर था। जैन वाङ्मय में बहुचर्चित राजा श्रेणिक, जो बौद्ध-साहित्य में बिम्बिसार नाम से प्रसिद्ध हैं, वहां का शासक था। राजगृह में महाशतक नाम गाथापति निवास करता था। धन, सम्पत्ति, वैभव, प्रभाव, मान-सम्मान आदि में नगर में उसका बहुत ऊंचा स्थान था। आठ करोड़ कांस्य-पात्र परिमित स्वर्ण-मुद्राएं सुरिक्षत धन के रूप में उसके निधान में थीं, उतनी ही स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार में लगी थीं, और उतनी ही घर के वैभव—साज-सामान और उपकरणों में लगी थीं। पिछले सात अध्ययनों में श्रमणोपासकों का साम्पत्तिक विस्तार मुद्राओं की संख्या के रूप में आया है, महाशतक का साम्पत्तिक विस्तार स्वर्ण-मुद्राओं से भरे हुए कांस्य-पात्रों की गणना के रूप में वर्णित हुआ है। कांस्य एक मापने का पात्र था। जिनके पास विपुल सम्पत्ति होती—इतनी होती कि मुद्राएं गिनने में भी श्रम माना जाता, वहां मुद्राओं की गिनती न कर मुद्राओं से भरे पात्रों की गिनती की जाती। महाशतक ऐसी ही विपुल, विशाल सम्पत्ति का स्वामी था। उसके यहां दस-दस हजार गायों के आठ गोकुल थे।

देश में बहु-विवाह की प्रथा भी बड़े और सम्पन्न लोगों में प्रचलित थी। सांसारिक विषय-सुख के साथ-साथ संभवतः उसमें बड़प्पन के प्रदर्शन का भी भाव रहा हो। महाशतक के तेरह पत्नियां थीं, जिनमें रेवती प्रमुख थी। महाशतक की पत्नियां भी बड़े घरों की थीं। रेवती को उसके पीहर से आठ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं और दस-दस हजार गायों के आठ गोकुल-व्यक्तिगत सम्पत्ति—प्रीतिदान के रूप में प्राप्त थी। शेष बारह पत्नियों को अपने-अपने पीहर से एक-एक करोड़ स्वर्णमुद्राएं और दस-दस हजार गायों का एक-एक गोकुल व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप प्राप्त था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों बड़े लोग अपनी पुत्रियों को विशेष रूप में ऐसी सम्पत्ति देते थे, जो तब की सामाजिक परम्परा के अनुसार उनकी पुत्रियों के अपने अधिकार में रहती। संभव है, वह सम्पत्ति तथा गोकुल आदि उन पुत्रियों के पीहर में ही रखे रहते, जहां उनकी और वृद्धि होती रहती। इससे उन बड़े घर की पुत्रियों का अपने ससुराल में प्रभाव और रौब भी रहता। आर्थिक दृष्टि से वे स्वावलम्बी भी होतीं।

संयोगवश, श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह में पदार्पण हुआ, उनके दर्शन एवं उपदेश-श्रवण के लिए परिषद् जुड़ी। महाशतक इतना वैभवशाली और सांसारिक दृष्टि से अत्यन्त सुखी था, पर वह वैभव एवं सुख-विलास में खोया नहीं था। अन्य लोगों की तरह वह भी भगवान् महावीर के सान्निध्य में पहुंचा। उपदेश सुना। आत्म-प्रेरणा जागी। आनन्द की तरह उसने भी श्रावक-व्रत स्वीकार किए। परिग्रह के रूप में आठ-आठ करोड़ कांस्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राओं की निधान आदि में रखने की मर्यादा की। गोधन को आठ गोकुलों तक सीमित रखने को संकल्प-बद्ध हुआ। अब्रह्मचर्य-सेवन की सीमा तेरह पत्नियों तक रखी। लेन-देन के सन्दर्भ में भी उसने प्रतिदिन दो द्रोण-प्रमाण कांस्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राओं तक अपने को मर्यादित किया।

महाशतक के साम्पत्तिक विस्तार और साधनों को देखते यह संभावित था, उसकी सम्पत्ति और बढ़ती जाती। इसलिए उसने अपनी वर्तमान सम्पत्ति तक अपने को मर्यादित किया। यद्यपि उसकी वर्तमान सम्पत्ति भी बहुत अधिक थी, पर जो भी हो, इच्छा और लालसा का सीमाकरण तो हुआ ही।

महाशतक की प्रमुख पत्नी रेवती व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में भी बहुत धनाढ्य थी, पर उसके मन में अर्थ और भोग की अदम्य लालसा थी। एक बार आधी रात के समय उसके मन में विचार आया कि यदि मैं अपनी बारह सौतों की हत्या कर दू तो सहज ही उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर मेरा अधिकार हो जाय और महाशतक के साथ मैं एकाकिनी मनुष्य-जीवन का विपुल विषय-सुख भोगती रहूं। बड़े घर की बेटी थी, बड़े परिवार में थी, बहुत साधन थे। उसने किसी तरह अपनी इस दुर्लालसा को पूरा कर लिया। अपनी सौतों को मरवा डाला। उसका मन चाहा हो गया। वह भौतिक सुखों में लिप्त रहने लगी। जिसमें अर्थ और भोग की इतनी घृणित लिप्सा होती है, वैसे व्यक्ति में और भी दुर्व्यसन होते हैं। रेवती मांस और मदिरा में लोलुप और आसक्त रहती थी। रेवती मांस में इतनी आसक्त थी कि उसके विना वह रह नहीं पाती थी। एक बार ऐसा संयोग हुआ राजगृह में राजा की ओर से अमारि-घोषणा करा दी गई। प्राणि-वध निषिद्ध हो गया। रेवती के लिए बड़ी कठिनाई हुई। पर उसने एक मार्ग खोज निकाला। अपने पीहर से प्राप्त नौकरों के मार्फत उसने अपने पीहर के गोकुलों से प्रतिदिन दो-दो बछड़े मार कर अपने पास पहुंचा देने की व्यवस्था की। गुप्त रूप से ऐसा चलने लगा। रेवती की विलासी वृत्ति आगे उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

श्रमणोपासक महाशतक का जीवन एक दूसरा मोड़ लेता जा रहा था। वह व्रतों की उपासना, आराधना में आगे से आगे बढ़ रहा था। ऐसा करते चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। उसकी धार्मिक भावना ने और वेग पकड़ा। उसने अपना कौटुम्बिक और सामाजिक उत्तरदायित्व अपने बड़े पुत्र को सौंप दिया। स्वयं धर्म की आराधना में अधिकाधिक निरत रहने लगा। रेवती को यह अच्छा नहीं लगा।

एक दिन की बात है, महाशतक पोषधशाला में धर्मोपासना में लगा था। शराब के नसे में उन्मत्त बनी रेवती लड़खड़ाती हुई, अपने बाल बिखेरे पोषधशाला में आई। उसने श्रमणोपासक महाशतक को धर्मोपासना से डिगाने की चेष्टा की। बार-बार कामोद्दीपक हावभाव दिखाए और उससे कहा—तुम्हें इस धर्माराधना से स्वर्ग ही तो मिलेगा! स्वर्ग में इस विषय-सुख से बढ़ कर कुछ है? धर्म की आराधना छोड़ दो, मेरे साथ मनुष्यजीवन के दुर्लभ भोग भोगो। एक विचित्र घटना थी। त्याग और भोग, विराग और राग का एक द्वन्द्व था। बड़ी विकट स्थिति यह होती है। भर्तृ-हरि ने कहा है:—

"संसार में ऐसे बहुत से शूरवीर हैं, जो मद से उन्मत्त हाथियों के मस्तक को चूर-चूर कर सकते हैं, ऐसे भी योद्धा हैं, जो सिंहों को पछाड़ डालने में समर्थ हैं, किन्तु काम के दर्प का दलन करने में विरले ही पुरुष सक्षम होते हैं।

तभी तक मनुष्य सन्मार्ग पर टिका रहता है, तभी तक इन्द्रियों की लज्जा को बचाए रख पाता है, तभी तक वह विनय और आचार बनाए रख सकता है, जब तक कामिमिनियों के भौहों

रूपी धनुष से कानों तक खींच कर छोड़े हुए पलक रूपी नीले पंख वाले, धैर्य को विचलित कर देने वाले नयन-बाण आकर छाती पर नहीं लगते।"[1]

महाशतक सचमुच एक योद्धा था—आत्म-बल का अप्रतिम धनी। वह कामुक स्थिति, कामोद्दीपक चेष्टाएं वे भी अपनी पत्नी की, उस स्थिरचेता साधक को जरा भी विचलित नहीं कर पाईं। वह अपनी उपासना में हिमालय की तरह अचल और अडोल रहा। रेवती ने दूसरी बार, तीसरी बार फिर उसे लुभाने का प्रयत्न किया, किन्तु महाशतक पर उसका तिलमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। वह धर्म-ध्यान में तन्मय रहा। भोग पर यह त्याग की विजय थी। रेवती अपना सा मुंह लेकर वापिस लौट गई।

महाशतक का साधना-क्रम उत्तरोत्तर उन्नत एवं विकसित होता गया। उसने क्रमशः ग्यारह प्रतिमाओं की सम्यक् रूप में आराधना की। उग्र तपश्चरण एवं धर्मानुष्ठान के कारण उसका शरीर बहुत कृश हो गया। उसने सोचा, अब इस अवशेष जीवन का उपयोग सर्वथा साधना में हो जाय तो बहुत उत्तम हो। तदनुसार उसने मारणान्तिक संलेखना, आमरण अनशन स्वीकार किया, उसने अपने आपको अध्यात्म में रमा दिया। उसे अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ।

इधर तो यह पवित्र स्थिति थी और उधर पापिनी रेवती वासना की भीषण ज्वाला में जल रही थी। उससे रहा नहीं गया। वह फिर श्रमणोपासक महाशतक को व्रत से च्युत करने हेतु चल पड़ी, पोषधशाला में आई। बड़ा आश्चर्य है, उसके मन में इतना भी नहीं आया, वह तो पतिता है सो है, उसका पति जो इस जीवन की अन्तिम, उत्कृष्ट साधना में लगा है, उसको च्युत करने का प्रयास कर क्या वह ऐसा अत्यन्त निन्द्य एवं जघन्य कार्य नहीं कर रही है, जिसका पाप उसे कभी शान्ति नहीं लेने देगा। असल में बात यह है, मांस और मदिरा में लोलुप व्यसनी, पापी मनुष्यों का विवेक नष्ट हो जाता है। वे नीचे से नीचे गिरते जाते हैं, घोर से घोर पाप-कार्यों में फंसते जाते हैं।

यही कारण है, जैन धर्म में मांस और मद्य के त्याग पर बड़ा जोर दिया जाता है। उन्हें सात कुव्यसनों[2] में लिया गया है, जो मानव के लिए सर्वथा त्याज्य हैं।

---

१. मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥
सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति च नरस्तावदेवेन्द्रियाणां
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते,
यावल्लीलावतीनां हृदि न धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति॥
शृङ्गारशतक ७५-७६॥

२. द्यूतमांससुरावेश्याऽऽखेटचौर्यपराङ्गनाः।
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः॥
पद्मनन्दिपंचविंशतिका १, १६।

जुआ, मांस-भक्षण, मद्य-पान, वेश्या-गमन, शिकार, चोरी तथा परस्त्री-गमन—ये महापाप रूप सात कुव्यसन हैं। बुद्धिमान् पुरुष को इनका त्याग करना चाहिए।

रेवती एक कुलांगना थी, राजगृह के एक सम्भ्रान्त और सम्माननीय गाथापति की पत्नी थी। पर, दुर्व्यसनों में फंसकर वह धर्म, प्रतिष्ठा, कुलीनता सब भूल जाती है और निर्लज्ज भाव से अपने साधक पति को गिराना चाहती है।

महाकवि कालिदास ने बड़ा सुन्दर कहा है, वास्तव में धीर वही हैं, विकारक स्थितियों की विद्यमानता के बावजूद जिनके चित्त में विकार नहीं आता।[1]

महाशतक वास्तव में धीर था। यही कारण है, वैसी विकारोत्पादक स्थिति भी उसके मन को विकृत नहीं कर सकी। वह उपासना में सुस्थिर रहा।

रेवती ने दूसरी बार, तीसरी बार फिर वही कुचेष्टा की। श्रमणोपासक महाशतक, जो अब तक आत्मस्थ था, कुछ क्षुब्ध हुआ। उसने अवधि ज्ञान द्वारा रेवती का भविष्य देखा और बोला—तुम सात रात के अन्दर भयानक अलसक रोग से पीडित होकर अत्यन्त दुःख, व्यथा, वेदना और क्लेश पूर्वक मर जाओगी। मर कर प्रथम नारक भूमि रत्नप्रभा में लोलुपाच्युत नरक में चौरासी हजार वर्ष की आयु वाले नैरयिक के रूप में उत्पन्न होगी।

रेवती ने ज्यों ही यह सुना, वह कांप गई। अब तक जो मदिरा के नशे में और भोग के उन्माद में पागल बनी थी, सहसा उसकी आंखों के आगे मौत की काली छाया नाचने लगी। उन्हीं पैरों वह वापिस लौट गई। फिर हुआ भी वैसा ही, जैसा महाशतक ने कहा था। वह सात रात में भीषण अलसक व्याधि से पीडित होकर आर्तध्यान और असह्य वेदना लिए मर गई, नरकगामिनी हुई।

संयोग से भगवान् महावीर उस समय राजगृह में पधारे। भगवान् तो सर्वज्ञ थे, महाशतक के साथ जो कुछ घटित हुआ था, वह सब जानते थे। उन्होंने अपने प्रमुख अन्तेवासी गौतम को यह बतलाया और कहा—गौतम! महाशतक से भूल हो गई है। अन्तिम संलेखना और अनशन स्वीकार किये हुए उपासक के लिए सत्य, यथार्थ एवं तथ्य भी यदि अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय और अमनोज्ञ हो, तो कहना कल्पनीय—धर्म-विहित नहीं है। वह किसी को ऐसा सत्य भी नहीं कहता, जिससे उसे भय, त्रास और पीडा हो। महाशतक ने अवधि-ज्ञान द्वारा रेवती के सामने जो सत्य भाषित किया, वह ऐसा ही था। तुम जाकर महाशतक से कहो, वह इसके लिए आलोचना-प्रतिक्रमण करे, प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

जैन दर्शन का कितना ऊंचा और गहरा चिन्तन यह है। आत्म-रत साधक के जीवन में समता, अहिंसा एवं मैत्री का भाव सर्वथा विद्यमान रहे, इससे यह प्रकट है।

गौतम महाशतक के पास आए। भगवान् का सन्देश कहा। महाशतक ने सविनय शिरोधार्य किया, आलोचना-प्रायश्चित्त कर वह शुद्ध हुआ।

श्रमणोपासक महाशतक आत्म-बल संजोये धर्मोपासना में उत्साह एवं उल्लास के साथ तन्मय रहा। यथासमय समाधिपूर्वक देह-त्याग किया, सौधर्म कल्प में अरुणावतंसक विमान में वह देव रूप में उत्पन्न हुआ।

---

१. विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः।

कुमारसंभव सर्ग—५.

आठवां अध्ययन : महाशतक

श्रमणोपासक महाशतक

२३१. अट्ठमस्स उक्खेवओ[1]। एवं खलु, जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे। गुणसीले चेइए। सेणिए राया।

उत्क्षेप[2]—उपोद्घातपूर्वक आठवें अध्ययन का प्रारम्भ यों है :—

आर्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, राजगृह नामक नगर था। नगर के बाहर गुणशील नामक चैत्य था। श्रेणिक वहां का राजा था।

२३२. तत्थ णं रायगिहे महासयए नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे, जहा आणंदो। नवरं अट्ठ हिरण्णकोडीओ सकंसाओ निहाण-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ वुड्ढि-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्णकोडीओ सकंसाओ पवित्थर-पउत्ताओ, अट्ठ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं।

राजगृह में महाशतक नामक गाथापति निवास करता था। वह समृद्धिशाली था, वैभव आदि में आनन्द की तरह था। केवल इतना अन्तर था, उसकी आठ करोड़ कांस्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राएं सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रखी थीं, आठ करोड़ कांस्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार में लगी थीं, आठ करोड़ कांस्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव में लगी थीं। उसके आठ व्रज—गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में दस-दस हजार गायें थीं।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में महाशतक की सम्पत्ति का विस्तार कांस्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राओं में बतलाया गया है। कांस्य का अर्थ कांसी से बने एक पात्र-विशेष से है। प्राचीन काल में वस्तुओं की गिनती तथा तौल के साथ-साथ माप का भी विशेष प्रचलन था। एक विशेष परिमाण की सामग्री भीतर समा सके, वैसे माप के पात्र इस काम में लिए जाते थे। यहा कांस्य का आशय ऐसे ही पात्र से है।

महाशतक की सम्पत्ति इतनी अधिक थी कि मुद्राओं की गिनती करना भी दुःशक्य था। इसलिए स्वर्ण-मुद्राओं के भरे हुए वैसे पात्र को एक इकाई मान कर यहां सम्पत्ति का परिमाण बतलाया गया है।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इन प्राचीन माप-तौलों के सम्बन्ध में चर्चाएं प्राप्त होती हैं। प्राचीन काल में मागध मान और कलिंग मान—यह दो तरह के तौल-माप प्रचलित थे। मागधमान का अधिक प्रचलन और मान्यता थी। भावप्रकाश में इस सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा है। वहाँ महर्षि चरक को आधार मानकर मागधमान का विवेचन करते हुए परमाणु से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मानों—परिमाणों की चर्चा की है। वहां बतलाया गया है :—

---

१. जइ णं भंते ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं उवासगदसाणं सत्तमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, अट्ठमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२. आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के सातवें अध्ययन का यदि यह अर्थ—भाव प्रतिपादित किया तो भगवन ! उन्होंने आठवें अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया ? (कृपया कहें।)

"तीस परमाणुओं का एक त्रसरेणु होता है। उसे वंशी भी कहा जाता है। जाली में पड़ती हुई सूर्य की किरणों में जो छोटे-छोटे सूक्ष्म रजकण दिखाई देते हैं, उनमें से प्रत्येक की संज्ञा त्रसरेणु या वंशी है। छह त्रसरेणु की एक मरीचि होती है। छह मरीचि की एक राजिका या राई होती है। तीन राई का एक सरसों, आठ सरसों का एक जौ, चार जौ की एक रत्ती, छह रत्ती का एक मासा होता है। मासे के पर्यायवाची हेम और धानक भी हैं। चार मासे का एक शाण होता है, धरण और टंक इसके पर्यायवाची हैं। दो शाण का एक कोल होता है। उसे क्षुद्रक, वटक एवं द्रङ्क्षण भी कहा जाता है। दो कोल का एक कर्ष होता है। पाणिमानिका, अक्ष, पिचु, पाणितल, किंचित्पाणि, तिन्दुक, विडालपदक, षोडशिका, करमध्य, हंसपद, सुवर्ण, कवलग्रह तथा उदुम्बर इसके पर्यायवाची हैं। दो कर्ष का एक अर्धपल (आधा पल) होता है। उसे शुक्ति या अष्टमिक भी कहा जाता है। दो शुक्ति का एक पल होता है। मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुंच, षोडशी तथा बिल्व भी इसके नाम हैं। दो पल की एक प्रसृति होती है, उसे प्रसृत भी कहा जाता है। दो प्रसृति की एक अंजलि होती है। कुडव, अर्ध शरावक तथा अष्टमान भी उसे कहा जाता है। दो कुडव की एक मानिका होती है। उसे शराव तथा अष्टपल भी कहा जाता है। दो शराव का एक प्रस्थ होता है अर्थात् प्रस्थ में ६४ तोले होते हैं। पहले ६४ तोले का ही सेर माना जाता था, इसलिए प्रस्थ को सेर का पर्यावाची माना जाता है। चार प्रस्थ का एक आढक होता है, उसको भाजन, कांस्य-पात्र तथा चौसठ पल का होने से चतुःषष्टिपल भी कहा जाता है।[1]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि २५६ तोले या ४ सेर तौल की सामग्री जिस पात्र में समा सकती थी, उसको कांस्य या कांस्यपात्र कहा जाता था।

कांस्य या कांस्यपात्र का यह एक मात्र माप नहीं था। ऐसा अनुमान है कि कांस्यपात्र भी छोटे-बड़े कई प्रकार के काम में लिए जाते थे। इस सूत्र में जिस कांस्य-पात्र की चर्चा है, उसका माप यहां वर्णित भावप्रकाश के कांस्यपात्र से बड़ा था। इसी अध्याय के २३५ वें सूत्र में श्रमणोपासक

---

१. चरकस्य मतं वैद्यैराद्यैर्यस्मान्मतं ततः। विहाय सर्वमानानि मागधं मानमुच्यते ॥
त्रसरेणुर्बुधैः प्रोक्तस्त्रिंशता परमाणुभिः। त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना वंशी निगद्यते ॥
जालान्तरगतैः सूर्यकरैर्वंशी विलोक्यते। षड्वंशीभिर्मरीचिः स्यात्ताभिः षड्भिश्च राजिका ॥
तिसृभी राजिकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः। यवोऽष्टसर्षपैः प्रोक्तो गुञ्जा स्यात्तच्चतुष्टयम् ॥
षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधानकौ। माषैश्चतुर्भिः शाणः स्याद्धरणः स निगद्यते ॥
टङ्कः स एव कथितस्तद्द्वयं कोल उच्यते। क्षुद्रको वटकश्चैव द्रङ्क्षणः स निगद्यते ॥
कोलद्वयन्तु कर्षःस्यात्स प्रोक्तः पाणिमानिका। अक्षः पिचुः पाणितलं किञ्चित्पाणिश्च तिन्दुकम् ॥
विडालपदकं चैव तथा षोडशिका मता। करमध्यो हंसपदं सुवर्णं कवलग्रहः ॥
उदुम्बरञ्च पर्यायैः कर्षमेव निगद्यते। स्यात्कर्षाभ्यामर्द्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा ॥
शुक्तिभ्याञ्च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका। प्रकुञ्चः षोडशी विल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते ॥
पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतञ्च निगद्यते। प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात्कुडवोऽर्द्ध शरावकः ॥
अष्टमानञ्च स ज्ञेयः कुडवाभ्याञ्च मानिका। शरावोऽष्टपलं तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणैः ॥
शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थश्चतुः प्रस्थस्तथाऽऽढकः। भाजनं कांस्यपात्रं च चतुःषष्टिपलश्च सः ॥
—भावप्रकाश, पूर्वखंड द्वितीय भाग, मानपरिभाषाप्रकरण २—४

महाशतक अपने दैनन्दिन लेन-देन के सम्बन्ध में एक मर्यादा करता है, जिसके अनुसार वह एक दिन में दो द्रोण-परिमाण कांस्यपरिमित स्वर्ण-मुद्राओं से अधिक का लेन-देन में उपयोग न करने को संकल्प-बद्ध होता है। इसे कुछ स्पष्ट रूप में समझ लें।

ऊपर आढक तक के मान की चर्चा आई है। भावप्रकाश में आगे बताया गया है कि चार आढक का एक द्रोण होता है। उसको कलश, नल्वण, अर्मण, उन्मान, घट तथा राशि भी कहा जाता है। दो द्रोण का एक शूर्प होता है, उसको कुंभ भी कहा जाता है तथा ६४ शराव का होने से चतुःषष्टि शरावक भी कहा जाता है।[1]

इसका आशय यह हुआ, जिस पात्र में दो द्रोण अर्थात् आठ आढक या ३२ प्रस्थ अर्थात् ६४ तोले के सेर के हिसाब से ३२ सेर तौल की वस्तुएं समा सकती थीं, वह शूर्प या कुंभ कहा जाता था। इस सूत्र में आया कांस्य या कांस्यपात्र इसी शूर्प या कुंभ का पर्यायवाची है। भावप्रकाशकार ने जिसे शूर्प या कुंभ कहा है ठीक इसी अर्थ में यहां कांस्य शब्द प्रयुक्त है, क्योंकि दो द्रोण का शूर्प या कुंभ होता है और यहां आए वर्णन के अनुसार दो द्रोण का वह कांस्य पात्र था। शार्ङ्गधर-संहिता में भी इसकी इसी रूप में चर्चा आई है।[2]

पत्नियाँ : उनकी सम्पत्ति

२३३. तस्स णं महासयगस्स रेवईपामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था, अहीण जाव (पडिपुण्ण-पंचिंदियसरीराओ, लक्खण-वंजण-गुणोववेयाओ, माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्ण-सुजायसव्वंग-सुन्दरंगीओ, ससि-सोमाकार-कंत-पिय-दंसणाओ) सुरूवाओ।

महाशतक के रेवती आदि तेरह रूपवती पत्नियां थीं। (उनके शरीर की पांचों इन्द्रियां अहीनप्रतिपूर्ण—रचना की दृष्टि से अखंडित, संपूर्ण, अपने अपने विषयों में सक्षम थीं, वह उत्तम लक्षण—सौभाग्य सूचक हाथ की रेखाएं आदि, व्यंजन—उत्कर्ष सूचक तिल, मस आदि चिह्न तथा गुण—सदाचार, पातिव्रत्य आदि से युक्त थीं, अथवा लक्षणों और व्यंजनों के गुणों से युक्त थीं। दैहिक फैलाव, वजन, ऊंचाई आदि की दृष्टि से वे परिपूर्ण, श्रेष्ठ तथा सर्वांगसुन्दर थीं। उनका आकार—स्वरूप चन्द्र के समान सौम्य तथा देखने में लुभावना था।) रूप सुन्दर था।

२३४. तस्स णं महासयगस्स रेवईए भारियाए कोल-घरियाओ अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ, अट्ठ वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था। अवसेसाणं दुवालसण्हं भारियाणं कोल-घरिया एगमेगा हिरण्ण-कोडी, एगमेगे य वए, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था।

महाशतक की पत्नी रेवती के पास अपने पीहर से प्राप्त आठ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं तथा दस-

---

१. चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशो नल्वणोऽर्मणः।
उन्मानञ्च घटो राशिर्द्रोणपर्यायसंज्ञितः॥
शूर्पाभ्याञ्च भवेद् द्रोणी वाहो गोणी च सा स्मृता॥
द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुःषष्टिशरावकः।
—भावप्रकाश, पूर्वखण्ड, द्वितीय भाग, मानपरिभाषा प्रकरण १५, १६

२. शार्ङ्गधरसंहिता १.१.१५—२९

दस हजार गायों के आठ गोकुल व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में थे। बाकी बारह पत्नियों के पास उनके पीहर से प्राप्त एक-एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं तथा दस-दस हजार गायों का एक-एक गोकुल व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में था।

महाशतक द्वारा व्रत-साधना

२३५. तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे। परिसा निग्गया। जहा आणंदो तहा निग्गच्छइ। तहेव सावय-धम्मं पडिवज्जइ। नवरं अट्ठ हिरण्णकोडीओ सकंसाओ उच्चारेइ, अट्ठ वया, रेवइपामोक्खाहिं तेरसहिं भारियाहिं अवसेसं मेहुणविहिं पच्चक्खाइ। सेसं सव्वं तहेव, इमं च णं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—कल्लाकल्लिं च णं कप्पइ मे बे-दोणियाए कंस-पाईए हिरण्ण-भरियाए संववहरित्तए।

उस समय भगवान् महावीर का राजगृह में पदार्पण हुआ। परिषद् जुड़ी। महाशतक आनन्द की तरह भगवान् की सेवा में गया। उसी की तरह उसने श्रावक-धर्म स्वीकार किया। केवल इतना अन्तर था, महाशतक ने परिग्रह के रूप में आठ-आठ करोड़ कांस्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राएं निधान आदि में रखने की तथा गोकुल रखने की मर्यादा की। रेवती आदि तेरह पत्नियों के सिवाय अवशेष मैथुन-सेवन का परित्याग किया। उसने बाकी सब प्रत्याख्यान आनन्द की तरह किए। केवल एक विशेष अभिग्रह लिया—एक विशेष मर्यादा और की—मैं प्रतिदिन लेन-देन में दो द्रोण-परिमाण कांस्य-परिमित स्वर्ण-मुद्राओं की सीमा रखूंगा।

२३६. तए णं से महासयए समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव[1] विहरइ।

तब महाशतक, जो जीव, अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर चुका था, श्रमणोपासक हो गया। धार्मिक जीवन जीने लगा।

२३७. तए णं समणे भगवं महावीरे बहिया जणवय-विहारं विहरइ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर अन्य जनपदों में विहार कर गए।

रेवती की दुर्लालसा

२३८. तए णं तीसे रेवईए गाहावइणीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त-कालसमयंसि कुडुम्ब जाव (जागरियं जागरमाणीए) इमेयारूवे अज्झत्थिए[४]—एवं खलु अहं इमासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं विघाएणं नो संचाएमि महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं माणुस्सयाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरित्तए। तं सेयं खलु ममं एयाओ दुवालस वि सवत्तियाओ अग्गिप्पओगेणं वा, सत्थप्पओगेणं वा, विसप्पओगेणं वा जीवियाओ ववरोवित्ता एयासिं एगमेगं हिरण्ण-कोडिं, एगमेगं वयं सयमेव उव-सम्पज्जित्ता णं महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं जाव (माणुस्सयाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी) विहरित्तए। एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं अंतराणि य छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणी विहरइ।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ६४

एक दिन आधीरात के समय गाथापति महाशतक की पत्नी रेवती के मन में, जब वह अपने पारिवारिक विषयों की चिन्ता में जग रही थी, यों विचार उठा—मैं इन अपनी बारह, सौतों के विघ्न के कारण अपने पति श्रमणोपासक महाशतक के साथ मनुष्य-जीवन के विपुल विषय-सुख भोग नहीं पा रही हूं। अतः मेरे लिए यही अच्छा है कि मैं इन बारह सौतों की अग्नि-प्रयोग, शस्त्र-प्रयोग या विष-प्रयोग द्वारा जान ले लूं। इससे इनकी एक-एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं और एक-एक गोकुल मुझे सहज ही प्राप्त हो जायगा। मैं श्रमणोपासक महाशतक के साथ मनुष्य-जीवन के विपुल विषय-सुख भोगती रहूंगी। यों विचार कर वह अपनी बारह सौतों को मारने के लिए अनुकूल अवसर, सूनापन एवं एकान्त की टोह में रहने लगी।

२३९. तए णं सा रेवई गाहावइणी अन्नया कयाइ तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं अंतरं जाणित्ता छ सवत्तीओ सत्थप्पओगेणं उद्दवेइ, उद्दवेत्ता छ सवत्तीओ विसप्पओगेणं उद्दवेइ, उद्दवेत्ता तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं कोल-घरियं एगमेगं हिरण्ण-कोडिं, एगमेगं वयं सयमेव पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ।

एक दिन गाथापति की पत्नी रेवती ने अनुकूल अवसर पाकर अपनी बारह सौतों में से छह को शस्त्र-प्रयोग द्वारा और छह को विष-प्रयोग द्वारा मार डाला। यों अपनी बारह सौतों को मार कर उनकी पीहर से प्राप्त एक-एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं तथा एक-एक गोकुल स्वयं प्राप्त कर लिया और वह श्रमणोपासक महाशतक के साथ विपुल भोग भोगती हुई रहने लगी।

रेवती की मांस-मद्य-लोलुपता

२४०. तए णं सा रेवई गाहावइणी मंस-लोलुया, मंसेसु मुच्छिया, गिद्धा, गढिया, अज्झोववन्ना बहु-विहेहिं मंसेहि य सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च महुं च मेरगं च मज्जं च सीधुं च पसन्नं च आसाएमाणी, विसाएमाणी, परिभाएमाणी, परिभुंजेमाणी विहरइ।

गाथापति की पत्नी रेवती मांस-भक्षण में लोलुप, आसक्त, लुब्ध तथा तत्पर रहती। वह लोहे की सलाख पर सेके हुए, घी आदि में तले हुए तथा आग पर भूने हुए बहुत प्रकार के मांस एवं सुरा, मधु, मेरक, मद्य, सीधु व प्रसन्न नामक मदिराओं का आस्वादन करती, मजा लेती, छक कर सेवन करती।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में सुरा, मधु, मेरक, मद्य, सीधु तथा प्रसन्न नामक मदिराओं का उल्लेख है, जिन्हें रेवती प्रयोग में लेती थी। आयुर्वेद के ग्रन्थों में आसवों तथा अरिष्टों के साथ-साथ मद्यों का भी वर्णन है। वैसे आसव एवं अरिष्ट में भी कुछ मात्रा में मद्यांश होता है, पर उनका मादक द्रव्यों या मद्यों में समावेश नहीं किया जाता। मदिरा की भिन्न स्थिति है। उसमें मादक अंश अधिक मात्रा में होता है, जिसके कारण मदिरासेवी मनुष्य उन्मत्त, विवेकभ्रष्ट और पतित हो जाता है।

आयुर्वेद में मद्य को आसव एवं अरिष्ट के साथ लिए जाने का मुख्य कारण उनकी निर्माण-विधि की लगभग सदृशता है। वनौषधि, फल, मूल, सार, पुष्प, कांड, पत्र, त्वचा आदि को कूट-पीस कर जल के साथ मिला कर उनका घोल तैयार कर घड़े या दूसरे बर्तन में संधित कर—कपड़मिट्टी से

अच्छी तरह बन्द कर, जमीन में गाड़ दिया जाता है या धूप में रक्खा जाता है। वैसे एक महीने का विधान है, पर कुछ ही दिनों में भीतर ही भीतर उकट कर उस घोल में विलक्षण गन्ध, रस, प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। वह आसव का रूप ले लेता है। वनौषधि आदि का जल के साथ क्वाथ तैयार कर, चतुर्थांश जलीय भाग रहने पर, उसे बर्तन में संधित कर जमीन में गाड़ा जाता है या धूप में रखा जाता है। यथासमय संस्कार-निष्पन्न होकर वह अरिष्ट बन जाता है। जमीन में गाड़े हुए या धूप में दिए हुए द्रव से मयूर-यन्त्र—वाष्प-निष्कासन-यन्त्र द्वारा जब उस का सार चुआ लिया जाता है, वह मद्य है। उसमें मादकता की मात्रा अत्यधिक तीव्रता लिए रहती है। मद्य के निर्माण में गुड़ या खांड तथा रांगजड़ या तत्सदृश मूल—जड़ डालना आवश्यक है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में जहां मदिरा के भेदों का वर्णन है, वहां प्रकारान्तर से ये नाम भी आए हैं, जिनका इस सूत्र में संकेत है। उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

सुरा—भावप्रकाश के अनुसार शालि व साठी धान्य की पीठी से जो मद्य तैयार होता है, उसे सुरा कहा जाता है।[1]

मधु—वह मद्य, जिसके निर्माण में अन्य वस्तुओं के साथ शहद भी मिलाया जाता है। अष्टांगहृदय में इसे माधव मद्य कहा गया है।[2] सुश्रुतसंहिता में इसका मध्वासव के नाम से उल्लेख है। मधु और गुड़ द्वारा इसका संधान बतलाया गया है।[3]

मेरक—आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसका मैरेय नाम से उल्लेख है। सुश्रुतसंहिता में इसे त्रियोनि कहा गया है अर्थात् पीठी से बनी सुरा, गुड़ से बना आसव तथा मधु इन तीनों के मेल से यह तैयार होता है।[4]

मद्य—वैसे मद्य साधारणतया मदिरा का नाम है, पर यहां संभवतः यह मदिरा के मार्द्वीक भेद से सम्बद्ध है। सुश्रुतसंहिता के अनुसार यह द्राक्षा या मुनक्का से तैयार होता है।[5]

सीधु—भावप्रकाश में ईख के रस से बनाए जाने वाले मद्य को सीधु कहा जाता है। वह ईख के पक्के रस एवं कच्चे रस दोनों से अलग-अलग तैयार होता है। दोनों की मादकता में अन्तर होता है।[6]

---

१. शालिषष्टिकपिष्टादिकृतं मद्यं सुरा स्मृता।

—भावप्रकाश पूर्व खण्ड, प्रथम भाग, सन्धान वर्ग २३।

२. मध्वासवो माक्षिकेण सन्धीयते माधवाख्यो मद्यविशेषः।

—अष्टांगहृदय ५, ७५ (अरुणदत्तकृत सर्वाङ्गसुन्दरा टीका)।

३. मध्वासवो मधुगुडाभ्यां सन्धानम्।

—सुश्रुतसंहिता सूत्र स्थान ४५, १८८ (डल्हणाचार्यविरचितनिबन्धसंग्रहा व्याख्या)।

४. सुरा पैष्टी, आसवश्च गुडयोनिः, मधु च देयमिति त्रियोनित्वम्।

—सुश्रुतसंहिता सूत्र स्थान ४५, १९० (व्याख्या)।

५. मार्द्वीकं द्राक्षोद्भवम्।

—सुश्रुतसंहिता सूत्र स्थान ४५, १७२ (व्याख्या)।

६. इक्षोः पक्वै रसैः सिद्धैः सीधुः पक्वरसश्च सः।
आमैस्तैरेव यः सीधुः स च शीतरसः स्मृतः॥

—भावप्रकाश पूर्व खण्ड, प्रथम भाग, सन्धान वर्ग २५।

प्रसन्न—सुश्रुतसंहिता के अनुसार सुरा का नितरा हुआ ऊपरी स्वच्छ भाग प्रसन्न या प्रसन्ना कहा जाता है।[1]

अष्टांगहृदय में वारुणी का पर्याय प्रसन्ना लिखा है। तदनुसार सुरा का ऊपरी स्वच्छ भाग प्रसन्ना है। उसके नीचे का गाढ़ा भाग जगल कहा जाता है। जगल के नीचे का भाग मेदक कहा जाता है। नीचे बचे कल्क को निचोड़ने से निकला द्रव बक्कस कहा जाता है।[2]

२४१. तए णं रायगिहे नयरे अन्नया कयाइ अमाघाए घुट्ठे यावि होत्था।

एक बार राजगृह नगर में अमारि—प्राणि-वध न करने की घोषणा हुई।

२४२. तए णं सा रेवई गाहावइणी मंस-लोलुया, मंसेसु मुच्छिया ४ कोल-घरिए पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं बयासी—तुब्भे, देवाणुप्पिया! मम कोल-घरिएहिंतो वएहिंतो कल्लाकल्लिं दुवे दुवे गोण-पोयए उद्दवेह, उद्दवित्ता ममं उवणेह।

गाथापति की पत्नी रेवती ने, जो मांस में लोलुप एवं आसक्त थी, अपने पीहर के नौकरों को बुलाया और उनसे कहा— तुम मेरे पीहर के गोकुलों में से प्रतिदिन दो-दो बछड़े मारकर मुझे ला दिया करो।

२४३. तए णं ते कोल-घरिया पुरिसा रेवईए गाहावइणीए 'तहत्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता रेवईए गाहावइणीए कोल-घरएहिंतो वएहिंतो कल्लाकल्लिं दुवे दुवे गोण-पोयए वहेंति, वहेत्ता रेवईए गाहावइणीए उवणेंति।

पीहर के नौकरों ने गाथापति की पत्नी रेवती के कथन को 'जैसी आज्ञा' कहकर विनयपूर्वक स्वीकार किया तथा वे उसके पीहर के गोकुलों में से हर रोज सवेरे दो बछड़े लाने लगे।

२४४. तए णं सा रेवई गाहावइणी तेहिं गोण-मंसेहिं सोल्लेहि य ४ सुरं च ६ आसाएमाणी ४ विहरइ।

गाथापति की पत्नी रेवती बछड़ों के मांस के शूलक—सलाखों पर सेके हुए टुकड़ों आदि का तथा मदिरा का लोलुप भाव से सेवन करती हुई रहने लगी।

महाशतक : अध्यात्म की दिशा में

२४५. तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स बहूहिं सील जाव[3] भावेमाणस्स चोद्दस

---

१. प्रसन्ना सुराया मण्ड उपर्यच्छो भागः।
—सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान ४५.१७७ (व्याख्या)

२. वारुणी—प्रसन्ना।
वारुण्या अधोभागो घनो जगलः। जगलस्याधो भागो मेदकः। पानीयेन मद्यकल्कपीडनोत्पन्नो बक्कसः।
—अष्टांगहृदय सूत्र स्थान ५, ६८ (टीका)।

३. देखें सूत्र-संख्या १२२

संवच्छरा वइक्कंता। एवं तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ जाव[1] पोसहसालाए धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ।

श्रमणोपासक महाशतक को विविध प्रकार के व्रतों, नियमों द्वारा आत्मभावित होते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। आनन्द आदि की तरह उसने भी ज्येष्ठ पुत्र को अपनी जगह स्थापित किया—पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तदायित्व बड़े पुत्र को सौंपा तथा स्वयं पोषधशाला में धर्माराधना में निरत रहने लगा।

महातशक को डिगाने हेतु रेवती का कामुक उपक्रम

२४६. तए णं सा रेवई गाहावइणी मत्ता, लुलिया, विइण्णकेसी उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी विकड्ढमाणी जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मोहुम्मायजणणाइं, सिंगारियाइं इत्थिभावाइं उवदंसेमाणी उवदंसेमाणी महासययं समणोवासयं एवं वयासी—हं भो! महासयया! समणोवासया! धम्म-कामया! पुण्ण-कामया! सग्ग-कामया! मोक्ख-कामया! धम्म-कंखिया! ४, धम्म-पिवासिया ४, किण्णं तुब्भं, देवाणुप्पिया! धम्मेण वा पुण्णेण वा सग्गेण वा मोक्खेण वा? जं णं तुमं मए सद्धिं उरालाइं जाव (माणुस्साइं भोगभोगाइं) भुंजमाणे नो विहरसि?

एक दिन गाथापति की पत्नी रेवती शराब के नशे में उन्मत्त, लड़खड़ाती हुई, बाल बिखेरे, बार-बार अपना उत्तरीय—दुपट्टा या ओढना फेंकती हुई, पोषधशाला में जहां श्रमणोपासक महाशतक था, आई। आकर बार-बार मोह तथा उन्माद जनक, कामोद्दीपक कटाक्ष आदि हाव भाव प्रदर्शित करती हुई श्रमणोपासक महाशतक से बोली— धर्म, पुण्य, स्वर्ग तथा मोक्ष की कामना, इच्छा एवं उत्कंठा रखनेवाले श्रमणोपासक महाशतक! तुम मेरे साथ मनुष्य-जीवन के विपुल विषय-सुख नहीं भोगते, देवानुप्रिय! तुम धर्म, पुण्य, स्वर्ग तथा मोक्ष से क्या पाओगे—इससे बढ़कर तुम्हें उनसे क्या मिलेगा?

२४७. तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणाइ, अणाढाइज्जमाणे, अपरियाणमाणे, तुसिणीए, धम्मज्झाणोवगए विहरइ।

श्रमणोपासक महाशतक ने अपनी पत्नी रेवती की इस बात को कोई आदर नहीं दिया और न उस पर ध्यान ही दिया। वह मौन भाव से धर्माराधना में लगा रहा।

२४८. तए णं सा रेवई गाहावइणी महासययं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—हं भो! तं चेव भणइ, सो वि तहेव जाव (रेवईए गाहावइणीए एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणाइ) अणाढाइज्जमाणे अपरियाणमाणे विहरइ।

उसकी पत्नी रेवती ने दूसरी बार तीसरी बार फिर वैसा कहा। पर वह उसी प्रकार अपनी पत्नी रेवती के कथन को आदर न देता हुआ, उस पर ध्यान न देता हुआ धर्म-ध्यान में निरत रहा।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ९२

२४९. तए णं सा रेवई गाहावइणी महासयएणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणी, अपरियाणिज्जमाणी जामेव दिसं पाउब्भूया, तामेव दिसं पडिगया।

यों श्रमणोपासक महाशतक द्वारा आदर न दिए जाने पर, ध्यान न दिए जाने पर उसकी पत्नी रेवती, जिस दिशा से आई थी उसी दिशा की ओर लौट गई।

महाशतक की उत्तरोत्तर बढ़ती साधना

२५०. तए णं से महासयए समणोवासए पढमं उवासग-पडिमं उवसंपज्जिता णं विहरइ। पढमं अहासुत्तं जाव एक्कारसवि।

श्रमणोपासक महाशतक ने पहली उपासकप्रतिमा स्वीकार की। यों पहली से लेकर क्रमशः ग्यारहवीं तक सभी प्रतिमाओं की शास्त्रोक्त विधि से आराधना की।

२५१. तए णं से महासयए समणोवासए तेणं उरालेणं जाव[1] किसे धमणिसंतए जाए।

उग्र तपश्चरण से श्रमणोपासक महाशतक के शरीर में इतनी कृशता—क्षीणता आ गई कि उस पर उभरी हुई नाड़ियां दीखने लगीं।

आमरण अनशन

२५२. तए णं तस्स महासययस्स समणोवासयस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त-काले धम्म-जागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए ४—एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं जहा आणंदो तहेव अपच्छिम-मारणंतियसंलेहणाए झूसिय-सरीरे भत्त-पाण-पडियाइक्खिए कालं अणवकंखमाणे विहरइ।

एक दिन अर्द्ध रात्रि के समय धर्म-जागरण—धर्म स्मरण करते हुए आनन्द की तरह श्रमणोपासक महाशतक के मन में विचार उत्पन्न हुआ —उग्र तपश्चरण द्वारा मेरा शरीर अत्यन्त कृश हो गया है, आदि। आनन्द की तरह चिन्तन करते हुए उसने अन्तिम मारणान्तिक संलेखना स्वीकार की, खान-पान का परित्याग किया—अनशन स्वीकार किया, मृत्यु की कामना न करता हुआ, वह आराधना में लीन हो गया।

अवधिज्ञान का प्रादुर्भाव

२५३. तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स सुभेणं अज्झवसाणेणं जाव (सुभेणं परिणामेणं, लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं तदावरणिज्जाणं कम्माणं) खओवसमेणं ओहि-णाणे समुप्पन्ने—पुरत्थिमेणं लवणसमुद्दे जोयण-साहस्सियं खेत्तं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणेणं, पच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं जाव चुल्लहिमवंतं वासहरपव्वयं जाणइ पासइ, अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुयं नरयं चउरासीइ-वाससहस्सट्ठिइयं जाणइ पासइ।

तत्पश्चात् श्रमणोपासक महाशतक को शुभ अध्यवसाय, (शुभ परिणाम—अन्तःपरिणति, विशुद्ध होती हुई लेश्याओं— के कारण) अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न हो

१. देखें सूत्र-संख्या ७३

गया। फलतः वह पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में एक-एक हजार योजन तक का लवण समुद्र का क्षेत्र, उत्तर दिशा में हिमवान् वर्षधर पर्वत तक क्षेत्र तथा अधोलोक में प्रथम नारकभूमि रत्नप्रभा में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले लोलुपाच्युतनामक नरक तक जानने देखने लगा।

रेवती द्वारा पुनः असफल कुचेष्टा

२५४. तए णं सा रेवई गाहावइणी अन्नया कयाइ मत्त जाव (लुलिया, विइण्णकेसी) उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी २ जेणेव महासयए समणोवासए जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता महासययं तहेव भणइ, जाव[1] दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—हं भो ! तहेव।

तत्पश्चात् एक दिन महाशतक गाथापति की पत्नी रेवती शराब के नशे में उन्मत्त (लड़खड़ाती हुई, बाल बिखेरे) बार-बार अपना उत्तरीय फेंकती हुई पोषधशाला में जहां श्रमणोपासक महाशतक था, आई। आकर महाशतक से पहले की तरह बोली। (तुम मेरे साथ मनुष्य-जीवन के विपुल विषय-सुख नहीं भोगते, देवानुप्रिय ! तुम्हें धर्म, पुण्य, स्वर्ग तथा मोक्ष से क्या मिलेगा ?) उसने दूसरी बार, तीसरी बार, फिर वैसा ही कहा।

महाशतक द्वारा रेवती का दुर्गतिमय भविष्य-कथन

२५५. तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चंपि, तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरत्ते ४ ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवइं गाहावइणिं एवं वयासी—हं भो रेवई ! अपत्थिय-पत्थिए ४ एवं खलु तुमं अंतो सत्त-रत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया समाणी अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा असमाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ-वाससहस्सट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिसि।

अपनी पत्नी रेवती द्वारा दूसरी बार तीसरी बार यों कहे जाने पर श्रमणोपासक महाशतक को क्रोध आ गया। उसने अवधिज्ञान का प्रयोग किया, प्रयोग कर उपयोग लगाया। अवधिज्ञान द्वारा जानकर उसने अपनी पत्नी रेवती से कहा—मौत को चाहने वाली रेवती ! तू सात रात के अन्दर अलसक नामक रोग से पीडित होकर आर्त्त-व्यथित, दुःखित तथा विवश होती हुई आयु-काल पूरा होने पर अशान्तिपूर्वक मरकर अधोलोक में प्रथम नारक भूमि रत्नप्रभा में लोलुपाच्युत नामक नरक में चौरासी हजार वर्ष के आयुष्यवाले नैरयिकों में उत्पन्न होगी।

विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अलसक रोग का उल्लेख हुआ है, जिससे पीडित होकर अत्यन्त कष्ट के साथ रेवती का मरण हुआ।

अलसक आमाशय तथा उदर सम्बन्धी रोगों में भीषण रोग है। अष्टांगहृदय में मात्राशितीय अध्याय में इसका वर्णन है। वहां लिखा है :—

"दुर्बल, मन्द अग्निवाले, मल-मूत्र आदि का वेग रोकने वाले व्यक्ति का वायु विमार्गगामी हो जाता है, वह पित्त और कफ को भी बिगाड़ देता है। वायु विकृत हो जाने से खाया हुआ अन्न

---

१. देखें सूत्र २४६

आमाशय के भीतर ही कफ से रुद्ध हो कर अटक जाता है, अलसीभूत—आलस्ययुक्त—गतिशून्य हो जाता है, जिससे शल्य चुभने जैसी भयानक पीडा उठती है, तीव्र, दुःसह शूल उत्पन्न हो जाते हैं, वमन और शौच अवरुद्ध रहते हैं, जिससे विकृत अन्न बाहर नहीं निकल पाता। अर्थात् आमाशय में कफरुद्ध अन्नपिण्ड जाम हो जाता है। उसे अलस या अलसक रोग कहा जाता है।"[1]

उसी प्रसंग में वहां दण्डकालसक की चर्चा है जो अलसक का भीषणतम रूप है। लिखा है:—

"अत्यन्त दूषित या विकृत हुए दोष, दूषित आम—कच्चे रस से बंधकर देह के स्रोतों को रोक देते हैं, तिर्यक् गामी हो जाते हैं, सारे शरीर को दंड की तरह स्तंभित बना देते हैं—देह का फैलना-सिकुड़ना बन्द हो जाता है उसे दंडकालसक कहा जाता है। वह असाध्य है, रोगी को शीघ्र ही समाप्त कर देता है।[2]

माधवनिदान में भी अजीर्ण निदान के प्रसंग में अलसक की चर्चा है। वहां लिखा हैं :—

"जिस रोग में कुक्षि या आमाशय बंधा सा रहे अर्थात् आफरा आ जाय, खिचावट सी बनी रहे, इतनी पीडा हो कि आदमी कराहने लगे, पवन का वेग नीचे की ओर न चल कर ऊपर आमाशय की ओर दौड़े, शौच व अपानवायु बिलकुल रुक जाय, प्यास लगे, डकारें आएं, उसे अलसक कहते हैं।"[3]

अष्टांगहृदय तथा माधवनिदान के बताए लक्षणों से स्पष्ट है कि अलसक वड़ा कष्टकर रोग है।

---

१. विशेषाद् दुर्वलस्याऽल्पवह्नेर्वेगविधारिणः।
पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा॥
अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम्।
शूलादीन्कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान्॥
सोऽलसः

दुर्वलत्वादियुक्तस्य यन्मारुतेन विशेषादन्नं पीडितमन्तराऽऽमाशयमध्य एव श्लेष्मणा रुद्धमलसीभूतं, तथा दोषैः क्षोभितमाकुलितमत एवाऽतिपीडाकारित्वाच्छल्यरूपत एव स्थितं, तीव्रान् दुःसहान् शूलादीन् छर्द्यादिवर्जितान् कुरुते। छर्द्यतीसाराभ्यां विसूचिकोक्ता। सोऽलससंज्ञो रोगः। दुर्वलो ह्यनुपचितधातुः, स न कदाचिदाहारं सोढुं शक्तः। अल्पाग्नेश्चाहारं सम्यङ् न जीर्यति। यतो वेगधारणशीलस्य प्रतिहतो वायुर्विमार्गगः पित्तकफावपि विमार्गगौ कुरुत इत्येतद्विशेषेण निर्देशः।

अष्टांगहृदय ८. १०, ११ टीकासहित

२. ... अत्यर्थदुष्टास्तु दोषा दुष्टाऽऽमबद्धखाः।
यान्तस्तिर्यक्तनुं सर्वां दण्डवत्स्तम्भयन्ति चेत्॥
अष्टाङ्गहृदय ८. १२

३. कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत् परिकूजति।
निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति॥
वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु॥
माधवनिदान, अजीर्णनिदान १७, १८

रेवती का दुःखमय अन्त

२५६. तए णं सा रेवई गाहावइणी महासयएणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणी एवं वयासी-रुट्ठे णं ममं महासयए समणोवासए, हीणे णं ममं महासयए समणोवासए, अवज्झाया णं अहं महासयएणं समणोवासएणं, न नज्जइ णं, अहं केण वि कुमारेणं मारिज्जिस्सामि त्ति कट्टु भीया, तत्था, तसिया, उव्विग्गा, संजायभया सणियं २ पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ओहय-जाव (मण-संकप्पा, चिंता-सोग-सागर-संपविट्ठा, करयल-पल्हत्थमुहा, अट्ट-ज्झाणोवगया, भूमिगय-दिट्ठिया) झियाइ।

श्रमणोपासक महाशतक के यों कहने पर रेवती अपने आप से कहने लगी—श्रमणोपासक महाशतक मुझ पर रुष्ट होगया है, मेरे प्रति उसमें दुर्भावना उत्पन्न हो गई है, वह मेरा बुरा चाहता है, न मालूम मैं किस बुरी मौत से मार डाली जाऊं। यों सोचकर वह भयभीत, त्रस्त, व्यथित, उद्विग्न होकर, डरती-डरती धीरे-धीरे वहाँ से निकली, घर आई। उसके मन में उदासी छा गई, (वह चिन्ता और शोक के सागर में डूब गई, हथेली पर मुंह रखे, आर्तध्यान में खोई हुई, भूमि पर दृष्टि गड़ाए) व्याकुल होकर सोच में पड़ गई।

२५७. तए णं सा रेवई गाहावइणी अंतो सत्तरत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया अट्टदुहट्ट-वसट्टा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ना।

तत्पश्चात् रेवती सात रात के भीतर अलसक रोग से पीडित हो गई। व्यथित, दुःखित तथा विवश होती हुई वह अपना आयुष्य पूरा कर प्रथम नारक भूमि रत्नप्रभा में लोलुपाच्युत नामक नरक में चौरासी हजार वर्ष के आयुष्य वाले नैरयिकों में नारक रूप में उत्पन्न हुई।

गौतम द्वारा भगवान का प्रेरणा-सन्देश

२५८. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरणं जाव[1] परिसा पडिगया।

उस समय श्रमण भगवान् महावीर राजगृह में पधारे। समवसरण हुआ। परिषद् जुड़ी, धर्म-देशना सुन कर लौट गई।

२५९. गोयमा! इ समणे भगवं महावीरे एवं वयासी—एवं खलु गोयमा! इहेव रायगिहे नयरे ममं अंतेवासी महासयए नामं समणोवासए पोसह-सालाए अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणाए झूसिय-सरीरे, भत्तपाण-पडियाइक्खिए कालं अणवकंखमाणे विहरइ।

श्रमण भगवान् महावीर ने गौतम को सम्बोधित कर कहा—गौतम! यहीं राजगृह नगर में मेरा अन्तेवासी—अनुयायी महाशतक नामक श्रमणोपासक पोषधशाला में अन्तिम मारणान्तिक संलेखना की आराधना में लगा हुआ, आहार-पानी का परित्याग किए हुए मृत्यु की कामना न करता हुआ, धर्माराधना में निरत है।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ११

२६०. तए णं तस्स महासयगस्स रेवई गाहावइणी मत्ता जाव (लुलिया, विइण्णकेसी उत्तरिज्जयं) विकड्ढमाणी २ जेणेव पोसहसाला, जेणेव महासयए, तेणेव उवागया, मोहुम्माय जाव (-जणणाइं, सिंगारियाइं इत्थिभावाइं उवदंसेमाणी २ महासययं समणोवासयं) एवं वयासी, तहेव जाव[1] दोच्चंपि, तच्चंपि एवं वयासी।

घटना यों हुई—महाशतक की पत्नी रेवती शराब के नशे में उन्मत्त, (लड़खड़ाती हुई, बाल बिखेरे, बार-बार अपना उत्तरीय फेंकती हुई) पोषधशाला में महाशतक के पास आई। (बार-बार मोह तथा उन्माद जनक कामोद्दीपक, कटाक्ष आदि हावभाव प्रदर्शित करती हुई) श्रमणोपासक महाशतक से विषय-सुख सम्बन्धी वचन बोली। उसने दूसरी बार तीसरी बार फिर वैसा ही कहा।

२६१. तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरत्ते ४ ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवइं गाहावइणिं एवं वयासी—जाव[2] उववज्जिहिसि, नो खलु कप्पइ, गोयमा ! समणोवासगस्स अपच्छिम जाव (मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-) झूसिय-सरीरस्स, भत्त-पाणपडियाइक्खियस्स परो संतेहिं, तच्चेहिं, तहिएहिं, सब्भूएहिं, अणिट्ठेहिं, अकंतेहिं, अप्पिएहिं, अमणुण्णेहिं, अमणामेहिं वागरणेहिं वागरित्तए। तं गच्छ णं, देवाणुप्पिया ! तुमं महासययं समणोवासयं एवं वयाहि—नो खलु देवाणुप्पिया ! कप्पइ समणोवासगस्स अपच्छिम जाव (मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसियस्स,) भत्त-पाण-पडियाइक्खियस्स परो संतेहिं जाव (तच्चेहिं, तहिएहिं, सब्भूएहिं, अणिट्ठेहिं, अकंतेहिं, अप्पिएहिं, अमणुण्णेहिं, अमणामेहिं वागरणेहिं) वागरित्तए। तुमे य णं देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी संतेहिं ४ अणिट्ठेहिं ५ वागरणेहिं वागरिया। तं णं तुमं एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव[3] जहारिहं च पायच्छित्तं पडिवज्जाहि।

अपनी पत्नी रेवती द्वारा दूसरी बार, तीसरी बार यों कहे जाने पर श्रमणोपासक महाशतक को क्रोध आ गया। उसने अवधिज्ञान का प्रयोग किया, प्रयोग कर उपयोग लगाया। अवधिज्ञान से जान कर रेवती से कहा—(मौत को चाहने वाली रेवती ! तू सात रात के अन्दर अलसक नामक रोग से पीडित होकर, व्यथित, दुःखित तथा विवश होती हुई, आयुकाल पूरा होने पर अशान्तिपूर्वक मर कर नीचे प्रथम नारक भूमि रत्नप्रभा में लोलुपाच्युत नामक नरक में चौरासी हजार वर्ष के आयुष्य वाले नैरयिकों में उत्पन्न होओगी।)

गौतम ! सत्य, तत्त्वरूप—यथार्थ या उपचारहित, तथ्य—अतिशयोक्ति या न्यूनोक्तिरहित, सद्भूत—जिनमें कही हुई बात सर्वथा विद्यमान हो, ऐसे वचन भी यदि अनिष्ट—जो इष्ट न हों अकान्त—जो सुनने में अकमनीय या असुन्दर हो, अप्रिय—जिन्हें सुनने से मन में अप्रीति हो, अमनोज्ञ—जिन्हें मन न बोलना चाहे, न सुनना चाहे, अमनः आप—जिन्हें मन न सोचना चाहे, न स्वीकार करना चाहे—ऐसे हों तो अन्तिम मरणान्तिक संलेखना की आराधना में लगे हुए, अनशन स्वीकार किए हुए श्रमणोपासक के लिए उन्हें बोलना कल्पनीय—धर्मविहित नहीं है। इसलिए देवानुप्रिय ! तुम श्रमणोपासक महाशतक के पास जाओ और उसे कहो कि अन्तिम मारणान्तिक

१. देखें सूत्र-संख्या २५४

२. देखें सूत्र-संख्या २५५

३. देखें सूत्र-संख्या ८४

संलेखना की ग्राराधना में लगे हुए, ग्रनशन स्वीकार किए हुए श्रमणोपासक के लिए सत्य, (तत्त्वरूप, तथ्य, सद्भूत) वचन भी यदि ग्रनिष्ट, ग्रकान्त, ग्रप्रिय, ग्रमनोज्ञ, मन प्रतिकूल हों तो बोलना कल्पनीय नहीं है। देवानुप्रिय ! तुमने रेवती को सत्य किन्तु ग्रनिष्ट वचन कहे। इसलिए तुम इस स्थान की—धर्म के प्रतिकूल ग्राचरण की ग्रालोचना करो, यथोचित प्रायश्चित्त स्वीकार करो।

२६२. तए णं से भगवं गोयमे समणस्स भगवग्रो महावीरस्स तहत्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तग्रो पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं ग्रणुप्पविसइ, ग्रणुप्पविसित्ता जेणेव महासयगस्स समणोवासयस्स गिहे, जेणेव महासयए समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ।

भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर का यह कथन 'ग्राप ठीक फरमाते हैं, यों कह कर विनयपूर्वक सुना। वे वहां से चले। राजगृह नगर के बीच से गुजरे, श्रमणोपासक महाशतक के घर पहुंचे, उसके पास गए।

२६३. तए णं से महासयए समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव[1] हियए भगवं गोयमं वंदइ नमंसइ।

श्रमणोपासक महाशतक ने जब भगवान् गौतम को ग्राते देखा तो वह हर्षित एवं प्रसन्न हुग्रा। उन्हें वंदन—नमस्कार किया।

२६४. तए णं से भगवं गोयमे महासययं समणोवासयं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ भासइ, पण्णवेइ, परूवेइ नो खलु कप्पइ, देवाणुप्पिया ! समणोवासगस्स ग्रपच्छिम जाव (मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसियस्स भत्त-पाण-पडियाइ-क्खियस्स परो संतेहिं, तच्चेहिं, तहिएहिं, सब्भूएहिं, ग्रणिट्ठेहिं, ग्रकंतेहिं, ग्रप्पिएहिं, ग्रमणुण्णेहिं, ग्रमणामेहिं वागरणेहिं) वागरित्तए। तुमे णं देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी संतेहिं जाव[2] वागरिया, तं णं तुमं देवाणुप्पिया ! एयस्स ठाणस्स ग्रालोएहि जाव[3] पडिवज्जाहि।

भगवान् गौतम ने श्रमणोपासक महाशतक से कहा—देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर ने ऐसा ग्राख्यात, भाषित, प्रज्ञप्त एवं प्ररूपित किया है—कहा है—(देवानुप्रिय ! ग्रन्तिम मारणान्तिक संलेखना की ग्राराधना में लगे हुए, ग्रनशन स्वीकार किए हुए श्रमणोपासक के लिए सत्य, तत्त्वरूप, तथ्य, सद्भूत वचन भी यदि ग्रनिष्ट, ग्रकान्त, ग्रप्रिय, ग्रमनोज्ञ तथा मन के प्रतिकूल हों तो उन्हें बोलना कल्पनीय नहीं है। देवानुप्रिय ! तुम ग्रपनी पत्नी रेवती के प्रति ऐसे वचन बोले, इसलिए तुम इस स्थान की—धर्म के प्रतिकूल ग्राचरण की ग्रालोचना करो, प्रायश्चित्त स्वीकार करो।

महाशतक द्वारा प्रायश्चित्त

२६५. तए णं से महासयए समणोवासए भगवग्रो गोयमस्स 'तहत्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स ग्रालोएइ जाव[4] ग्रहारिहं च पायच्छित्तं पडिवज्जइ।

१. देखें सूत्र-संख्या १२
२. देखें सूत्र-संख्या २६१
३. देखें सूत्र-संख्या ८४
४. देखें सूत्र-संख्या ८७

तब श्रमणोपासक महाशतक ने भगवान् गौतम का कथन 'आप ठीक फरमाते हैं' कह कर विनयपूर्वक स्वीकार किया, अपनी भूल की आलोचना की, यथोचित प्रायश्चित्त किया।

२६६. तए णं से भगवं गोयमे महासयगस्स समणोवासयस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तत्पश्चात् भगवान् गौतम श्रमणोपासक महाशतक के पास से रवाना हुए, राजगृह नगर के बीच से गुजरे, जहां श्रमण भगवान् महावीर थे, वहां आए। भगवान् को वंदन—नमस्कार किया। वंदन—नमस्कार कर संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए धर्माराधना में लग गए।

२६७. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ रायगिहाओ नयराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर, किसी समय राजगृह नगर से प्रस्थान कर अन्य जनपदों में विहार कर गए।

२६८. तए णं से महासयए समणोवासए बहूहिं सील जाव[1] भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासग-परियायं पाउणित्ता, एक्कारस उवासगपडिमाओ सम्मं काएण फासित्ता, मासियाए संलेयणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय-पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे अरुणवडिंसए विमाणे देवत्ताए उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवो[2]

।। सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं अट्ठमं अज्झयणं समत्तं ।।

यों श्रमणोपासक महाशतक ने अनेक विध व्रत, नियम आदि द्वारा आत्मा को भावित किया—आत्मशुद्धि की। बीस वर्ष तक श्रमणोपासक—श्रावक-धर्म का पालन किया। ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं की भली भांति आराधना की। एक मास की संलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन सम्पन्न कर आलोचना, प्रतिक्रमण कर, मरणकाल आने पर समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। वह सौधर्म देवलोक में अरुणावतसक विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहां आयु चार पल्योपम की है। महाविदेह क्षेत्र में वह सिद्ध—मुक्त होगा।

।। निक्षेप[3] ।।

।। सातवें अंग उपासकदशा का आठवाँ अध्ययन समाप्त ।।

---

१. देखे सूत्र-संख्या १२२

२. एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

३. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! सिद्धि-प्राप्त भगवान् महावीर ने आठवें अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

नौवां अध्ययन

सार : संक्षेप

श्रावस्ती नगरी में नन्दिनीपिता नामक एक समृद्धिशाली गाथापति था। उसकी सम्पत्ति बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं में थी, जिसका तीसरा भाग सुरक्षित पूंजी के रूप में अलग रखा हुआ था, उतना ही व्यापार में लगा था तथा उतना ही घर के वैभव—साज-सामान आदि में लगा हुआ था। उसके दस-दस हजार गायों के चार गोकुल थे। उसकी पत्नी का नाम अश्विनी था।

नन्दिनीपिता एक सम्पन्न, सुखी गृहस्थ का जीवन बिता रहा था। एक सुन्दर प्रसंग बना। भगवान् महावीर श्रावस्ती में पधारे। श्रद्धालु मानव-समुदाय दर्शन के लिए उमड़ पड़ा। नन्दिनीपिता भी गया। भगवान् की धर्म-देशना सुनी। अन्तः प्रेरित हुआ। गाथापति आनन्द की तरह उसने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

नन्दिनीपिता अपने व्रतमय जीवन को उत्तरोत्तर विकसित करता गया। यों चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। उसका मन धर्म में रमता गया। उसने पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्वों से मुक्ति लेना उचित समझा। अपने स्थान पर ज्येष्ठ पुत्र को मनोनीत किया। स्वयं धर्म की आराधना में जुट गया। शुभ संयोग था, उसकी उपासना में किसी प्रकार का उपसर्ग या विघ्न नहीं हुआ। उसने बीस वर्ष तक सम्यक् रूप में श्रावक-धर्म का पालन किया। यों आनन्द की तरह साधनामय जीवन जीते हुए अन्त में समाधि-मरण प्राप्त कर वह सौधर्मकल्प में अरुणगव विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ।

नौवां अध्ययन : नन्दिनीपिता

गाथापति नन्दिनीपिता

२६९. नवमस्स उक्खेवो[1]। एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया।

तत्थ णं सावत्थीए नयरीए नंदिणीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे। चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ वुड्ढि-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। अस्सिणी भारिया।

उत्क्षेप[2]—उपोद्घातपूर्वक नौवें अध्ययन का प्रारम्भ यों है—

जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, श्रावस्ती नामक नगरी थी, कोष्ठक नामक चैत्य था। जितशत्रु वहां का राजा था।

श्रावस्ती नगरी में नन्दिनीपिता नामक समृद्धिशाली गाथापति निवास करता था। उसकी चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रक्खी थीं, चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार में लगी थीं तथा चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर की साधन-सामग्री में लगी थीं। उसके चार गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में दस-दस हजार गायें थीं। उसकी पत्नी का नाम अश्विनी था।

व्रत : आराधना

२७०. सामी समोसढे। जहा आणंदो तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ। सामी बहिया विहरइ।

भगवान् महावीर श्रावस्ती में पधारे। समवसरण हुआ। आनन्द की तरह नन्दिनीपिता ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया। भगवान् अन्य जनपदों में विहार कर गए।

२७१. तए णं से नंदिणीपिया समणोवासए जाए जाव[3] विहरइ।

नन्दिनीपिता श्रावक-धर्म स्वीकार कर श्रमणोपासक हो गया, धर्माराधनापूर्वक जीवन बिताने लगा।

साधनामय जीवन : अवसान

२७२. तए णं तस्स नंदिणीपियस्स समणोवासयस्स बहूहिं सीलव्वय-गुण जाव[4] भावेमाणस्स

---

१. जइ णं भंते ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं उवासगदसाणं अट्ठमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, नवमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२. आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धि प्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के आठवें अध्ययन का यदि यह अर्थ—भाव प्रतिपादित किया तो भगवन् ! उन्होंने नौवें अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया ? (कृपया कहें)।

३. देखें सूत्र-संख्या ६४

४. देखें सूत्र-संख्या १२२

चोद्दस संवच्छराइं वइक्कंताइं। तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ। धम्म-पण्णत्ति। वीसं वासाइं परियागं। नाणत्तं अरुणगवे विमाणे उववाओ। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

निक्खेवओ[1]

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं नवमं अज्झयणं समत्तं ॥

तदनन्तर श्रमणोपासक नन्दिनीपिता को अनेक प्रकार से अणुव्रत, गुणव्रत आदि की आराधना द्वारा आत्मभावित होते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। उसने आनन्द आदि की तरह अपने ज्येष्ठ पुत्र को पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व सौंपा। स्वयं धर्मोपासना में निरत रहने लगा।

नन्दिनीपिता ने बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया। आनन्द आदि से इतना अन्तर है—देह-त्याग कर वह अरूणगव विमान में उत्पन्न हुआ। महाविदेह क्षेत्र में वह सिद्ध—मुक्त होगा।

"निक्षेप"[2]

"सातवें अंग उपासक दशा का नौवां अध्ययन समाप्त ॥

---

१. एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव संपत्तेणं नवमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि।

२. निगमन—आर्य सुधर्मा बोले—जम्बू ! सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने नौवें अध्ययन का यही अर्थ—भाव कहा था, जो मैंने तुम्हें बतलाया है।

दसवां अध्ययन

सार : संक्षेप

श्रावस्ती में सालिहीपिता नामक एक धनाढ्य तथा प्रभावशाली गाथापति था। उसकी पत्नी का नाम फाल्गुनी था। नन्दिनीपिता की तरह सालिहीपिता की सम्पत्ति भी बाहर करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं में थी, जिसका एक भाग सुरक्षित पूंजी के रूप में रखा था तथा दो भाग बराबर-बराबर व्यापार एवं घर के वैभव—साज-सामान आदि में लगे थे।

एक बार भगवान् महावीर का श्रावस्ती में पदार्पण हुआ। श्रद्धालु जनों में उत्साह छा गया। भगवान् के दर्शन एवं उपदेश-श्रवण हेतु वे उमड़ पड़े। सालिहीपिता भी गया। भगवान् के उपदेश से उसे अध्यात्म-प्रेरणा मिली। उसने गाथापति आनन्द की तरह श्रावक-धर्म स्वीकार किया। चौदह वर्ष के बाद उसने अपने आपको अधिकाधिक धर्माराधना में जोड़ देने के लिए अपना लौकिक उत्तरदायित्व ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया, स्वयं उपासना में लग गया। उसने श्रावक की ११ प्रतिमाओं की यथाविधि उपासना की।

सालिहीपिता की आराधना-उपासना में कोई उपसर्ग नहीं आया। अन्त में उसने समाधि-मरण प्राप्त किया। सौधर्म कल्प में अरुणकील विमान में वह देव रूप में उत्पन्न हुआ।

दसवां अध्ययन : सालिहीपिता

गाथापति सालिहीपिता

२७३. दसमस्स उक्खेवो[1]। एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नयरी। कोट्ठए चेइए। जियसत्तू राया।

तत्थ णं सावत्थीए नयरीए सालिहीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे दित्ते। चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ वड्ढि-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। फग्गुणी भारिया।

उत्क्षेप[2]—उपोद्घातपूर्वक दसवें अध्ययन का प्रारम्भ यों है :—

जम्बू ! उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, श्रावस्ती नामक नगरी थी, कोष्ठक नामक चैत्य था। जितशत्रु वहां का राजा था।

श्रावस्ती नगरी में सालिहीपिता नामक एक धनाढ्य एवं दीप्त—दीप्तिमान्—प्रभावशाली गाथापति निवास करता था। उसकी चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं सुरक्षित धन के रूप में खजाने में रखी थीं, चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं व्यापार में लगी थीं तथा चार करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं घर के वैभव—साधन-सामग्री में लगी थीं। उसके चार गोकुल थे। प्रत्येक गोकुल में दस-दस हजार गायें थीं। उसकी पत्नी का नाम फाल्गुनी था।

सफल साधना

२७४. सामी समोसढे। जहा आणंदो तहेव गिहिधम्मं पडिज्जइ। जहा कामदेवो तहा जेट्ठं पुत्तं ठवेत्ता पोसहसालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। नवरं निरुवसग्गाओ एक्कारस वि उवासग-पडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ, एवं कामदेव-गमेणं नेयव्वं जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ।

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमं अज्झयणं समत्तं ॥

भगवान् महावीर श्रावस्ती में पधारे। समवसरण हुआ। आनन्द की तरह सालिहीपिता ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया। कामदेव की तरह उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व सौंपा। भगवान् महावीर के पास अंगीकृत धर्मशिक्षा के अनुरूप स्वयं पोषधशाला में

१. जइ णं भंते ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं उवासगदसाणं नवमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, दसमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?

२. आर्य सुधर्मा से जम्बू ने पूछा—सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने उपासकदशा के नवमे अध्ययन का यदि यह अर्थ—भाव प्रतिपादित किया, तो भगवन् ! उन्होंने दसवें अध्ययन का क्या अर्थ बतलाया ? (कृपया कहें)

उपासना निरत रहने लगा। इतना ही अन्तर रहा—उसे उपासना में कोई उपसर्ग नहीं हुआ, पूर्वोक्त रूप में उसने ग्यारह श्रावक-प्रतिमाओं की निर्विघ्न आराधना की। उसका जीवन-क्रम कामदेव की तरह समझना चाहिए। देह-त्याग कर वह सौधर्म-देवलोक में अरुणकील विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ। उसकी आयुस्थिति चार पल्योपम की है। महाविदेह क्षेत्र में वह सिद्ध—मुक्त होगा।

"सातवें अंग उपासकदशा का दसवां अध्ययन समाप्त"

उपसंहार

२७५. दसण्ह वि पणरसमे संवच्छरे वट्टमाणाणं चिंता ।
दसण्ह वि वीसं वासाइं समणोवासय-परियाओ ।।

उपसंहार

दसों ही श्रमणोपासकों को पन्द्रहवें वर्ष में पारिवारिक, सामाजिक उत्तरदात्वि से मुक्त हो कर धर्म-साधना में निरत होने का विचार हुआ । दसों ही ने बीस वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया ।

२७६. एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव[1] संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते ।

आर्य सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! सिद्धिप्राप्त भगवान् महावीर ने सातवें अंग उपासकदशा के दसवें अध्ययन का यह अर्थ—भाव प्रज्ञप्त—प्रतिपादित किया ।

२७७. उवासगदसाणं सत्तमस्स अंगस्स एगो सुय-खंधो । दस अज्झयणा एक्कसरगा, दससु चेव दिवसेसु उद्दिस्संति । तओ सुय-खंधो समुद्दिस्सइ । अणुण्णविज्जइ दोसु दिवसेसु अंगं तहेव ।

।। उवासगदसाओ समत्ताओ ।।

सातवें अंग उपासकदशा में एक श्रुत-स्कन्ध है । दस अध्ययन हैं । उनमें एक सरीखा स्वर—पाठ-शैली है, गद्यात्मक शैली में ये ग्रथित हैं । इसका दस दिनों में उपदेश किया जाता है । तत्पश्चात् दो दिनों में समुद्देश—सूत्र को स्थिर और परिचित करने का उपदेश किया जाता है और अनुज्ञा-संमति दी जाती है । इसी प्रकार अंग का समुद्देश और अनुमति समझना चाहिए ।

"उपासकदशा सूत्र समाप्त हुआ"

—

१. देखें सूत्र-संख्या २

संगह-गाहाओ[1]

वाणियगामे चंपा दुवे य बाणारसीए नयरीए ।
आलभिया य पुरवरी कंपिल्लपुरं च बोद्धव्वं ॥ १ ॥

पोलासं रायगिहं सावत्थीए पुरीए दोन्नि भवे ।
एए उवासगाणं नयरा खलु होन्ति वोद्धव्वा ॥ २ ॥

सिवनंद-भद्द-सामा धन्न-वहुल-पूस-अग्गिमित्ता य ।
रेवइ-अस्सिणि तह फग्गुणी य भज्जाण नामाइं ॥ ३ ॥

ओहिण्णाण-पिसाए माया वाहि-धण-उत्तरिज्जे य ।
भज्जा य सुव्वया दुव्वया निरुवसग्गया दोन्नि ॥ ४ ॥

अरुणे अरुणाभे खलु अरुणप्पह-अरुणकंत-सिट्ठे य ।
अरुणज्झए य छट्ठे भूय वडिंसे गवे कीले ॥ ५ ॥

चाली सट्ठी असीई सट्ठि सट्ठी य सट्ठि दस सहस्सा ।
असिई चत्ता चत्ता एए वइयाण य सहस्साणं ॥ ६ ॥

वारस अट्ठारस चउवीसं तिविहं अट्ठरसइ नेयं ।
धन्नेण ति-चोव्वीसं बारस बारस य कोडीओ ॥ ७ ॥

उल्लण-दंतवण-फले अब्भिगणुव्वट्टणे सिणाणे य ।
वत्थ-विलेवण-पुप्फे आभरणं धूव-पेज्जाइ ॥ ८ ॥

भक्खोयण-सूय-घए सागे माहुर-जेमणऽन्नपाणे य ।
तंबोले इगवीसं आणंदाईण अभिग्गहा ॥ ९ ॥

उड्ढं सोहम्मपुरे लोलूए अहे उत्तरे हिमवंते ।
पंचसए तह तिदिसिं ओहिण्णाणं दसगणस्स ॥१०॥

दंसण-वय-सामाइय-पोसह-पडिमा-अबंभ-सच्चित्ते ।
आरंभ-पेस-उद्दिट्ठ-वज्जए समणभूए य ॥११॥

इक्कारस पडिमाओ वीसं परियाओ अणसणं मासे ।
सोहम्मे चउपलिया महाविदेहम्मि सिज्झिहिइ ॥१२॥

उवासगदसाओ समत्ताओ

---

१. ये गाथाएं प्रस्तुत ग्रन्थ के मूल पाठ का भाग नहीं हैं। ये पूर्वाचार्यकृत गाथाएं हैं, जिनमें ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय है।

संग्रह-गाथाओं का विवरण

प्रस्तुत सूत्र में वर्णित उपासक निम्नांकित नगरों में हुए—

श्रमणोपासक		नगर
आनन्द	—	वाणिज्यग्राम
कामदेव	—	चम्पा
चुलनीपिता	—	वाराणसी
सुरादेव	—	वाराणसी
चुल्लशतक	—	आलभिका
कुंडकौलिक	—	काम्पिल्यपुर
सकडालपुत्र	—	पोलासपुर
महाशतक	—	राजगृह
नन्दिनीपिता	—	श्रावस्ती
सालिहीपिता	—	श्रावस्ती

श्रमणोपासकों की भार्याओं के नाम निम्नांकित थे—

श्रमणोपासक		भार्या
आनन्द	—	शिवनन्दा
कामदेव	—	भद्रा
चुलनीपिता	—	श्यामा
सुरादेव	—	धन्या
चुल्लशतक	—	बहुला
कुंडकौलिक	—	पूषा
सकडालपुत्र	—	अग्निमित्रा
महाशतक	—	रेवती आदि तेरह
नन्दिनीपिता	—	अश्विनी
सालिहीपिता	—	फाल्गुनी

श्रमणोपासकों के जीवन की विशेष घटनाएं निम्नांकित थी

श्रमणोपासक		विशेष घटना
आनन्द	—	अवधिज्ञान के विस्तार के सम्बन्ध में गौतम स्वामी का संशय, भगवान् महावीर द्वारा समाधान।
कामदेव	—	पिशाच आदि के रूप में देवोपसर्ग, श्रमणोपासक की अन्त तक दृढता।

चुलनीपिता	—	देव द्वारा मातृवध की धमकी से व्रत-भंग, प्रायश्चित्त ।
सुरादेव	—	देव द्वारा सोलह भयंकर रोग उत्पन्न कर देने की धमकी से व्रत-भंग, प्रायश्चित्त ।
चुल्लशतक	—	देव द्वारा स्वर्ण-मुद्राएं आदि सम्पत्ति बिखेर देने की धमकी से व्रत-भंग, प्रायश्चित्त ।
कुंडकौलिक	—	देव द्वारा उत्तरीय एवं अंगूठी उठा कर गोशालक मत की प्रशंसा, कुंडकौलिक की दृढता, नियतिवाद का खण्डन, देव का निरुत्तर होना ।
सकडालपुत्र	—	व्रतशील पत्नी अग्निमित्रा द्वारा भग्न-व्रत पति को पुन: धर्मस्थित करना ।
महाशतक	—	व्रत-हीन रेवती का उपसर्ग, कामोद्दीपक व्यवहार, महाशतक की अविचलता ।
नन्दिनीपिता	—	व्रताराधना में कोई उपसर्ग नहीं हुआ ।
सालिहीपिता	—	व्रताराधना में कोई उपसर्ग नहीं हुआ ।

श्रमणोपासक देह त्याग कर निम्नांकित विमानों में उत्पन्न हुए—

श्रमणोपासक		विमान
आनन्द	—	अरुण
कामदेव	—	अरुणाभ
चुलनीपिता	—	अरुणप्रभ
सुरादेव	—	अरुणकान्त
चुल्लशतक	—	अरुणश्रेष्ठ
कुंडकौलिक	—	अरुणध्वज
सकडालपुत्र	—	अरुणभूत
महाशतक	—	अरुणावतंस
नन्दिनीपिता	—	अरुणगव
सालिहीपिता	—	अरुणकील

श्रमणोपासकों के गोधन की संख्या निम्नांकित रूप में थी—

श्रमणोपासक		गायों की संख्या
आनन्द	—	४० हजार
कामदेव	—	६० ”
चुलनीपिता	—	८० ”
सुरादेव	—	६० ”
चुल्लशतक	—	६० ”

कुंडकौलिक	—	६० हजार
सकडालपुत्र	—	१० "
महाशतक	—	८० "
नन्दिनीपिता	—	४० "
सालिहीपिता	—	४० "

श्रमणोपासकों की सम्पत्ति निम्नांकित स्वर्ण-मुद्राओं में थी—

श्रमणोपासक		स्वर्ण-मुद्राएं
आनन्द	—	१२ करोड़
कामदेव	—	१८ "
चुलनीपिता	—	२४ "
सुरादेव	—	१८ "
चुल्लशतक	—	१८ "
कुंडकौलिक	—	१८ "
सकडालपुत्र	—	३ "
महाशतक	—	कांस्य-परिमित २४ "
नन्दिनीपिता	—	१२ "
सालिहीपिता	—	१२ "

आनन्द आदि श्रमणोपासकों ने निम्नांकित २१ बातों में मर्यादा की थी—

१, शरीर पोंछने का तौलिया, २, दतौन, ३. केश एवं देह-शुद्धि के लिए फल-प्रयोग, ४. मालिश के तैल, ५. उबटन, ६. स्नान के लिए पानी, ७. पहनने के वस्त्र, ८. विलेपन, ९. पुष्प, १०. आभूषण, ११. धूप, १२. पेय, १३. भक्ष्य-मिटाई, १४. ओदन—चावल, १५. सूप—दालें, १६. घृत, १७. शाक, १८. माधुरक—मधु पेय, १९. व्यंजन—दहीबड़े, पकोड़े आदि, २०. पीने का पानी, २१. मुखवास—पान तथा उसमें डाले जाने वाले सुगन्धित मसाले।

इन दस श्रमणोपासकों में आनन्द तथा महाशतक को अवधि-ज्ञान प्राप्त हुआ, जिसकी मर्यादा या विस्तार निम्नांकित रूप में था—

आनन्द —पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में लवण समुद्र में पांच-पांच सौ योजन तक, उत्तर दिशा में चुल्लहिमवान् वर्षधर पर्वत तक, ऊर्ध्व-दिशा में सौधर्म देवलोक तक, अधोदिशा में प्रथम नारक भूमि रत्नप्रभा में लोलुपाच्युत नामक स्थान तक।

महाशतक—पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में लवण-समुद्र में एक-एक हजार योजन तक, उत्तर दिशा में चुल्लहिमवान् वर्षधर पर्वत तक, अधोदिशा में प्रथम नारक भूमि रत्नप्रभा में लोलुपाच्युत नामक स्थान तक।[1]

प्रत्येक श्रमणोपासक ने ११-११ प्रतिमाएं स्वीकार की थीं, जो निम्नांकित हैं—

---

१. महाशतक के अवधिज्ञान के विस्तार का गाथा में उल्लेख नहीं है।

१. दर्शन-प्रतिमा, २. व्रत-प्रतिमा, ३. सामायिक-प्रतिमा, ४. पोषध-प्रतिमा, ५. कायोत्सर्ग-प्रतिमा, ६. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा, ७. सचित्ताहार-वर्जन-प्रतिमा, ८. स्वयं आरम्भ-वर्जन-प्रतिमा, ९. भृतक-प्रेष्यारम्भ-वर्जन-प्रतिमा, १०. उद्दिष्ट-भक्त-वर्जन-प्रतिमा, ११. श्रमणभूत-प्रतिमा।

इन सभी श्रमणोपासकों ने २०-२० वर्ष तक श्रावक-धर्म का पालन किया, अन्त में एक महीने की संलेखना तथा अनशन द्वारा देह-त्याग किया, सौधर्म देवलोक में चार-चार पल्योपम आयु के देवों के रूप में उत्पन्न हुए। देव भव के अनन्तर सभी महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगे, मोक्ष-लाभ करेंगे।

॥ उपाशकदशा समाप्त ॥

परिशिष्ट १ : शब्दसूची

परिशिष्ट २ : प्रयुक्त-ग्रन्थ-सूची

अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना आदि के सन्दर्भ में व्यवहृत
ग्रन्थों की सूची

अनुयोगद्वार सूत्र

अभिधानराजेन्द्र कोष

अष्ट प्राभृत : श्रीकुन्दकुन्दाचार्य

अष्टाङ्गहृदयम्, सटीकम्

[ऋषिकल्पश्रीवाग्भटप्रणीतम्, विद्वद्वरश्रीमदरुणदत्तकृता सर्वाङ्गसुन्दराख्या टीका, श्रीमदाचार्यमौद्गल्यकृता मौद्गल्यटिप्पणी च,
प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, पंजाब संस्कृत बुक डिपो, सैदमिट्ठा स्ट्रीट, लाहौर]
सन् १६३३ ई०

अंगसुत्ताणि ३,

[संपादक : मुनि श्री नथमलजी,
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं,
विक्रमाब्द २०३१]

अंगुत्तरनिकाय

आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन

खण्ड १ : इतिहास और परम्परा

[लेखक : मुनि श्री नगराजजी डी० लिट्०
प्रकाशक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१
प्रथम संस्करण : सन् १६६६ ई०]

आचारांग-चूर्णि

आवश्यक-निर्युक्ति

THE UTTARADHYAYANA SUTRA

[Translated from Prakrit by Hermann Jacobi
OXFORD, at the CLARENDON PRESS, 1895]

उत्तराध्ययनसूत्रम्, संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतम्, आत्मज्ञानप्रकाशिकाहिन्दीभाषाटीकासहितं च

[अनुवादक : जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज
प्रकाशक : जैन शास्त्रमाला कार्यालय, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर, वि० १६६६]

उपासकदशासूत्रम्
[संपादक : डॉ० ए० एफ० रुडोल्फ हार्नले
प्रकाशक : बंगाल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, प्रथम संस्करण : १८९० ई०]

उपासकदशासूत्र
[संपादक, अनुवादक : बालब्रह्मचारी पं० मुनि श्री अमोलक ऋषिजी महाराज
प्रकाशक : राजाबहादुर लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद-सिकंदराबाद जैन संघ, हैदराबाद (दक्षिण), वीराब्द २४४२-२४४६]

श्रीमद् उपासकदशांगम्, श्रीमद् अभयदेवाचार्यविहितविवरणयुतम्
प्रकाशक : आगमोदय समिति, महेसाणा, प्रथम संस्करण : १९२९ ई०]

उपासकदशांगसूत्रम्
संस्कृत-हिन्दी-गुजराती-टीकासमेतम्
[वृत्तिरचयिता : जैन शास्त्राचार्यपूज्य श्री घासीलालजी महाराज
प्रकाशक : श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संघ, कराची, प्रथम संस्करण : १९३६ ई०]

श्रीउपासकदशांगसूत्रम्
संस्कृतच्छाया-शब्दार्थ-भावार्थोपेतम्,
हिन्दीभाषाटीकासहितं च
[अनुवादक : जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर आचार्यश्री आत्मारामजी महाराज
प्रकाशक : आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम संस्करण : १९६४ ई०]

उपासकदशांग
[अनुवादक, संपादक : डॉ० जीवराज घेला भाई दोशी अहमदाबाद, देवनागरी लिपि, गुजराती भाषा]

श्री उपासकदशांगसूत्र
[अनुवादक : वी० घीसुलाल पितलिया
प्रकाशक : श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०) प्रथम संस्करण : विक्रम संवत् २०३४]

उववाई सूत्र
[संपादक, अनुवादक : बालब्रह्मचारी पं० मुनि श्री अमोलक ऋषिजी महाराज
प्रकाशक : राजाबहादुर लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद, सिकंदराबाद जैन संघ, हैदराबाद (दक्षिण) वीराब्द २४४२-२४४६]

श्री उववाई सूत्र, श्री अभयदेव सूरिकृत टीका तथा श्री अमृतचन्द्र सूरिकृत बालावबोध सहित
[प्रकाशक : श्रीयुक्त राय धनपतिसिंह बहादुर, जैन बुक सोसायटी, कलकत्ता]

उववाइय सूत्त
[अनुवादक : आत्मार्थी पं० मुनि श्री उमेशचन्द्रजी महारज 'अणु'
प्रकाशक : श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (मध्य प्रदेश),
प्रथम संस्करण : १९६३ ईसवी]

उवासगदशाओ
मूल अने श्री अभयदेवसूरि विरचित टीकाना अनुवाद सहित
[अनुवादक अने प्रकाशक : पं०भगवानदास हर्षचन्द्र, जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत
प्रथम संस्करण : विक्रम संवत् १९९२]
देवनागरी लिपि, गुजराती भाषा

कल्प सूत्र

कुमारसंभव महाकाव्य
[महाकवि कालिदास विरचित]

चरकसंहिता

छान्दोग्योपनिषद्

जयध्वज
[लेखक : गुलाबचन्द नानचन्द सेठ,
प्रकाशक : श्री जयध्वज प्रकाशन समिति, ९८ मिण्ट स्ट्रीट, मद्रास-१]

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र

जीवाभिगम सूत्र

जैन आगम
[लेखक : पं० श्री दलसुख मालवणिया
प्रकाशक : जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५]

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
[लेखक : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, सन् १९६५]

जैन दर्शन
[लेखक : प्रो० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य
प्रकाशक : श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला काशी, प्रथम संस्करण : सन् १९५५ ई०]

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व, पहला भाग

[लेखक : मुनि श्री नथमलजी
प्रकाशक : मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल ट्रस्ट, १/४ सी, खगेन्द्र चटर्जी रोड, काशीपुर, कलकत्ता-२, प्रथम संस्करण : वि० सं० २०१७]

जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग

[लेखक एवं निर्देशक : आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज,
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, जयपुर (राजस्थान)
प्रथम संस्करण : सन् १९७१ ई०]

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश

[क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक , भारतीय ज्ञानपीठ, ३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६,
प्रथम संस्करण : १९७०-७३]

तत्त्वार्थसूत्र : विवेचना सहित

[विवेचनकर्ता : पं० सुखलालजी संघवी
प्रकाशक : जैन संस्कृति संशोधन मण्डल,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू विश्वविद्यालय,
बनारस-५, द्वितीय संस्करण : १९५२ ई०]

तैत्तिरीयोपनिषद्

दशवैकालिक-वृत्ति

दीघनिकाय

[सुमंगलविलासिनी टीका]

धम्मपद

नायाधम्मकहाओ

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका

पंचतन्त्र

प्रज्ञापना सूत्र

प्रमाणनयतत्त्वालोक

प्रवचनसारोद्धार

पाइअसद्दमहण्णवो

पाणिनीय अष्टाध्यायी

पातंजल योगसूत्र

प्राकृत-सर्वस्व : मार्कण्डेय

प्राकृत साहित्य

(डॉ० हीरालाल जैन)

प्राकृत साहित्य का इतिहास
[लेखक : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रकाशक : चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१, सन् १९६१]

ब्रह्मवैवर्तपुराणम्, द्वितीयो भागः
[प्रकाशक : राधाकृष्ण मोर ५, क्लाइव रो, कलकत्ता, सन् १९५५ ई०]

भगवतीसूत्र

भगवती सूत्र : आचार्य अभयदेव सूरिकृत टीका

भावप्रकाश : भाव मिश्र

भाषा-विज्ञान
[लेखक : डॉ० भोलानाथ तिवारी
प्रकाशक : किताब महल, इलाहाबाद
तृतीय संस्करण : सन् १९६१ ई०]

मज्झिमनिकाय

मनुस्मृति

महाभारत : प्रथम खण्ड (आदि पर्व, सभा पर्व)
महाभारत : तृतीय खण्ड (उद्योग पर्व, भीष्म पर्व)
महाभारत : पञ्चम खण्ड (शान्ति पर्व)
[अनुवादक : पं० रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'
प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर

माधवनिदान

रघुवंशमहाकाव्य (महाकवि कालिदास विरचित)

शार्ङ्गधरसंहिता

शृङ्गारशतक : भर्तृहरि

सकडालपुत्र : श्रावक
[व्याख्याता : श्रीं मज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज
प्रकाशक : पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज के सम्प्रदाय का श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम, तृतीय संस्करण : विक्रम संवत् २००५]

समवायाङ्ग : सानुवाद, सपरिशिष्ट
[संपादक : कन्हैयालालजी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, पोस्ट बॉक्स नं० ११४१ दिल्ली-७,
प्रथम संस्करण : सन् १९६६ ई०]

संक्षिप्त प्रसार : क्रमदीश्वर

संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर

[संपादक : रामचन्द्र वर्मा
प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी षष्ठ संस्करण : सन् १९५८ ईसवी]

संयुत्तनिकाय

SANSKRIT ENGLISH DICTIONARY

[Sir Monier Monier-Williams, M. A., K.C.I.E., OXFORD, at the CLARENDON PRESS]

SANSKRIT ENGLISH DICTIONARY

[Vaman Shivram Apte, M. A.]

संस्कृत-प्राकृत जैन व्याकरण और कोश की परम्परा

[संपादक : मुनि श्री दुलहराजजी, डॉ० छगनलालजी शास्त्री, डॉ० प्रेमसुमन जैन
प्रकाशक : श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह समिति, छापर (राजस्थान), सन् १९७७ ई०]

संस्कृत-हिन्दी कोश

[लेखक : वामन शिवराम आप्टे
प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७, सन् १९६६ ई०]

सांख्यतत्त्वकौमुदी

सिद्धहेमशब्दानुशासन

सुत्तनिपात

सुश्रुतसंहिता

[महर्षिणा सुश्रुतेन विरचिता, श्री डल्हणाचार्यविरचितया निबन्धसंग्रहाख्यव्याख्यया, निदानस्थानस्य श्री गयदासाचार्यविरचितया न्यायचन्द्रिकाख्यपञ्जिकाव्याख्यया च समुल्लसिता
प्रकाशक : पाण्डुरङ्ग जावजी, निर्णयसागर मुद्रणालय, २६-२८ कालबा देवी स्ट्रीट, बम्बई-२, शक संवत् १८६०]

सूत्रकृतांगसूत्र

सूत्रकृतांग वृत्ति



नोट—व्यवहृत ग्रन्थों में केवल उन्हीं के संपादन, प्रकाशन आदि का विवरण दिया गया है, जो आवश्यक प्रतीत हुआ ।

—संपादक

श्री आगम प्रकाशन समिति के सदस्यों की नामावली

महास्तम्भ

१. पद्मश्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया मद्रास
२. श्री सायरमल जी जेठमलजी चोरड़िया बैंगलोर
३. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया मद्रास
४. श्री गुमानमलजी चोरड़िया मद्रास
५. श्री कँवरलालजी वेताला गौहाटी
६. श्री पुखराजजी शीशोदिया ब्यावर
७. श्री प्रेमराजजी भँवरलालजी श्री श्रीमाल दुर्ग
८. श्री गुलावचन्दजी मांगीलालजी सुराणा बुलारम

स्तम्भ

१. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती जोधपुर
२. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख जोधपुर
३. श्री पूषालालजी किस्तूरचन्दजी सुराणा बालाघाट
४. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया कटंगी
५. श्री तिलोकचन्दजी सागरमलजी संचेती मद्रास
६. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया मद्रास
७. श्री खींवराजजी चोरड़िया मद्रास
८. श्री हीराचन्दजी चोरड़िया मद्रास
९. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया मद्रास
१०. श्री वर्द्धमान इन्डस्ट्रीज कानपुर
११. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया मद्रास
१२. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया मद्रास
१३. श्री एस. रिखवचन्दजी चोरड़िया मद्रास
१४. श्री एस. परसनचन्दजी चोरड़िया मद्रास
१५. श्री अन्नराजजी चोरड़िया मद्रास
१६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया मद्रास
१७. श्री मिश्रीलालजी तिलोकचन्दजी संचेती दुर्ग

संरक्षक

१. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा ब्यावर
२. श्री दीपचन्दजी चन्दनमलजी चोरड़िया मद्रास
३. श्री ज्ञानराजजी मूथा पाली
४. श्री खूबचन्दजी गादिया ब्यावर
५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी ब्यावर
६. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी वोथरा चांगाटोला
७. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया ब्यावर
८. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता मेड़ता
९. श्री जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला बागलकोट
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा जाडन
११. श्री केशरीमलजी जँवरीलालजी तालेरा पाली
१२. श्री नेमीचन्दजी मोहनलालजी ललवाणी चांगाटोला
१३. श्री बिरदीचन्दजी प्रकाशचन्दजी तलेसरा पाली
१४. श्री सिरे कँवर बाई W/o स्व. श्री सुगनचन्दजी झामड़ मदुरान्तकम्
१५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा अजमेर
१६. श्री थानचन्दजी मेहता जोधपुर
१७. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती जोधपुर
१८. श्री लालचन्दजी मोहनलालजी कोठारी गोठण

१९. श्री भैरूंदानजी लाभचन्दजी सुराणा नागौर
२०. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया बालाघाट
२१. श्री सागरमलजी नौरतमलजी पींचा मद्रास
२२. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा झूंठा
२३. श्री मोहनराजजी बालिया अहमदाबाद
२४. श्री चेनराजजी सुराणा मद्रास
२५. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया नागौर
२६. श्री बादलचन्दजी मेहता इन्दौर
२७. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला इन्दौर
२८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया इन्दौर
२९. श्री इन्दरचन्दजी वेद राजनांदगाँव
३०. श्री मांगीलालजी धर्मीचन्दजी चोरड़िया चांगाटोला
३१. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढ़ा चांगाटोला
३२. श्री भँवरलालजी मूलचन्दजी सुराणा मद्रास
३३. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी वेद चांगाटोला
३४. श्री जालमचन्दजी रिखबचन्दजी बाफणा आगरा
३५. श्री भंवरीलालजी चोरड़िया मद्रास
३६. श्री चाँदमलजी धनराजजी मोदी अजमेर
३७. श्री घेवरचन्दजी पुखराजजी गौहाटी
३८. श्री माँगीलालजी चोरड़िया आगरा
३९. श्री भंवरलालजी गोठी मद्रास
४०. श्री गुणचन्दजी दलीचन्दजी कटारिया बेल्लारी
४१. श्री अमरचन्दजी बोथरा मद्रास
४२. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी मद्रास
४३. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा डोंडीलोहारा
४४. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया बैंगलोर

सहयोगी सदस्य

१. श्री पूनमचन्द जी नाहटा जोधपुर
२. श्री अमरचन्द जी बालचन्द जी मोदी ब्यावर
३. श्री चम्पालाल जी मीठालाल जी सकलेचा जालना
४. श्री छगनी बाई विनायकिया ब्यावर
५. श्री भंवरलाल जी चोपड़ा ब्यावर
६. श्री रतनलाल जी चतर ब्यावर
७. श्री जंवरीलाल जी अमरचन्द जी कोठारी ब्यावर
८. श्री बादरमल जी पुखराज जी बंट कानपुर
९. श्री मोहनलाल जी गुलाबचन्द जी चतर ब्यावर
१०. श्री के. पुखराज जी बाफणा मद्रास
११. श्री पुखराज जी बोहरा पीपलिया
१२. श्री चम्पालाल जी बुधराज जी बाफणा ब्यावर
१३. श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया चण्डावल
१४. श्री मांगीलाल जी प्रकाशचन्द जी रूणवाल बर
१५. श्री मोहनलाल जी मंगलचन्द जी पगारिया रायपुर
१६. श्री भंवरलाल जी गौतमचन्द जी पगारिया कुशालपुरा
१७. श्री दूलेराज जी भंवरलाल जी कोठारी कुशालपुरा
१८. श्री फूलचन्द जी गौतमचन्द जी काठेड़ पाली
१९. श्री भंवरलाल जी मांगीलाल जी बेताला डेह
२०. श्री रूपराज जी जोधराज जी मूथा पाली
२१. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा पाली
२२. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी मेड़ता
२३. श्री माणकराज जी किशनराज जी मेड़ता

२४, श्री अमृतराज जी जसवन्तराज जी मेहता — मेड़ता
२५. श्री बी. गजराज जी बोकडिया — संलेम
२६. श्री भंवरलाल जी विजयराज जी कांकरिया — विल्लिपुरम
२७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया — जोधपुर
२८. श्री हरकराज जी मेहता — जोधपुर
२९. श्री सुमेरमल जी मेड़तिया — जोधपुर
३०. श्री घेवरचन्दजी पारसमल जी टाटिया — जोधपुर
३१. श्री गणेशमल जी नेमीचन्द जी टाटिया — जोधपुर
३२. श्री चम्पालाल जी हीरालाल जी बागरेचा — जोधपुर
३३. श्री मोहनलाल जी चम्पालालजी गोटी — जोधपुर
३४. श्री जसराज जी जंवरीलालजी धारीवाल — जोधपुर
३५. श्री मूलचन्द जी पारख — जोधपुर
३६. श्री आसुलाल एण्ड कम्पनी — जोधपुर
३७. श्री देवराज जी लाभचन्द जी मेड़तिया — जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्द जी किशोरमल जी पारख — जोधपुर
३९. श्री पुखराज जी बोहरा (जैन ट्रांसपोर्ट कं.) — जोधपुर
४०. श्री बछराज जी सुराणा — जोधपुर
४१. श्री लालचन्द जी सिरेमल जी — जोधपुर
४२. श्री ताराचन्द जी केवलचन्द जी कर्नावट — जोधपुर
४३. श्री मिश्रीमल जी लिखमीचन्द जी सांड — जोधपुर
४४. श्री उत्तमचन्द जी मांगीलाल जी — जोधपुर
४५. श्री मांगीलाल जी रेखचन्दजी पारख — जोधपुर
४६. श्री उदेराज जी पुखराज जी संचेती — जोधपुर
४७. श्री सरदारमल जी एण्ड कम्पनी — जोधपुर
४८. श्री रायचन्द जी मोहनलाल जी — जोधपुर
४९. श्री नेमीचन्द जी डाकलिया — जोधपुर
५०. श्री घेवरचन्द जी रूपराज जी — जोधपुर
५१. श्री मुन्नीलाल जी मूलचन्द जी गुलेछा — जोधपुर
५२. श्री सुन्दर बाई गोठी — महामन्दिर
५३. मांगीलाल जी चोरड़िया — कुचेरा
५४. श्री पुखराज जी लोढा — महामन्दिर
५५. श्री इन्दरचन्द जी मुकनचन्द जी — इन्दौर
५६. श्री भंवरलाल जी बाफणा — इन्दौर
५७. श्री जेठमलजी मोदी — इन्दौर
५८. श्री स्व. भीकमचन्दजी गणेशमल जी चौधरी — धूलिया
५९. श्री सुगनचन्द जी संचेती — राजनांदगांव
६०. श्री विजयलाल जी प्रेमचन्दजी गोलेछा — राजनांदगांव
६१. श्री घीसूलाल जी लालचन्द जी पारख — दुर्ग
६२. श्री आशकरण जी जसराज जी पारख — दुर्ग
६३. श्री ओखचन्द जी हेमराज जी सोनी — दुर्ग
६४. श्री भंवरलाल जी मूथा — जयपुर
६५. श्री सरदारमल जी सुराणा — भिलाई
६६. श्री ठाकुरदास जी अशोककुमार जी पींचा — कटंगी
६७. श्री भंवरलाल जी डूंगरमल जी कांकरिया — भिलाई ३
६८. श्री गणेशमल जी हेमराज जी सोनी — भिलाई ३
६९. श्री रावतमल जी छाजेड़ — भिलाई ३
७० श्री हीरालाल जी हस्तीमल जी — भिलाई ३
७१ श्री पुखराजजी छल्लाणी — करणगुड्डी
७२. श्री प्रेमराज जी मीठालाल जी कामदार — चांवडिया
७३. श्री भंवरलाल जी माणकचन्द जी सुराणा — मद्रास
७४. श्री भंवरलाल जी नवरतनमल जी सांखला — मेटूपालियम

७५. श्री सूरजकरण जी सुराणा लाम्बा
७६. श्री रतनलाल जी लखपतराज जी जोधपुर (महामंदिर)
७७. श्री हरकचन्द जी जुगराज जी वाफणा बैंगलोर
७८. श्री लालचन्द जी मोतीलाल जी गादिया बैंगलोर
७९. श्री सम्पतराज जी कटारिया जोधपुर
८०. श्री पुखराज जी कटारिया जोधपुर
८१. श्री चिमनसिंह जी मोहनसिंह जी लोढ़ा ब्यावर
८२. श्री अखेचन्द जी भंडारी कलकत्ता
८३. श्री बालचन्द जी थानमल जी भुरट कुचेरा
८४, श्री चन्दनमल जी प्रेमचन्द जी मोदी भिलाई
८५. श्री तिलोकचन्द जी प्रेमप्रकाश जी अजमेर
८६. श्री सोहनलाल जी सोजतिया थांवला
८७. श्री जीवराज जी भंवरलाल जी भैरूंदा
८८. श्री मांगीलाल जी मदनलालजी भैरूंदा
८९. श्री भीवराज जो बागमार कुचेरा
९०. श्री जीवराज जी पारसमल जी कोठारी मेड़ता सिटी
९१. श्री गंगाराम जी इन्दरचन्द जी बोहरा कुचेरा
९२. श्री फकीरचन्द जी कमलचन्द जी श्रीश्रीमाल कुचेरा
९३. श्री सोहनलाल जी लूणकरण जी सुराणा कुचेरा
९४. श्री प्रकाशचन्दजी जैन नागौर
९५. श्री भंवरलाल जी रिखबचन्दजी नाहटा नागौर
९६. श्री गूदड़मलजी चम्पालाल जी गोठन
९७. श्री पारसमल जी महावीरचन्द जी बाफणा गोठन
९८. श्री गीसूलाल जी पारसमल जी जंवरीलाल जी कोठारी गोठन
९९. श्री मोहनलाल जी धारीवाल C/o श्री मूलचन्दजी मुणोत ब्यावर
१००. श्री कानमलजी कोठारी दादिया
१०१. श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ दल्ली राजहरा
१०२. श्री जंवरीलालजी शान्तिलालजी सुराणा बुलारम
१०३. श्री फतेहराजजी नेमीचन्द जी कर्णावट कलकत्ता
१०४. श्री रिद्धकरण जी रावतमल भुरट गौहाटी
१०५. श्री जुगराज जी बरमेचा मद्रास
१०६. श्री कुशालचन्दजी रिखबचन्द जी सुराणा बुलारम
१०७. श्री माणकचन्द जी रतनलाल जी मुणोत नागौर
१०८. श्री सम्पतराज जी चोरड़िया मद्रास
१०९. श्री कुन्दनमल जी पारसमल जी भंडारी बैंगलोर
११०. श्री रामप्रसन्न ज्ञान प्रसार केन्द्र चन्द्रपुर
१११. श्री तेजरामजी कोठारी मांगलियावास
११२. श्री अमरचन्दजी चम्पालालजी छाजेड़ पादुबड़ी
११३. श्री मांगीलालजी शान्तिलालजी रुणवाल हरसोलाव
११४. श्री कमला कंवरलालजी धर्म. स्व. श्री पारसमलजी ललवाणी गोठन
११५. श्री लक्ष्मीचन्दजी अशोककुमारजी श्री श्रीमाल कुचेरा

